माध्यम

वर्ष १ : अंक ५
सितंबर १९६४

संपादक - बालकृष्ण राव

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

वर्ष १ : अंक ५
निमित्तमात्रं भव
सितंबर १९६४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविताएँ

कहानी, संस्मरण आदि

सहवर्ती साहित्य

माध्यम

का छठा अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'सहवर्ती साहित्य' स्तंभ में गुजराती की चुनी हुई रचनाएँ।
- विवेचना तथा समीक्षाएँ।
- डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का ललित निबंध।
- अमरकांत की कहानी।
- केदारनाथ अग्रवाल और दुष्यंत कुमार की कविताएँ।

विवेचना

प्रतिपत्तिका

●●

आवरण चित्र : जे० सुल्तान अली

रसाभास

नगेन्द्र

रसाभास भारतीय रसशास्त्र का अत्यंत रोचक प्रसंग है। रसभंग और रसविरोध की भाँति ही भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, किंतु प्रत्येक रस के विभावादि के विस्तृत विवेचन से यह अवश्य व्यंजित हो जाता है कि उनमें व्यतिक्रम के लिए अवकाश नहीं है : आलंबनादि के विषय में दोष आ जाने से रस के बाधित होने की आशंका रहती है। भरत के परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने तो रस को ही अत्यंत गौण स्थान दिया था, अतः रसाभास का प्रश्न ही उनके सामने नहीं आया। केवल उद्भट के ऊर्जस्वि अलंकार में रसाभास का थोड़ा-सा संकेत मिल सकता है : जहाँ किसी रस या भाव की अनुचित प्रवृत्ति हो अर्थात उसका प्रकाशन सत्य या मर्यादा का अतिक्रमण कर जाय, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार की कल्पना की गयी है:—

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।।

(का० सा० सं०, पृ० ५९)

उद्भट के पश्चात ध्वनिवादी आनंदवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण घोषित कर रसाभास के विषय में कदाचित सर्वप्रथम प्रामाणिक संकेत दिया:—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्मांगिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।।२।३।।
अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रहस्योपनिषत् परा।।

(ध्वन्यालोक, ज्ञानमंडल, पृ० १९०)

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का

अनुसरण ही रस का परम रहस्य है--अर्थात भरतादि के द्वारा निरूपित विभावादि का यथोचित निबंधन रस का साधक और उसके विपरीत व्यवहार--अनुचित विभावादि का नियोजन, रस का बाधक होता है। रसभंग और रसविरोध के इसी विवेचन के आधार पर आगे चल कर रसाभास की प्रकल्पना की गयी।

रसाभास का अर्थ और लक्षण

आभास का अर्थ है 'प्रतिबिंब आदि के समान अवास्तव स्वरूप--**'प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्।'**[१] जिस प्रकार सीपी में रजत का आभास हो जाता है **'शुक्तौ रूप्याभासवत्'**[२] इसी प्रकार रसाभास में भी रस की वास्तविक या शुद्ध प्रतीति के स्थान पर उसका आभास मात्र रहता है। रसाभास के कतिपय प्राप्त लक्षण इस प्रकार हैं :

अभिनवगुप्त--औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः[३] अर्थात औचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद रस है और व्यभिचारी भाव का आस्वाद **'भाव'** कहलाता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी का आस्वाद **'रसाभास'** और व्यभिचारी का **'भावाभास'** कहलाता है। सारांश यह है कि अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद ही **'रसाभास'** है।

मम्मट--तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः[४]--उन रस तथा भाव का अनुचित प्रवर्तन ही **'रसाभास'** तथा **'भावाभास'** है।

जगन्नाथ--अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।[५]--जहाँ रस का आलंबन विभाव-अनुचित हो वहाँ उसे रसाभास कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है। रस की अनुचित प्रवृत्ति का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान विभाव पक्ष पर बल देते हैं, उनके अनुसार रत्यादि स्थायी भावों के अनुचित विषय में प्रवृत्त अथवा अनुचित आलंबन के प्रति उन्मुख होने पर 'रसाभास' होता है; यहाँ

---

[१] **शब्दकल्पद्रुम।**
[२] **हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१८।**
[३] **ध्वन्यालोक प्रथम उ० (डॉ० रामसागर त्रिपाठी); ० १४५।**
[४] **काव्यप्रकाश (ज्ञानमंडल); पृ० १४१।**
[५] **रसगंगाधर (चौ०) प्रथम आनन; पृ० ३२५।**

अनौचित्य का संबंध विभाव पक्ष के साथ है। विद्वानों का दूसरा वर्ग अनौचित्य का संबंध स्थायी भाव के साथ मानता है—अर्थात स्थायी भाव जहाँ अनुचित रीति से प्रवृत्त होता है वहाँ रसाभास होता है। वास्तव में दोनों मंतव्यों में कोई मौलिक भेद नहीं है। यह तो ठीक ही है कि रस के प्रपंच का आधार स्थायी भाव ही है, उसी की निर्विघ्न चर्वणा रस है। अतः अनौचित्य का संबंध अंततः उसी के साथ मानना पड़ेगा क्योंकि उसी की चर्वणा में अनौचित्य की बाधा उपस्थित हो जाने से रस रसाभास में परिणत हो जाता है। फिर भी, विभावादि का अनौचित्य भी प्रस्तुत प्रसंग में अत्यंत सार्थक है क्योंकि भाव की उचित-अनुचित प्रवृत्ति का निर्णय प्रायः उसके विषय के ही औचित्यानौचित्य से तो होता है। यह तर्क अपने आप में अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि गुरुपत्नी-विषयक रति आदि के विषय में ही अनुचितविभावत्व सिद्ध होता है, अनुभयनिष्ठ अथवा बहुनिष्ठ रति के संबंध में नहीं क्योंकि बहुनायक-रति में तो रति की ही प्रवृत्ति अनुचित है। वास्तव में इस तर्क का आधार यह है कि रति में निष्ठा आवश्यक है अतः नैतिक दृष्टि से वह एकनिष्ठ ही होनी चाहिए। बहुनायक-रति में दोष यही है कि एक के अतिरिक्त अन्य भी उसके आलंबन हैं : आलंबन का अनौचित्य यहाँ भी है। इस प्रकार विभाव के अनौचित्य और भाव के अनौचित्य में इतना स्पष्ट तथा प्रामाणिक भेद नहीं है कि उसके कारण लक्षण में ही संशोधन करने की आवश्यकता पड़े। अभिनवगुप्त इस रहस्य से सर्वथा अवगत थे; अतः आभास की स्थिति उन्होंने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी में मानते हुए भी, अंत में स्थायी भाव में, और परिणामतः रस में मानी है : **यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृंगाररसाभासः**—क्योंकि विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न हो कर) जो केवल चर्वणाभास होता है वह शृंगाराभास कहलाता है।[६] अपने मंतव्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनव लिखते हैं, **"उस (शृंगाराभास की चर्वणा) में रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो कि स्थायिभाव नहीं अपितु व्यभिचारिभाव मात्र होती है। किंतु उस (शृंगाराभास का अनुभव करने वाले) को स्थायिभाव के समान-सी प्रतीति होती है। उसी (रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूप रति) के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं। इसीलिए (परस्त्री अथवा अननुरक्त स्त्री आदि विषयक) रति स्थाय्याभास (रूप में उपस्थित होती) है। (उदाहरणार्थ रावण सीता को चाहता है। यह रावण की सीता विषयक रति वास्तविक रति नहीं, अपितु रत्याभास मात्र है।) क्योंकि सीता रावण के प्रति द्वेषयुक्त अथवा उपेक्षायुक्त है (रागवती नहीं है)। इसीलिए वह (रावण के) हृदय का आलिंगन नहीं करती है। यदि उस (रावण के हृदय) का स्पर्श करे तो उसका (पातिव्रत्य धर्म का) अभिमान ही विलीन हो जाय। (रावण जो यह समझता है कि) यह मेरे प्रति अनुरक्त है यह निश्चय केवल काम-जन्य मोह मात्र रूप होने से (रसोत्पत्ति में) अनुपयुक्त और शुक्ति में रजताभास के समान (भ्रममात्र) है।"**[७]

---

[६] हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१८।

[७] हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१८।

उपर्युक्त उद्धरण से दो उपयोगी तथ्य सामने आते हैं : (१) आभास का अर्थ है मिथ्या या अवास्तविक प्रतीति : उचित विषय में भाव की प्रतीति वास्तविक होती है और अनुचित विषय में अवास्तविक या आभास रूप। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में आभास का अनौचित्य के साथ प्रत्यक्ष संबंध हो जाता है—आभास = अवास्तविक प्रतीति = अनुचित विषय में प्रवत्ति-जन्य प्रतीति। (२) स्थायी भाव की अनुचित प्रवृत्ति से, जो स्थायी की वास्तविक प्रतीति न हो कर उसका आभास मात्र होती है, रस की संपूर्ण सामग्री में ही अनौचित्य या आभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है : आलंबन वास्तविक न हो कर आलंबन-सा प्रतीत होता है, अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी वास्तविक नहीं होते, वास्तविक-से प्रतीत होते हैं।

अब एक शब्द रह जाता है अनौचित्य जिसकी व्याख्या शेष है। अन् उपसर्ग, 'अभाव' और 'विपरीत भाव' दोनों का वाचक है, अतः अनौचित्य का अर्थ होता है 'औचित्य का अभाव' या 'औचित्य का विपरीत रूप।' औचित्य की निरुक्ति क्षेमेंद्र ने इस प्रकार की है :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते, तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति––अर्थात जो जिसके अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं और उसके भाव को औचित्य।[८] इस दृष्टि से अनुरूपता औचित्य का आधार है—और उसका अभाव या विरोध अनौचित्य का। यह अनुरूपता अनेक प्रकार की हो सकती है और परिणामतः उसके अभाव या विरोध के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। पंडितराज ने अनौचित्य का अत्यंत स्पष्ट और प्रामाणिक विवेचन करते हुए लिखा है : **तच्च जातिदेशकाल-वर्णाश्रमवयोऽवस्थाप्रकृतिव्यवहारादे : प्रपंचजातस्य तस्य तस्य, यल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुणक्रियादि तद्भेदः**––अनुचित होने का तात्पर्य्य यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रय, वय, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध, उचित द्रव्य, मुख्य अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।[९] इस उद्धरण के अनुसार अनौचित्य का मूल आधार है लोक और शास्त्र का विरोध––'लोक' में (लोक-) स्वभाव और (लोक-)व्यवहार दोनों का अंतर्भाव है और शास्त्र का अर्थ है नीतिशास्त्र अथवा ऐसे नियमों की संहिता जो जीवन में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करती है। वास्तव में लोक और शास्त्र का आशय है प्रकृति और नीति जिनका अनुसरण काव्य के लिए पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में भी आरंभ से ही यथावत मान्य रहा है। प्रकृति या लोक का अर्थ है जैसा सामान्यतः जीवन या संसार में होता है और नीति या शास्त्र का अर्थ है जैसा होना चाहिए। लोक और शास्त्र की कल्पना प्रायः परस्पर सहायक तत्वों के रूप में ही की गयी है ––क्या होता है, इसी के आधार पर नीतिकार

---

[८] **औचित्यविचारचर्चा––कारिका ७ और वृत्ति।**
[९] **रसगंगाधर (चौखंबा वि० भ०) प्रथम आनन; पृ० १९५।**

यह निर्णय करते हैं कि क्या होना चाहिए; इसी प्रकार युगयुग से नीति-नियमों द्वारा परिचालित मानव-जीवन का व्यवहार भी स्वभावतः बहुत-कुछ नैतिक हो जाता है। अतः भारतीय वाङमय में लोक और शास्त्र का प्रयोग प्रायः एक साथ होता आया है : **"लोक-रीति, विधि वेद की करि कह्यो सुबानी"—(तुलसीदास; गीतावली १।६)**

परंतु कभी-कभी दोनों में तीव्र संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है : नीति-नियम रूढ़ एवं अप्रभावी हो जाते हैं, नीति-नियमों की शृंखलाओं से जकड़ी प्रकृति उनके विरुद्ध प्रबल विद्रोह कर उठती है और फिर जीवन की नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल नीति-परिवर्तन होता है। इस प्रकार प्रकृति और नीति के द्वंद्व से जीवन का विकास होता है—प्रकृति को नीति से संयम और नीति को प्रकृति से गति प्राप्त होती है। भारतीय रस-सिद्धांत दोनों के इस समन्वित रूप को स्वीकार कर चलता है और दोनों के विरोध को काव्यास्वाद में बाधक मानता है। रसाभास-कल्पना का आधार यही है और यह कल्पना रस-सिद्धांत को स्थायी नैतिक मूल्यों की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रस-प्रक्रिया में अनैतिकता, अस्वाभाविकता, अव्यावहारिकता आदि का समावेश हो जाने पर या अपूर्णता रह जाने पर बाधित अथवा अपूर्ण रसानुभूति रसाभास बन जाती है। अनौचित्य के इन विविध रूपों का संबंध प्रायः भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष दोनों से ही होता है, किंतु अंत में अर्थात आस्वाद की स्थिति में स्वभावतः भाव-पक्ष का अनौचित्य ही प्रमुख हो जाता है।

रसाभास और रस

प्रायः सभी आचार्यों ने रसाभास को रस के अंतर्गत ही माना है। आनंदवर्द्धन ने रस और भाव की तरह रसाभास और भावाभास को भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अथवा रस-ध्वनि के भेद माना है और परवर्ती आचार्यों ने उनका यथावत अनुसरण किया है:

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥

अर्थात रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं।[१०] परंतु कतिपय विचारकों ने इस पर आपत्ति की है। उनका तर्क यह है कि जब रस स्वरूपतः पूर्ण और निर्मल होता है तब रसाभास रसत्व का अधिकारी कैसे हो सकता है? और इसका प्रमाण वे न्याय-दर्शन से देते हैं—जहाँ हेत्वाभास हेतु नहीं होता। परंतु रसाभास के समर्थक इसका उत्तर अपने ढंग से उतने ही विश्वास के साथ देते

---

[१०] **साहित्यदर्पण, विमला टीका; पृ० १२४।**

हैं : **नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपितु सदोषत्वादाभासव्यवहारः अश्वाभासादिव्यवहारवत्**—अर्थात रस में दोष आ जाने से आत्महानि (स्वरूप-नाश) नहीं होती, केवल दोष की सूचना देने के लिए उन्हें आभास कहते हैं, जैसे दोषयुक्त अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं, पर रहता है वह अश्व ही।[११] जैसा कि अभी स्पष्ट किया है आभास का अर्थ है अवास्तव प्रतीति—शुक्ति में रजत का आभास रजत की अवास्तव प्रतीति है, इसमें संदेह नहीं; किंतु अवास्तविकता का ज्ञान तब होता है जब प्रतीति नष्ट हो जाती है—शुक्ति में जब तक रजत की प्रतीति होती है तब तक अवास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार रसाभास में अनौचित्य का ज्ञान बाद में होता है, रस की प्रतीति पहले हो जाती है : जब तक प्रतीति रहती है तब तक अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता, और जब अनौचित्य का ज्ञान हो जाता है तभी प्रतीति बाधित होती है। अतः रसाभास रस के अंतर्गत ही आता है, इसमें विकल्प के लिए अवकाश नहीं है—और भारतीय रसशास्त्र का परंपरागत सिद्धांत ही मान्य है।

अभिनवगुप्त का मत

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने एक रोचक उद्‌भावना की है। उनका मत है कि प्रत्येक रस का आभास अंततः हास्य में परिणत हो जाता है क्योंकि आभास एक प्रकार से विकृत रूप ही होता है और विकृति हास्य का मूल आधार है। अनुचित विषय में स्थायी भाव की प्रवृत्ति अथवा स्थायी भाव की अनुचित प्रवृत्ति उसकी विकृति ही तो है, अतः उससे प्रमाता के चित्त में अनुकूल भाव की उद्‌बुद्धि न हो कर हास्य की ही उद्‌बुद्धि होती है। किंतु यह रसास्वादन प्रक्रिया के अंतर्गत दूसरा अवस्थान है—हास्य की अनुभूति अनौचित्य का ज्ञान होने पर ही होती है; उससे पूर्व शृंगारादि रसों की अस्थायी प्रतीति हो लेती है। इस प्रकार आरंभ में सहृदय शृंगाराभास आदि का अनुभव करता है और परिणति में हास्य रस का। उदाहरण के लिए सीता के प्रति रावण का यह उद्‌गार द्रष्टव्य है :

दूर से ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमंत्र के समान उस (सीता) के नाम को सुनते ही चित्त एक क्षण के लिए भी उसके बिना रह सकने में असमर्थ हो जाता है। (किंतु) व्याकुल और बेचैन, मेरे इन कामसंतप्त अंगों के द्वारा उसकी प्राप्ति (आलिंगन) का सुख कैसे प्राप्त हो, यह ठीक तरह से समझ में नहीं आता है।

—रावण के वाक्य में प्रारंभ में रत्याभास ही प्रतीत होता है, हास नहीं (प्रतीत होता है)। फिर भी (रावण का सीता के प्रति यह अनुराग-प्रदर्शन) सीता (रूप आलंबन) विभाव के (विपरीत), रावण की आयु के और प्रकृति के विरुद्ध (प्रकट होने वाले) चिंता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारिगण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव समुदाय अनुचित होने से तदाभासात्मक हो कर हास्य के विभाव रूप बन जाते हैं। जैसा कि आगे 'दूसरों के विकृत वेष अलंकारादि के होने पर' (हास्य-रस होता है) यह कहेंगे।

---

[११] **रसगंगाधर (चौखंबा वि० भ०) प्रथम आनन; पृ० ३३७।**

इस (उदाहरण) से करुणाभास आदि सभी (रसाभासों) में हास्यत्व समझना चाहिए। क्योंकि अनुचित प्रवृत्ति के कारण ही (कोई व्यक्ति) हास्य का विभाव बनता है। और वह अनौचित्य सभी रसों के विभाव, अनुभाव आदि में हो सकता है।[१२]

रसाभास के भेद

प्रत्येक रस का आभास हो सकता है, अतः रसभेदों के अनुसार ही रसाभास के भी भेद होते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में भी शृंगार के महत्व के अनुरूप ही आचार्यों ने शृंगाराभास का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया है :

> **उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।**
> **बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥**

यदि नायिका की रीति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ़ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है।[१३]

यहाँ उपनायक-रति और मुनिगुरुपत्नी के प्रति रति नैतिक दृष्टि से अनुचित है, बहुनायक-रति कदाचित प्रकृति और रीति—लोक और शास्त्र—दोनों के विरुद्ध है क्योंकि रति स्वभावतः एकनिष्ठ ही होती है अनेकनिष्ठता से रति का स्वरूप दूषित हो जाता है। सामान्यतः तो काव्य में इन नीति-नियमों का पालन हुआ है, पर अनेक कवियों ने इनके प्रति विद्रोह भी किया है और कभी-कभी एक कवि नहीं संपूर्ण युग ही नीति के नियमों के विरुद्ध क्रांति कर उठा है। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब परकीया-भाव भक्ति का प्राण-तत्व एवं पवित्रता का मानदंड बन गया। हिंदी के रीतिकाव्य में परकीया-भाव तथा बहुवल्लभत्व का प्राचुर्य रहा, यद्यपि किसी भी कवि ने सिद्धांत रूप में उसका समर्थन नहीं किया। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में धर्मशास्त्र के अनुसरण पर बहुनायक-रति और बहुनायिका-रति में भेद किया गया है जो नीति-सम्मत होते हुए भी न्याय-सम्मत नहीं है और इसीलिए उसे सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती। समय-समय पर इस प्रकार की नैतिकता का विरोध हुआ है और वर्तमान युग में तो यह विद्रोह और भी मुखर हो गया है।

सामाजिक क्रांति के आदर्शों से प्रेरित हो कर कहीं तो विद्रोह का स्वर अत्यंत उग्र हो जाता है : माइकेल मधुसूदन दत्त ने गुरुपत्नी तारा और चंद्रमा के प्रणय-संबंध को रसमय बनाने का प्रयास किया है : हिंदी में भगवतीचरण वर्मा की 'तारा' कविता का आधार यही प्रणय-संबंध है।[१४]

---

[१२] हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१९।
[१३] रसगंगाधर (चौ० वि०) प्रथम आनन; पृ० ३४१।
[१४] 'वीरांगना—तारा का पत्र सोम के प्रति'; 'मधुकण'—'तारा' गीतिनाट्य।

२

प्रश्न है कि क्या उन कविताओं में रस के स्थान पर रसाभास मानना पड़ेगा? शास्त्र के अनुसार तो इनमें रसाभास है ही, फिर भी दोनों कवियों ने अनौचित्य के निवारण का प्रयास किया है, इसमें भी संदेह नहीं। माइकेल विषम विवाह के अनौचित्य की स्थापना और समान-वय-रूप के नर-नारी की प्रकृत प्रणय-भावना के औचित्य की सिद्धि कर रस-बाधा का निवारण करते हैं। भगवती-चरण वर्मा श्रृंगार-प्रसंग को माध्यम बना कर नारी के मन की पीड़ा को मुखर करते हैं। अनुभय-निष्ठ या एकांगी रति का विषय और भी अधिक विवादास्पद है। उसे यदि एकदम रसाभास मान लिया जाय तो भारतेतर देशों के––विशेषकर फ़ारसी, उर्दू जैसी भाषाओं के––समृद्ध काव्य का पर्याप्त अंश रसाभास के अंतर्गत माना जायगा। अनुभयनिष्ठ रति के विपक्ष और पक्ष दोनों में तर्क दिये जा सकते हैं। विपक्ष में कुछ तर्क ये हो सकते हैं: (१) यदि आलंबन आश्रय की रति का प्रत्युत्तर नहीं देता तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह इस प्रकार के प्रणय-निवेदन को किसी न किसी आधार पर अनुचित मानता है––अतः रति में अनौचित्य का समावेश यहाँ भी हो जाता है। (२) उपेक्षा या विरति या वितृष्णा के कारण आलंबन के प्रत्युत्तर के बिना, रति-भाव अपुष्ट और अपूर्ण रह जाता है, अतः रस-परिपाक नहीं हो पाता। (३) विरति और वितृष्णा श्रृंगार के विरोधी भाव हैं अतः आलंबन में उनकी स्थिति रस में बाधक हो सकती है। किंतु पक्ष में भी अनेक प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं। (१) विश्वकाव्य में अनुभयनिष्ठ रति के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरसता में संदेह करना अरसिकता का प्रमाण होगा––उनसे प्राप्त रस-प्रतीति बाधित या अपूर्ण भी नहीं होती जो उन्हें रसाभास मान लिया जाय। (२) अनुभय-निष्ठ रति में नीति की बाधा होना आवश्यक नहीं है। (३) प्रतिदान की भावना से मुक्त निस्वार्थ प्रेम को तो रसिकों ने प्रेम का या आत्मदान का सबसे उत्कृष्ट रूप माना है, अतः उसे नियमतः रसाभास मानना कैसे संगत हो सकता है? (४) भारतीय काव्य में भी पूर्वराग की अवस्था में रति के अनुभयनिष्ठ होने की काफ़ी संभावना रहती है। (५) अतः अनुभयनिष्ठ श्रृंगार को संभोग श्रृंगार न मानना तो ठीक है, किंतु उसे विप्रलंभ का भेद मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए––पक्ष-विपक्ष के इन तर्कों की तुलना करने पर यह सिद्ध करना कठिन हो जाता है कि अनुभयनिष्ठ रति का परिपाक सर्वत्र ही श्रृंगाराभास में होता है; जहाँ लोक और शास्त्र की बाधा नहीं है और भावना का औचित्य एवं उत्कर्ष व्यक्त है, वहाँ उसे रस न मानने का कोई कारण नहीं है।

श्रृंगाराभास के इन भेदों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में दो और भेदों का भी स्पष्ट उल्लेख है: अचेतन-विषयक रति और तिर्यग्रति––अर्थात पशु-पक्षियों की रति। अनौचित्य के दो रूप हैं––असत्यत्व और अयोग्यत्व। उपर्युक्त दोनों रति-भेद असत्यत्व के अंतर्गत आते हैं; रति अनेक सूक्ष्म भावनाओं से संस्कृत एक चित्तवृत्ति है जो निरिंद्रिय पदार्थों में तो संभव है ही नहीं, मनःशक्ति से रहित पशु-पक्षियों में भी उसकी कल्पना करना अधिक समीचीन नहीं है। और, फिर, उनके साथ सहृदय के तादात्म्य की संभावना भी कैसे हो सकती है? वृक्ष और लता या चंद्र और रजनी और उधर मृगदंपति या कपोत-कपोती के प्रणय-व्यापार के साथ हमारा हृदय-संवाद कैसे हो सकता है? अतः जहाँ साधारणीकरण की संभावना ही नहीं है, वहाँ रस-परिपाक

भी अमान्य है : रस-सामग्री के आरोपण से रस का आभास तो हो जाता है किंतु वास्तविक प्रतीति कैसे मानी जा सकती है ? दुष्यंत के शरपात से भयभीत मृगशावक की अपेक्षा स्वयं मृगयाविहारी दुष्यंत या इस दृश्य का प्रशस्तिपरक वर्णन करने वाले मातलि के साथ तादात्म्य करना सहृदय के लिए सरल है। शास्त्र की वहिरंग चिंतन-पद्धति के अनुसार तो ये तर्क संगत ही हैं और इनके आधार पर परंपरानिष्ठ आलोचकों ने सहसा छायावाद के कवियों को रसाभास में सिद्धहस्त घोषित कर ही दिया है।[15] परंतु क्या यह उचित है ? क्या कालिदास आदि संस्कृत कवियों के प्रकृति-वर्णन, पश्चिम की भाषाओं के समृद्ध प्रकृति-काव्य, छायावाद के सचेतन प्रकृति-चित्रों में सहृदय को रस नहीं रसाभास मात्र की उपलब्धि होती है ? उपर्युक्त काव्य के समर्थक उनकी रसवत्ता के पक्ष में दो युक्तियाँ दे सकते हैं। एक युक्ति तो यह है कि समस्त सचराचर जगत में एक ही चैतन्य अनुव्याप्त है, अतः सच्चा सहृदय मानवेतर प्रकृति में भी चेतनता का अनुभव करता है और उसके साथ भी मानव-प्रकृति के समान ही तादात्म्य कर लेता है। यह तर्क कुछ अधिक सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक है, अतः इसे यथावत स्वीकार कर लेना सामान्य सहृदय के लिए संभव नहीं है; मुझे स्वयं इसमें प्रत्यय नहीं होता। दूसरी युक्ति यह है कि इस प्रकार के चित्रों में कवि की अपनी भावना का आरोप रहता है—प्राकृतिक पदार्थ तो प्रतीक मात्र हैं, मूल भावना तो कवि की है, अतः सहृदय कवि के साथ तादात्म्य कर रस के आस्वादन में समर्थ हो जाता है। वास्तव में, प्रतीक शैली काव्य की आदिम शैली है—भारत में भी वेदों से ले कर नवीनतम काव्य तक इसका बराबर प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की कविता में रस-व्यंजना सीधी अभिधा-लक्षणा से नहीं होती, वरन प्रतीकों से होती है, अतः यह रस-व्यंजना सामान्य रस-व्यंजना की अपेक्षा अप्रत्यक्ष और उसी मात्रा में गूढ़ एवं सूक्ष्मतर होती है। परंतु होती यहाँ भी रस की व्यंजना ही है—रसाभास की नहीं—अचेतन अथवा अमानव प्रकृति पर मानव-भावना के आरोपण से रसानुभूति बाधित या दूषित नहीं होती, प्रायः गूढ़ और अप्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार के काव्य में रसाभास नहीं वरन रस का ही संचार रहता है। इसका प्रमाण यह है कि शास्त्र के नियमों के रहते हुए भी भारतीय कवि प्रत्येक युग में चातक और चकोर के माध्यम से तीव्ररसमयी कविता करता आया है। यूरोप के काव्य में भी एक समय ऐसा आया था जब 'विवेकी' आलोचकों को प्रकृति के भावनात्मक चित्रों में चैतन्याभास या 'भावाभास' (पैथेटिक फ़ैलसी) नामक दोष की कल्पना करनी पड़ी थी। परंतु कल्पना के बढ़ते हुए पंखों को छाँटने में यह दुर्बल कर्तरी एकदम असमर्थ सिद्ध हुई और प्रकृति का रागात्मक व्यापार काव्य में निरंतर चलता रहा। अन्य रसाभासों का आधार भी प्रथमतः विभाव-विषयक और अंततः भाव-विषयक अनौचित्य ही है और वहाँ भी अनौचित्य का आधार लोक एवं शास्त्र अथवा प्रकृति और नीति का विरोध ही होता है। **—जैसे शृंगार रस का स्थायी भाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृंगार रसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायी भाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—करुण रस का स्थायी भाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में अथवा**

---

[15] **देखिए काव्यदर्पण (पं० रामदहिन मिश्र); पृ० २१२।**

विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शांत रस का स्थायी भाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वंचित चांडाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायी भाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हों, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐंद्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायी भाव (हास) यदि गुरु आदि पूज्यों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायी भाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायी भाव (जुगुप्सा) यदि यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित तथा मांस आदि के विषय में वर्णित हो, तो, क्रमशः करुणरसाभास, शांतरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास और बीभत्सरसाभास होते हैं।[16]

उपर्युक्त रसाभास-भेदों में से अधिकांश के स्वरूप तो स्पष्ट ही हैं, किंतु कुछ-एक के विषय में वर्तमान चिंतक के मन में शंका हो सकती है। उदाहरण के लिए कलहशील कुपुत्र के विषय में शोक के अनौचित्य को यथावत स्वीकार कर लेना नीति के विरुद्ध भले ही हो, लोक के विरुद्ध नहीं है: अतः यहाँ कुपुत्र से सर्वथा अशोच्य व्यक्ति का अर्थात ऐसे व्यक्ति का ही अर्थ-ग्रहण करना होगा जो अपने दुर्गुणों के कारण सहृदय-समाज के आक्रोश एवं घृणा का पात्र हो और जिसके अधःपात से लोकमन को राहत मिले। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति यदि उसके बंधु-बांधवों के माध्यम से कवि शोक की अभिव्यंजना करता है, तो, पहले तो स्वयं कवि का ही उनके साथ तादात्म्य नहीं हो पायगा और फिर सहृदय-समाज के लिए भी उसकी संभावना नहीं होगी। किंतु इस विषय में निर्णय देने से पूर्व अत्यंत सतर्क रहना चाहिए क्योंकि यहाँ भी मानव-संबंधों की प्रबलता के कारण, हत व्यक्ति के पुत्रत्व अथवा पतित्व के आधार पर, अनौचित्य के नैतिक बंधनों के परे, शुद्ध मानवीय भाव-भूमिका पर, साधारणीकरण हो सकता है। 'मेघनादवध' में मेघनाद की मृत्यु पर रावण और सुलोचना (प्रमीला) का विलाप क्या करुण रस न हो कर करुणाभास के अंतर्गत माना जायगा ? यहाँ हम विधर्मी कवि को प्रमाण मानने में आपत्ति कर सकते हैं, परंतु रामभक्त कवि के 'साकेत' में ही कुंभकर्ण-वध का दृश्य देखिए :

> **"आ भाई, वह वैर भूल कर, हम दोनों समदुःखी मित्र**
> **आ जा, क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र !**
> **हाय ! किंतु इसके पहले ही मूर्च्छित हुआ निशाचर-राज**
> **प्रभु भी यह कह गिरे—'राम से रावण ही सहृदय है आज'?"**
> **(साकेत २००५ वि०; पृष्ठ २९२)**

—प्रस्तुत प्रसंग में क्या करुणाभास है ? यहाँ तो मर्यादापुरुषोत्तम राम का रावण के साथ तादात्म्य दिखाया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मविद्याध्यन के अधिकार से वंचित चांडाल आदि

---

[16] **रसगंगाधर (चौ० वि०) प्रथम आनन; पृ० ३४४।**

के आश्रय से वर्णित निर्वेद में शांतरसाभास की कल्पना भी आज मान्य नहीं हो सकती—इसे स्वीकार कर लेने पर तो हिंदी के संपूर्ण निर्गुण काव्य में शांतरसाभास मानना पड़ जायगा। ऐसे प्रसंगों की अपेक्षा शांतरसाभास की कल्पना वहाँ अधिक संगत होगी जहाँ शृंगारिक उपकरणों के माध्यम से ज्ञान, वैराग्य आदि का प्रतिपादन रहता है : उदाहरण के लिए कवि पंत के तद्विषयक एकाध चित्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[१७]—और, ऐसी ही शंका यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित, तथा मांस आदि के वर्णन द्वारा (वीभत्स के स्थान पर वीभत्सरसाभास की सिद्धि के संबंध में) की जा सकती है। कुछ सांप्रदायिक भक्तों या साधकों को छोड़ कर कितने व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जिनके मन में 'कामायनी' के निम्नोक्त प्रसंग से जुगुप्सा का उदय नहीं होगा :

---

[१७] "अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह ज्वलित गिरिभृंग-सी महत्!
दृष्टि रश्मि थी ज्योति पथिक औ' स्वयं ज्योति पथ,
चिर जाज्वल्यमान स्थिर धावित सप्त अश्व-रथ!
किरणों के दूर्वाप्रभ नभ-सी मुक्ति थी अमित,
शुभ्र हंस घेरे थे उसको पंख खोल स्मित!
था आनंद उदधि अकूल उर में उद्वेलित,
ज्योति चूर्ण झरता अंगों से मुक्त अनावृत!
अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर
लेटी थी वह दामिनि सी रुचि गौर कलेवर!
गगन भंग से लहराये मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर!
समाधिस्थ था श्रेय, सत्य आरूढ़ निरंतर,
धरे अंक में भू को, सुर जल स्रोत शीर्ष पर;
ताप गले में, सुधा शांति मस्तक पर भास्वर,
लिपटा तन से भाव अभाव भूति औ' विषधर!
सदसद् देश काल से पर, त्रिक तपस मूल धर,
देवों का पोषक था वह, दैत्यों का जित्वर;
काम क्रोध मद मत्सर थे उसके पद अनुचर,
वह स्वर्णिम किरणों से मंडित, पाप तमस हर!
इस प्रकार चिर स्वर्ग चेतना हुई प्रतिष्ठित,
जीवन शतदल पर, मन के देवों से भूषित!
जड़ धरणी के ताप शाप दुःख दैन्य अपरिमित,
काकों से पर खोल हुए लय तमस में अचित्!"

(स्वर्ण किरण, प्रथम सं०, पृ० ६२-६३)

"दारुण दृश्य! रुधिर के छींटे!
अस्थि खंड की माला!
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी,
मिल कर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी।"

(कामायनी, 'कर्म' सर्ग, पृ० ११६--सं० प्रथम)

अतः सांप्रदायिक भावना के आधार पर इस प्रकार के वर्णनों में बीभत्स रस न मानना असहृदयता का परिचायक होगा क्योंकि सांप्रदायिक पूर्वाग्रह तो स्वयं ही सहृदयता का एक मुख्य दोष है। वास्तव में बीभत्स का भी 'आभास' काव्य में पाना कठिन है क्योंकि एक तो बीभत्स का ही वर्णन काव्य में कम मिलता है और दूसरे बीभत्स का स्पर्श तो स्वयं शृंगारादि रसों की उज्ज्वलता को मलिन कर देता है, उसको भी मलिन करने की सामर्थ्य सामान्यतः किसमें हो सकती है?

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रसाभास के स्वरूप का निर्णय करने में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हमें रसाभास को या तो अप्रत्यक्ष रसानुभूति मानना होगा, बाधित या दूषित रसानुभूति नहीं; या फिर मानवीय भाव-भूमिका पर औचित्य के व्यापक रूप की कल्पना करते हुए रसाभास के क्षेत्र का परिसीमन करना होगा—अन्यथा रस-सिद्धांत की शक्ति और प्रभाव सीमित हो जायेंगे।

अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

कौन है साक्षी •• प्रयाग शुक्ल

कौन है साक्षी
हमारे प्यार का
इस एक सुख का;
जो अकेले और अब ढोया नहीं जाता !
हवा या धूप, सड़कें, अपरिचित घर-द्वार !
कौन है साक्षी
कि मैंने किये सागर पार,
मैंने ही सहे हैं ज्वार और उतार—
कोई शाम, कोई दृश्य, कोई मित्र, कोई भार,
नहीं, कोई नहीं—
मैं ही हूँ, वही साक्षी,
अकेला , अनमना, व्याकुल, प्रतीक्षारत,
सुखी औ' दुखी, आह ! उदास;
सब कुछ देखता, सहता, समर्पित
तुम्हें, मेरे प्यार !

७०, तारक प्रमाणिक रोड,
कलकत्ता—६ ।

दो कविताएँ •• शिवकुटी लाल वर्मा

नदी हँस रही है !

इन तमाम चलते-फिरते लोगों के बीच
मैं एक सूर्य हूँ
जिसकी रोशनी
किसी नदी में घुल गयी है।
मैं देख रहा हूँ
कि रोशनी पीने को बाँधे गये चुल्लू
मुझ पर हँस रहे हैं
और मैं उन सब पर हँस रहा हूँ
कि मैं जो नदी के इतना समीप हूँ
वे मुझ तक क्यों नहीं पहुँच पाते ?
मुझे क्यों नहीं ग्रहण कर पाते ?
और वह नदी
शायद
हम सब पर हँस रही है !

विवशता

हवा के झोकों ने तो बहुत-कुछ कहा,
पर इन कानों से सुना नहीं गया !
अनंत परिप्रेक्ष्य उत्सुक थे
दृष्टि पर छाने को,
पर विराट वह आँखों से सहा नहीं गया !
मैंने मन को बहुतेरा समझाया—
अभी बहुत दर्द शेष है !
इसे पी !
कुछ दिन और जी !
अभिव्यक्ति में कभी किसी और दिन मर जाना !
पर उस निगोड़े से रहा नहीं गया !

१ चाहचंद, इलाहाबाद।

दो कविताएँ •• पद्मधर त्रिपाठी

छलावर्तों के बीच

रोशनी के सागर में
तैरती है एक नाव—
पाल खोले . . . !
अपनी शिराओं में तूफ़ान बाँध
नाव यह मैंने ही छोड़ी है
छलावर्तों के बीच।
ओ अछोर यात्रा के सहयात्री !
तुम्हारे होने का
अहसास-भर होता है—
फिर भी हमारी सटती हुई देह
अनगिनत रूपाकार गढ़ती है;
और शायद, इसीलिए
हीरे-मोतियों का एक चमचमाता बोझ
मैंने अपनी नाव पर रख दिया है।
जानता हूँ नहीं तुम्हें भायेगा
अँधेरे की तराशी हुई
काली विभीषिकाओं में
ज़िंदगी को बूझने का यह उजलता हुआ संकेत,
एक आत्मजयी जलता हुआ दर्द—
नहीं भायेगा . . .
पर तुम्हें विश्वास देता हूँ, ओ सहयात्री !
बढ़ सकें यदि डग तुम्हारे,
कहीं किसी कोने में
सीझती हो सुगबुगी
तो बैठ लो तुम भी :
श्वेतकेशी लहरों को पीछे छोड़
नाव यह महासागर तैर जायेगी !
नहीं होगा अंत इस यात्रा का ?

इस नये सूरज को

इस नये सूरज को
सतरंगी मीनारों को
लाल-लाल लोहे के नगरों
और—
भय में नहाये हुए
गाँवों की साँसों को
तपने दो !
तिलिस्मी पानीदार आँखें
सूख जायेंगी,
थम जायेगा
घटता हुआ बहाव
और अविवेकी क्षणों का
मोम-सा अस्तित्व
तनिक पिघल जायेगा—
तो क्या ?
झुलसेंगे चित्तीदार डैने
अनिश्चय की आंधियों के,
चिट्ख़ टूट जायेंगी—
मनमानी चढ़ी हुईं
असंगतियों की झिल्लियाँ !
इस नये सूरज को
थोड़ा और तपने दो—
नयी आब आयेगी !

• भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुंड रोड,
वाराणसी-५।

तीन रंग कविताएँ

अजित पुष्कल

चाँदनी

चौराहे पर
पिघल रही बर्फ़ की मीनार
दीवालों पर
अटक गये शारदीय मेघ
सड़कों पर बिछा है संगमरमर
नदी के किनारे
फूला है काँस।

सुबह

बिछे हैं गुलाब। लाजवाब
नीलम के फ़र्श पर
इंगूरी काँच के कलस के अंदर
जलती हैं वृत्ताकार बत्तियाँ
छलकती है रोशनी
छींटों से भरा है तालाब

शाम

धुआँ उठा
धुँधला गया
लालटेन का शीशा
उड़ गया पूरब से पश्चिम तक
कौओं का झुंड
चेहरे से सटा ली
ज़िद्दी बच्चे ने
गीली कालिख की पट्टी।

५, दरियाबाद,
इलाहाबाद।

फ्रायड का मनोदर्शन

रणजीत

मनोविज्ञान को वास्तव में एक विज्ञान बने अभी अधिक दिन नहीं हुए। अभी हाल तक वह दर्शन की ही एक शाखा थी। अंग्रेज़ी शब्द 'साइकोलॉजी' इस बात का प्रमाण है कि इस शास्त्र का काम 'साइक' या आत्मा का अनुसंधान करना माना जाता था। आत्मा से मन, मन से चेतना और चेतना से व्यवहार तक आने में इस शास्त्र को काफ़ी समय लगा। पावलोव ने पहली बार इसे एक ठोस वैज्ञानिक आधार दिया। लेकिन फ़ायड उन 'मनोवैज्ञानिकों' में से है जिन्होंने इसे दर्शन, पुराण और कल्पना के बियाबानों में भटकाने की भरसक कोशिश की। और अपने समय पर उसके प्रभाव को देखते हुए यह भी स्वीकार करना होगा कि वह इसमें काफ़ी हद तक सफल भी रहा।

फ़ायड के सिद्धांतों का मूल है : **दमित इच्छाएँ**। मानव मन को उसने दो भागों में बाँटा है : **चेतन और अचेतन**। हमारे मन का एक छोटा भाग चेतन है और स्वयं हमसे ही अपरिचित हमारे मन का एक बड़ा हिस्सा, जो हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है, अचेतन है। चेतना का स्वामी विवेक है, और अचेतन का—मूल प्रवृत्तियाँ। यदि हमारे मन में कोई ऐसी इच्छा पैदा होती है जो समाज की मान्य नैतिकता के विरुद्ध है और जिसे संतुष्ट करने की स्वतंत्रता हमें समाज की व्यवस्था नहीं देती, तो वह इच्छा हमारे सामाजिक संस्कारों से दमित हो कर रह जायगी। यानी, हमारे चेतन मन से वह इच्छा हमारे अचेतन मन में चली जायगी। हम उसे भूल जायँगे पर वह राख में दबी आग की तरह ज़िंदा रहेगी और मौक़ा पा कर या तो सीधे फिर चेतना में प्रवेश करेगी या सपनों, कला सृष्टियों, ग़लतियों, मज़ाकों और अंत में स्नायविक रोगों के रूप में प्रकट होगी। फ़ायड के अनुसार ये दमित इच्छाएँ प्रायः यौन इच्छाएँ होती हैं। फ़ायड ने अपना यह दमित इच्छाओं का सिद्धांत कुछ मानसिक रोगियों की जाँच-पड़ताल और उनके इलाज की कोशिश में विकसित किया और इसे सामान्य बना कर न केवल सभी लोगों के मानसिक जीवन पर लागू किया बल्कि इसी के आधार पर वह सारा रेत का महल खड़ा किया, जिसे वह परा-मनोविज्ञान या मनोदर्शन (meta-psychology) कहता है।

अपने मानसिक रोगियों के अचेतन में दबी हुई इच्छाओं को चेतन में ला कर समझने और उनका इलाज करने की कोशिश में उसने दो तरीक़े ईजाद किये। पहला, 'फ़्री अंसोसिएशन मेथड' (मुक्त साहचर्य प्रणाली), और दूसरा, सपनों की व्याख्या। बाद में उसने कई और तरीक़े, जैसे ग़लतियों, मज़ाकों और स्नायविक क्रिया-कलापों की व्याख्याएँ भी, इनमें जोड़ दिये।

मुक्त साहचर्य विधि में फ़ायड अपने रोगी को एक धुँधली रोशनी वाले कमरे में एक कोच या आराम कुर्सी पर आराम से लिटा देता था और खुद उसके पीछे की तरफ़ एक कुर्सी पर बैठ जाता था। रोगी से यह कह दिया जाता था कि वह आँखें बंद कर ले और जो-कुछ भी उसके दिमाग़ में आये, विना हिचकिचाहट के कहता जाय—चाहे वह बात उसे कितनी ही तुच्छ और नगण्य या कितनी ही अश्लील और बीभत्स क्यों न लगे। रोगी की उन बातों से उन अचेतन स्मृतियों और दमित इच्छाओं की खोज की जाती थी, जिन्हें उसके रोग का मूल कारण समझा जाता था।

सपने भी, फ़ायड की नज़र में, दमित अचेतन इच्छाओं की प्रतीकात्मक या छद्म अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए उनकी व्यक्त छवियों और घटनाओं की व्याख्या कर के उनके गुप्त अर्थ तक पहुँचा जा सकता है। अपनी पुस्तक 'द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ ड्रीम्स' में फ़ायड अपने से पूर्व प्रचलित सपनों की व्यवस्था के सभी सिद्धांतों का विवेचन करता है और उनमें आंशिक सत्य पाता है, पर सपनों के सबसे अधिक वैज्ञानिक सिद्धांत, कि सपने नींद की विरामजनक स्थिति में मस्तिष्क-सतह (सेरेब्रल कॉरटेक्स) की आंशिक सक्रियता के परिणाम हैं और इसलिए उनमें किसी तरह के छिपे रहस्य और अर्थ ढूँढना बेकार है, को वह पूरी तरह अस्वीकार कर देता है। फ़ायड के अनुसार सपनों का काम नींद की आराम करने की और नींद में बाधा पहुँचाने वाली दो विरोधी वृत्तियों में समझौता करवाना है। अर्थात कोई सपना उस इच्छा की काल्पनिक पूर्ति करता है, जो हमें सोने देना नहीं चाहती। यह बात काफ़ी हद तक ठीक भी है। मान लीजिए हमें रात में सोते हुए प्यास लग रही है। यहाँ प्यास हमें जगाना चाहती है और नींद सुलाये रखना चाहती है। ऐसी स्थिति में अधिकतर ऐसा सपना आयगा कि हम कहीं पानी पी रहे हैं या पानी के पास से गुज़र रहे हैं। यहाँ सपना हमारी प्यास को काल्पनिक रूप से तृप्त कर के, हमारी नींद में बाधा डालने से उसे थोड़ी देर के लिये रोक लेता है। लेकिन अगर यह बात सही है तो सपनों में उस तथाकथित 'प्रतीकात्मकता' का कोई महत्व नहीं रह जाता, जिसे फ़ायड ने इतना खींचाताना है कि एक नया शास्त्र ही बना दिया है। क्योंकि ऐसी हालत में सपनों को इच्छाओं की सीधी तृप्ति करनी चाहिए। यदि किसी से संभोग करने की इच्छा सीढ़ियों पर चढ़ने का सपना देती है (जैसा कि फ़ायड ने कई बार कहा है) तो इससे नींद में बाधा डालने वाली प्रवृत्ति—यहाँ संभोग की इच्छा—को तृप्ति कैसे मिली, जब स्वप्नद्रष्टा बिचारा स्वयं यह नहीं जानता कि सीढ़ियों पर चढ़ना संभोग का प्रतीक है? फिर, यह प्रतीकात्मकता सार्थक हो सकती थी, यदि हम इच्छाओं की सीधी तृप्ति के सपने न देखते होते। लेकिन वैसे सपने हम आये दिन देखते हैं। साहित्य में प्रतीकात्मकता तब सार्थक होती है जब या तो उस पर सामाजिक-राजनीतिक नियंत्रण तगड़ा हो और या साहित्यकार को किसी ऐसे अलौकिक अनुभव को व्यक्त करना हो जिसे सीधे ढंग से कहा ही नहीं जा सकता। यही बात सपनों पर लागू होती है। या तो हमें यह मानना होगा कि सोते समय हमारे मन पर सामाजिक संस्कारों का सेंसर (नियंत्रण) हमारे दैनिक जीवन की अपेक्षा ज़्यादा तगड़ा होता है और इसलिए हमारी दमित इच्छाओं को अपनी तृप्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है (लेकिन स्वयं फ़ायड के अनुसार रात को सोते समय हमारे मन पर सामाजिक सेंसर भी सो सा जाता है, कम क्रियाशील हो जाता है); और या हमें यह स्वीकार करना होगा कि सपनों

में जिस बात को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिलती है, वह ऐसी अलौकिक है कि सीधे ढंग में वह अभिव्यक्त हो ही नहीं सकती। फ़ायड इसे भी नहीं मानता। उल्टे, उसका तो ख़्याल है कि वे सब बातें स्पष्ट लौकिक उद्देश्य—यौन क्रिया—से संबंधित होती हैं, जिनकी न केवल सीधी अभिव्यक्ति संभव है बल्कि जो अधिक सफल भी है। एक तीसरी स्थिति भी संभव है। जैसे कुछ प्रयोगवादी साहित्यकार बिना किसी आवश्यकता से प्रेरित हुए ही प्रतीकों का प्रयोग प्रतीकों के लिए ही करते हैं, वैसे ही यह माना जाय कि सपने भी ऐसे ही सुरियलिस्ट कलाकार हैं जो प्रतीकों का प्रयोग प्रतीकों के लिए ही करते हैं। लेकिन यदि यह माना जाय तो उनके प्रतीकों का कोई अर्थ निकालने की कोशिश करना बिल्कुल बेकार होगा।

फ़ायड का तरीक़ा बड़ा मनोरंजक है। अगर स्वप्नद्रष्टा उसकी किसी व्याख्या से सहमत हो जाता है तब तो वह सही है ही, पर अगर वह उस ऊटपटांग व्याख्या पर चौंकता है या उसका विरोध करता है तो फ़ायड के अनुसार यह उस व्याख्या के सही होने का और भी बड़ा प्रमाण है, क्योंकि उस व्यक्ति का चेतन या 'सुपर इगो' उस व्याख्या में बाधा दे रहा है। चित भी मेरा, पट भी मेरा, इसी को कहते हैं।

अब फ़ायड के अनुसार सपनों में आने वाले कुछ प्रतीकों का उल्लेख करना मनोरंजक होगा। मकान मनुष्य का प्रतीक है। जब दीवारें बिल्कुल सपाट होती हैं तो मकान का अर्थ है—पुरुष। जब उसमें छज्जे और जालियाँ हों, जिन्हें सामने से पकड़ा जा सके, तब अर्थ होता है—स्त्री। सपनों में माता-पिता राजा-रानी, और भाई-बहन कीड़े-मकोड़े बन कर आते हैं। पानी से निकलना या उसमें गिरना जन्म का प्रतीक है। कपड़े और वर्दियाँ नंगेपन का प्रतीक हैं (!) पुरुष की जननेंद्रिय अनेक प्रतीकों में प्रकट होती है, जैसे तीन की संख्या; लंबी और सीधी खड़ी होने वाली वस्तुएँ—लाठी, छतरी, खंभा, पेड़; ऐसी वस्तुएँ जो शरीर के अंदर घुसने या उसे घायल करने की क्षमता रखती हैं—जैसे चाकू, तलवार, बंदूक, रिवाल्वर आदि; ऐसी वस्तुएँ जिनसे पानी निकलता हो—जैसे नल की टोंटी, झरना आदि; गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध उठने वाली चीजें—जैसे बेलून, विमान; रेंगने वाले प्राणी—जैसे साँप, मछली और अंत में मनुष्य के हाथ-पैर और उसका पूरा शरीर। स्त्री जननेंद्रिय का प्रतीक ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनमें उसकी तरह ही चारों ओर से घेरने का गुण होता है जैसे, गुफ़ा, मर्तबान, बोतल, पेटी, तिजोरी, जेब, आल्मारी, कमरा आदि। छोटे प्राणियों में सीप और घोंघे, शरीर के अंगों में मुँह, तथा अपनी जटिल स्थिति के कारण प्राकृतिक दृश्य। इसी तरह खेलना, सरकना तथा कोई टहनी तोड़ना आत्मरति के और नाचना, सवारी करना, चढ़ना, किसी प्रकार की चोट खाना और किसी तरह की तालबद्ध क्रिया करना संभोग के प्रतीक हैं।[1]

यही नहीं, इन सबके अलावा भी किसी भी वस्तु को मनचाहा प्रतीक बना कर सपनों की काम-मूलक व्याख्या करना फ़ायड की एक आदत-सी हो गयी थी। अगर किसी स्त्री को सपना आता है कि अपने मकान के हॉल में से गुज़रते हुये उसका सिर एक फ़ानूस से टकराया और ख़ून

---

[1] फ़ायड : 'द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ ड्रीम्स'; पृष्ठ ३३६-४०।

वहने लगा तो फ़्रायड जोड़-तोड़ कर इसका यह अर्थ निकाल देगा कि क्योंकि उस प्रौढ़ स्त्री के सिर के केश दिन-दिन झड़ते जा रहे हैं इसलिए उसका सिर उनके नितंब का प्रतीक है। फ़ानूस और खैर अपने लटकने के गुण के कारण पुरुष जननेंद्रिय है ही। बस, टकराना संभोग का प्रतीक अपने-आप हो गया। फिर खून बहना. . .बस, पूरी व्याख्या प्रमाणित! और अगर यह पूछा जाय यह टकराहट नितंब से क्यों हुई तो फ़्रायड का उत्तर होगा—कि बचपन में लोग नितंबों को ही योनि स्थान समझते हैं।

सपनों के मूल में फ़्रायड इच्छा-पूर्ति को देखता है। पर जब हम अपने किसी प्रिय व्यक्ति की मौत का सपना देखते हैं या अपने आपको पीड़ित अवस्था में पाते हैं तब फ़्रायड का यह इच्छा-पूर्ति का सिद्धांत लँगड़ा जाता है। फ़्रायड अपने सिद्धांत की इस कमज़ोरी को समझता है पर यह कह कर झुठलाना चाहता है कि चिंता इच्छा से ठीक उल्टी चीज़ है और विरोधी चीज़ मन में एक दूसरे के बहुत नज़दीक होती हैं, अचेतन मन में वे एक दूसरी से जुड़ी हुई रहती हैं; और कि अपने आपको पीड़ित पाना, अपने आपको सज़ा देने की इच्छा की पूर्ति है। यह इच्छा अगर व्यक्ति के मन की नहीं तो उसके ऊपर पड़ने वाले सामाजिक नियंत्रण (सेंसर) की तो है ही!

वास्तविकता यह है कि सपनों जैसी मानसिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या फ़्रायड का यह मनोदर्शन नहीं, उच्चतर स्नायविक क्रियाओं का शरीरशास्त्र ही कर सकता है। पावलोव ने इस तरह के शरीरविज्ञान की नींव डाली है। शरीरविज्ञान के अनुसार स्वप्न सोते समय मस्तिष्क के विभिन्न भागों की अलग-अलग स्थितियों, जैसे सक्रिय और निष्क्रिय स्थितियों, तथा शरीर के अन्य भागों पर बाहर से पड़ने वाले प्रभावों और उद्दीपनों की उत्पत्ति हैं। किसी विशेष ज्ञानेंद्रिय की उद्दीप्ति उससे संयुक्त चित्रों और ध्वनियों को जन्म दे सकती है। फिर शरीर के अन्य अंगों—जैसे आमाशय, फेफड़े, हृदय आदि से आने वाले उद्दीपन भी उनको जन्म दे सकते हैं। स्वप्नों का किन्हीं पुरानी यादों से संयुक्त होने का कारण, जैसा फ़्रायड समझता है, अचेतन मानस में पुरानी स्मृतियों का सुरक्षित रहना नहीं; मस्तिष्क-सतह (cortex) के सेलों में पिछले अनुभवों के प्रभाव-चिन्हों का अस्तित्व और उन सेलों की उद्दीप्ति है। एक दूसरी से दूर की अलग-अलग स्मृतियों के किसी स्वप्न में एक साथ संयोग का कारण सोते समय मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों के आंशिक और विशृंखल आवेश में ढूँढा गया है। अभी इस क्षेत्र में बहुत अनुसंधान बाक़ी है, लेकिन मानसिक घटनाओं का भौतिक आधार स्पष्ट है।[2]

सपनों की तरह ही, स्नायु-रोगों के लक्षण भी—रोगियों द्वारा किये जाने वाले असाधारण व्यवहार भी—उन विभिन्न मार्गों में से एक है, जिनमें फ़्रायड के विचार से दमित विचार, इच्छाएँ या आवेग अपने साथ जुड़ी हुई 'मानसिक शक्ति' को मनसा या शरीरतः या दोनों तरह से 'डिस्चार्ज' करते हैं। इन रोगों के इलाज के बारे में फ़्रायड का विचार है कि वह केवल उनकी अचेतन इच्छाओं को खोज कर चेतना के क्षेत्र में ला देने में निहित है। जब यह काम मनोविश्लेषण के जरिये कर दिया जाता है तब स्नायविक लक्षणों से ग़ायब हो जाने की आशा की जाती है,

---

[2] हेरी के० वेल्स : सिगमंड फ़्रायड।

क्योंकि सिद्धांत के अनुसार जब 'दमित इच्छा' को पूरी तरह 'चेतन मन' में ला दिया जाता है तब उसके साथ जुड़ी हुई 'मानसिक शक्ति' उससे अलग हो जाती है।

प्रतीकों की व्याख्या और मनोविश्लेषण के अपने अनुभवों से फ़ायड इस परिणाम पर पहुँचा कि 'दमनों' की एक लंबी श्रृंखला होती है जिसका एक सिरा अंततः बचपन के किसी 'दमन' तक पहुँचता है, जिसे हम स्मृति-विनाश (एमनेशिया) के कारण भूल चुके होते हैं। इन बचपन के दमनों में, फ़ायड के विचार से, आवश्यक रूप से शिशु-यौनवृत्ति का हाथ रहता है। लेकिन बहुत शीघ्र ही फ़ायड इस तथ्य से चौंक उठा कि ये दमन वास्तव में रोगी के बचपन में घटे हुए नहीं हैं, बल्कि उसकी कल्पना मात्र या उस पर आरोपित फ़ायड की कल्पनाएँ हैं। तब फ़ायड ने इस तथ्य का इस तरह तार्कीकरण किया कि स्नायविक लक्षण किन्हीं वास्तविक घटनाओं से नहीं, बल्कि इच्छा को रूपायित करने वाली कल्पनाओं से संबंध रखते हैं। अर्थात रोगियों द्वारा मनोविश्लेषण से प्राप्त कहानियाँ वास्तविक घटनाएँ नहीं, उनकी अचेतन इच्छाओं और कल्पनाओं की कहानियाँ हैं।

व्याख्या के इन्हीं सामान्य सिद्धांतों को, आगे चल कर फ़ायड ने अपनी पुस्तक 'साइको पेथोलॉजी ऑफ़ एवरी डे लाइफ़' में दैनिक जीवन की सीधी-सादी भूलों और ग़लतियों, जैसे लिखने-पढ़ने और बोलने की ग़लतियों, पर भी लागू किया। ग़लतियाँ भी उसके अनुसार, सपनों की तरह ही, दो विरोधी प्रवृत्तियों के एक समझौते की अभिव्यक्ति हैं, जिसमें दोनों वृत्तियों को आंशिक तुष्टि मिल जाती है। कभी-कभी एक ही ग़लती में दोनों वृत्तियाँ अपने आप को एक साथ अभिव्यक्त कर देती हैं, पर अधिकतर अचेतन दमित वृत्ति उभर कर अपने आप को प्रकट करती है। ग़लतियों का एक मज़ेदार उदाहरण फ़ायड ने इंग्लैंड के किसी सोशल डेमोक्रेटिक अख़बार से दिया है। अख़बार में एक उत्सव का समाचार इस तरह छपा था : **'उपस्थित लोगों में हिज़ हाइनेस दि क्लाउन प्रिंस भी थे।'** असली शब्द था **'क्राउन-प्रिंस'**, पर (R) की जगह ग़लती से (L) कंपोज़ हो गया था। दूसरे दिन अख़बार ने प्रेस की ग़लती के लिए क्षमा माँगते हुए यह संशोधित वाक्य छापा : **'दि प्रिंस क्रो भी उपस्थित थे।'** अर्थात इस बार पिछली ग़लती तो सुधर गयी पर कंपोज़िंग में एक अन्य अक्षर (N) छूट गया।[3]

यह बात ठीक है कि कई बार कुछ ग़लतियाँ हमारी इच्छा के अनुकूल भी हो जाती हैं लेकिन सिर्फ़ इसी आधार पर सब ग़लतियों को दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति कहना, उन पर ज़बरदस्ती अर्थ थोपना है। उदाहरण के लिए, अगर मैं 'फ़ायड' लिखते-लिखते जल्दी में 'फ़ाड' लिख जाऊँ तो फ़ायड की यह व्याख्या होगी कि चेतनतः या अचेतनतः मैं अवश्य ही उसे धोखेबाज़ समझता हूँ। इस बात को वह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि इस ग़लती का कारण कोई भौतिक या शारीरिक स्थिति, जैसे जल्दबाज़ी या बहुत देर से लिखते रहने के कारण आयी हुई थकावट आदि भी हो सकती है।

---

[3] **फ़ायड : मनोविश्लेषण।**

फ्रायडियन सिद्धांतों की 'चदरिया' का ताना-बाना 'लिबिडो', काम या यौन-जीवन-शक्ति के धागों से बुना हुआ है। मानवीय जीवन के आरंभ से ले कर उसके अंत तक के सब क्रिया-कलापों की प्रमुख ही नहीं, बल्कि कई बार तो एकमात्र प्रेरणा के रूप में भी, वह कामवृत्ति को ही पाता है। शिशु-कामुकता फ़ायड के यौन सिद्धांतों का एक महत्वपूर्ण अंग है। बच्चा स्वयं अपने काम का आलंबन है। तीसरे वर्ष से तो बच्चे में असंदिग्ध रूप से यौन-जीवन आरंभ हो जाता है। इस समय उसकी जननेंद्रिय में उत्तेजना के चिन्ह दिखायी देने लगते हैं। पुचकारना, चूमना आदि कई ऐसी क्रियाएँ बच्चों में पायी जाती हैं जो आगे चल कर यौन-सुखों का अंग बन जाती हैं। लिबिडो के विकास की दूसरी सीढ़ी गुप्तता काल (लेटेंट पीरियड) कही गयी है, जो पाँच से बारह वर्ष तक की उम्र में रहती है। इस समय में यौन-परिवर्धन में एक प्रकार की स्थिरता का ह्रास सा दिखायी देता है, लेकिन सेक्स की भूमिका इस काल में भी कम नहीं होती। यह गुप्तता काल सभी बच्चों में नहीं आता; ऊँचे सांस्कृतिक स्तर वाले बच्चों में ही आता है। इसके व्याघात के कारण ही शैशव के अधिकतर मानसिक अनुभव शैशवीय स्मृति-नाश से दबा दिये जाते हैं, और हम अपने बचपन से अपरिचित रह जाते हैं। मनोविश्लेषण जीवन से इसी भूले हुए युग को फिर स्मृति-पटल पर उभार कर लाने का काम करता है। तीसरी अवस्था वयस्कता काल (अँडो-लेसेंट पीरियड) कहलाती है, जिसकी अवधि बारह से अठारह साल की उम्र तक है। ये तीनों अवस्थाएँ लिबिडो की दिशा की दृष्टि से भी महत्व रखती हैं। पहली अवस्था में बच्चा अपने प्रति आकर्षित होता है, दूसरी में समलिंगी व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होता है या दोनों लिंगों के व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा बरतता है और तीसरी अवस्था में वह विषमलिंगी व्यक्तियों के प्रति खिंचाव अनुभव करता है।[४] प्रकृति की एक बदक़िस्मत व्यवस्था के कारण बच्चे माँ-बाप के संपर्क में रहने के लिए मजबूर होते हैं। परिवार फ़ायड की दृष्टि में एक कुत्सित समूह है जो बचपन से ही संघर्ष का मूल केंद्र बन जाता है। शिशुत्व के समय जब लिबिडो की प्रक्रिया एक निश्चित बिंदु पर पहुँच गयी होती है, सेक्स का आलंबन माता होती है और सुख-प्राप्ति का अंग मुख। ज्योंही माता बालक के ऐंद्रिक सुख की, यौन की, आलंबन बनती है, त्योंही दमन की क्रिया प्रारंभ हो जाती है। मातृ प्रणय की वृत्ति को फ़ायड ने एक शास्त्रीय नाम—इडिपस ग्रंथि—दे कर गौरवान्वित करने की कोशिश की है।

इडिपस एक ग्रीक नाटक का वह नायक है, जिसके विषय में यह भविष्यवाणी की गयी थी कि वह अपने पिता को मार कर अपनी माता से विवाह करेगा। उसने इस नियति से बचने की भरसक कोशिश की किंतु वह बच न सका। अनजाने में ही उससे दोनों काम हो गये और जब उसे इस बात का ज्ञान हुआ, उसने अपनी आँखें फोड़ कर अपने आप को दंडित किया था। शैशव यौनवृत्ति में बच्चे की काम-भावना माँ की ओर प्रवृत्त होती है, और पिता से उसे ईर्ष्या होती है। वह अपनी सारी की सारी माता को अपने लिए चाहता है। पिता की अनुपस्थि-

---

[४]हाल में किये गये वैज्ञानिक प्रयोगों ने इस क्रम को भ्रामक साबित किया है; देखिए: किंसे आदि—सेक्सुअल बिहेवियर इन द ह्यूमन फ़ीमेल; पृष्ठ १०९।

ति में वह संतोष प्रकट करता है। कई बार वह खुले आम माँ के बारे में यौन कौतूहल प्रकट करता है; रात में उसके साथ सोना चाहता है; माँ जब कपड़े बदलती है, वह उसी कमरे में रह कर उसे निरावरण देखना चाहता है और कई बार उससे शारीरिक काम चेष्टाएँ भी करता है। लगभग यही बात बच्ची और पिता के बीच के संबंधों पर भी लागू होती है। आगे चल कर जब परिवार में और बच्चे आ जाते हैं तब यह 'इडिपस ग्रंथि' परिवार-ग्रंथि में बदल जाती है। दूसरे बच्चे के पैदा होने के कारण पहले को मजबूरन माँ से अगल और दूर होना पड़ता है, इसलिए वह नवागत बच्चे के प्रति गहरी घृणा से भर जाता है। लेकिन जब उसके अन्य भाई-बहन कुछ बड़े हो जाते हैं तब उनके प्रति उसका दृष्टिकोण काफ़ी बदल जाता है। लड़का अपनी बेवफ़ा माँ की जगह अपनी बहन को प्रेम का आलंबन बना सकता है। जहाँ एक छोटी बहन को आकृष्ट करने वाले कई-कई भाई होते हैं वहाँ बचपन से ही उसमें प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या की भावना पैदा हो जाती है जो कभी-कभी बाद तक बनी रहती है। छोटी लड़की अपने बड़े भाई को पिता का स्थानापन्न बना लेती है क्योंकि पिता अब उसे बचपन जैसा प्यार नहीं करता, या अपने से छोटे भाई को उस शिशु की जगह पर प्यार करने लगती है, जिसे वह अपने पिता से पाना चाहती थी, पर पा न सकी।

ग़रज़ यह कि मनुष्य के हर क्रिया-कलाप पर फ़ायड ने सेक्स को इस तरह छा दिया है कि यह कहने को जी चाहता है कि मनुष्य के सब कामों के मूल में दमित यौन प्रवृत्तियाँ हों या न हों, फ़ायड के सिद्धांतों के मूल में वे अवश्य ही रही होंगी। जीवन के हर क्षेत्र में—व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के हर रागात्मक संबंध में—सेक्स को ज़बरदस्ती घसीटना एक प्रकार का मानसिक रोग ही कहा जा सकता है और, फ़ायड की ही शब्दावली का प्रयोग करें तो, इसका नामकरण भी किया जा सकता है—सेक्सोमेनिया। फ़ायड इस 'सेक्सोमेनिया' से इतना अधिक आक्रांत है कि बचपन की हर वृत्ति को उसने जोड़-तोड़ कर विपथित या गुमराह (परवरटेड) सेक्स बता दिया है। बच्चा अगर माँ से प्यार करता है तो सेक्स, विरक्त है तो सेक्स, बहन से स्नेह रखता है तो सेक्स, नहीं रखता है तो उसका कारण भी सेक्स। यहाँ तक कि बहन अपने छोटे भाई से जो दुलार रखती है वह भी इसीलिए रखती है। वह उसे उस बच्चे का स्थानापन्न बना लेती है जो वह अपने पिता से ख़ुद पाना चाहती थी। जैसे संसार में कोई अयौन संबंध हो ही नहीं सकता। या तो वह स्पष्ट यौन-संबंध होगा या गुमराह यौन-संबंध। बस इससे आगे राह नहीं।

सच बात तो यह है कि एक ओर तो फ़ायड ने यौन को बहुत व्यापक और विस्तृत अर्थों में—आकर्षण या रागात्मकता के अर्थों में—लिया है और इसलिए सभी कोमल संबंधों को यौन-संबंध कह दिया है, पर दूसरी ओर उनकी कामुकता पर भी, प्रचलित धारणा के अनुसार यौन-तृप्ति के उद्देश्य पर भी ज़ोर दिया है। यहीं असंगति है। सब सुखद ऐंद्रिक क्रियाएँ फ़ायड की नज़र में यौन क्रियाएँ हैं। इनमें बच्चे का स्तन-पान या अंगूठा चूसना आदि ही नहीं, खाना खाना और मल-मूत्र विसर्जन तक गिना दिये गए हैं। यदि सब सुखद ऐंद्रिक क्रियाएँ यौन क्रियाएँ हैं तो किसी विशेष क्रिया को यौन कहने का कोई मतलब ही नहीं रह जाता है।

फ़्रायड ने स्वयं अपने सिद्धांतों को परा-मनोविज्ञान (मेटा-साइकोलाजी) कहा है और वह उनकी अवैज्ञानिकता तथा काल्पनिकता के प्रति अपने भक्तों की अपेक्षा काफ़ी सचेत भी है।[५] वास्तव में उसके सिद्धांत 'मनोविज्ञान' हैं भी नहीं, उन्हें 'मनोदर्शन' की ही संज्ञा दी जा सकती है।

सब से पहले वह मन के दो क्षेत्र कल्पित करता है—चेतना और अचेतन मन, और उनके बीच अंतःकरण (कांशेंस) को एक चौकीदार की तरह खड़ा कर देता है। फिर मस्तिष्क-विज्ञान (सेरेब्रल ऍनाटॅमी) से एक दृष्टांत ले कर अपनी इस कल्पना का समर्थन करता है। दृष्टांत का आधार इस तथ्य को कि चेतना की आधार-भूमि मस्तिष्क-सतह या कॉरटेक्स है, बना दिया जाता है और इस तथ्य पर फ़ायड अपना सारा रेत का महल खड़ा कर देता है। जैसे कॉरटेक्स दिमाग़ को आवरित किये रहता है, उसी तरह चेतना अचेतना को घेरे रहती है। फिर कॉरटेक्स की तरह चेतना भी बाहरी संसार से एक मोटी हडियाली खोपड़ी के द्वारा रक्षित की जाती है। इस दृष्टांत को फ़ायड और भी आगे बढ़ाता है : जैसे कॉरटेक्स और मस्तिष्क के अन्य भागों के बीच वैसी कोई दीवार नहीं रहती, जैसी उसके और बाहरी संसार के बीच रहती है, इसलिए चेतना और अचेतना के बीच भी कोई दीवार नहीं है और इसलिए चेतना बाहरी उद्दीपनों की अपेक्षा आंतरिक उद्दीपनों से अधिक प्रभावित होती है। बल्कि आंतरिक प्रभाव ही निर्णायक होते हैं। ज्ञानेंद्रियों को फ़ायड, लाखों वर्षों के सारे विकास को झुठला कर, जीवद्रव्यीय जीवाणु (प्रोटो-प्लाज़्मिक एनिमलक्यूल) के कूटपादों (स्यूडोपेडिया), मस्तक पर उभरने वाले उन उभारों के समकक्ष रखता है जिनमें प्रोटोप्लाज़्म बह कर आता है। फ़ायड के विचार से ज्ञानेंद्रियाँ संसार को समझने और प्रत्यक्षीकृत करने के मार्ग नहीं, वे कवच हैं जो चेतना को बाहरी संसार के प्रभावों से और भी ढक देते हैं। इस सब से फ़ायड इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मानवीय चेतना सांसारिक जीवन में प्राप्त संवेदनों-अनुभवों से नहीं, अपने ही अंदर के अवचेतन से आने वाले उद्दीपनों से निर्धारित होती है। और ये उद्दीपन हैं : मूल प्रवृत्तियाँ। जहाँ तक बाहरी दुनिया के साथ संबंध का सवाल है, फ़ायड मनुष्य को, उसके लाखों वर्षों के विकास को झुठला कर, फिर जीवद्रव्यीय प्राणियों के स्तर पर ला रखता है।[६]

अचेतन को फ़ायड मूल वृत्तियों, दमित आवेगों, संवेगों और विचारों तथा उन पर आधारित इच्छाओं का पुंज मानता है। मूल वृत्तियों को वह दो वर्गों में विभाजित करता है : 'इगो' (अहम), आक्रमण या मृत्यु-वृत्ति एक तरफ़ और 'इरोस', यौन या जीवन-वृत्ति दूसरी तरफ़। पहले वर्ग में वे सब अचेतन वृत्तियाँ आ जाती हैं जो मनुष्य को फिर उसकी आदिम अजीव अवस्था की ओर ले जाना चाहती हैं, और दूसरे में वे जो उसे नयी ज़िंदगी की ओर प्रवृत्त करती हैं। अचेतन इन दोनों प्रकार की वृत्तियों और उनके दमन से मिल कर बनता है। उसकी दूसरी विशेषताएँ हैं : शाश्वत स्थिरता—समय के विकास से सर्वथा अप्रभावित रहने की वृत्ति, कई एक परस्पर

---

[५] फ़्रायड : बियांड द प्लेज़र प्रिंसिपिल; पृष्ठ ३७।
[६] हेरी के० वेल्स : सिगमंड फ़्रायड; पृष्ठ ४८।

विरोधी वृत्तियों की एक साथ स्थिति रखने की क्षमता, वास्तविकता की जगह मानसिकता के स्थानांतरण की प्रवृत्ति और तथाकथित सुखसिद्धांत (प्लेज़र प्रिंसिपिल)।

अपनी बाद की रचनाओं में फ़ायड ने अंतःकरण को 'सेंसर' और 'सुपर इगो' बना दिया है तथा अचेतन को एक नये नाम 'इड' से विभूषित किया है। अपनी पुस्तक 'द इगो एंड द इड' में उसने चेतन, अचेतन, 'इगो', 'इड' और 'सुपर इगो' के नये संबंधों पर फिर प्रकाश डाला है। 'इड' मूलप्रावृत्तिक शक्ति का मूल स्रोत है। यह अचेतन है; लिबिडो या जीवन-शक्ति का संरक्षक है; सुख सिद्धांत का इसमें एकछत्र राज्य है। यह अनैतिक और अबौद्धिक है। दमित इच्छाएँ इसमें ग़ोता लगाती हैं और इसका अंग बन जाती हैं। 'इड' हमारी आदिम जैविक वृत्तियों को प्रकट करता है। 'इड' से ही जीवन शुरू होता है। बच्चा पूरा 'इड' है। 'इड' अपने अंतिम रूप में कामात्मक है। 'इगो' मानसिक जीवन का एक विवेकशील संगठन है, जो 'इड' से ही बाहरी संसार के प्रभावों में विकसित होता है। यह 'इड' से बिल्कुल अलग नहीं है; इसका निचला हिस्सा अब भी 'इड' के समुद्र में डूबा हुआ है। इसका कुछ भाग चेतन है और कुछ अचेतन। इसके तीन स्वामी हैं : बाहरी संसार, 'इड' की जीवन शक्ति (लिबिडो), और 'सुपर इगो'। 'इगो' दो महत्वपूर्ण काम करता है : एक तो वह बाहरी संसार को ऐसे मौक़ों की ताक में देखता रहता है, जिनमें 'इड' की लालसाएँ बिना किसी हानि के पूरी की जा सकें; और दूसरे, वह 'इड' को अपनी इच्छाओं को छोड़ने के लिए फुसलाता है, या उसे कोई और संतुष्टि दे कर शांत करता है। सामान्य मनुष्य के जीवन में 'इगो' और 'इड' आवश्यक रूप से एक दूसरे के विरोधी बन कर नहीं आते, पर स्नायविक रोगों के मूल में प्रायः इनका संघर्ष रहता है। 'सुपर इगो' 'इगो' का ही एक संशोधित और अधिक नैतिक तथा अधिक बौद्धिक संस्करण है। यह 'इगो' का शास्ता है। इसका भी एक बड़ा हिस्सा अचेतन है। यह व्यक्ति के मन में बसने वाला उसका पिता है। उसकी 'इडिपस ग्रंथि' को दबाने में उसकी सहायता करता है। इसका ख़ास काम है आलोचना के द्वारा 'इगो' को अपराधी अनुभव कराना।

फ़ायड की नज़र में समाज का अस्तित्व व्यक्ति-जीवन के लिए हमेशा से एक बड़ी बाधा रही है। और जितना वह विकसित होता जाता है, जितना वह सभ्य होता जाता है, उतना ही वह अधिक बाधक होता जाता है। अधिक सभ्य समाज में मनुष्य की मूल-वृत्तियों का अधिक दमन होता है और अधिक दमन अधिक गंदे सपनों, अधिक अश्लील मज़ाकों, अधिक भयानक ग़लतियों और अधिक ख़तरनाक स्नायु-रोगों को जन्म देता है।

अपने मनोदर्शन में फ़ायड वास्तविक मानसिक प्रक्रियाओं पर विचार करता है, पर इनका प्रतीकीकरण वह आदिम लोगों की देव-गाथाओं से भरी भाषा में करता है। मृत्यु-वृत्ति और जीवन-वृत्ति, सुख-सिद्धांत और वास्तविकता-सिद्धांत, 'इगो' और 'इड' के बीच में संघर्ष का फ़ायडियन चित्र एक वास्तविक संघर्ष का चित्र है, पर पुराण-गाथाओं के रंगों और रेखाओं से बनाया हुआ। फ़ायड का 'लिबिडो' प्रारंभिक रसायन के उस रहस्यपूर्ण पदार्थ 'केलोरिक' की याद दिलाता है, जिसकी सत्ता हर जलने वाली वस्तु में कल्पित की गयी थी और किसी वस्तु के जलने की क्रिया को उस वस्तु से इन 'केलोरिक' महोदय के निकलने की क्रिया माना गया था।

फ़ायड ने वैज्ञानिक तथ्यों की धार्मिक ढंग से व्याख्याएँ कीं। जैसे आदिम लोग बिजली गिरने का कारण 'इंद्र' के प्रकोप को मानते थे, वैसे ही फ़ायड के अनुसार सपने 'दमित इच्छा' नामक देवी के प्रकोप हैं। इस तरह यद्यपि फ़ायड ने कुछ महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन किया तथापि वह उन्हें किसी तर्कसंगत वैज्ञानिक पद्धति में संयोजित नहीं कर पाया।

मानसिक क्रियाएँ हमारे पूरे स्नायु-संस्थान से संबंधित होती हैं। जब हम सितार पर एक स्वर बजाते हैं तब जिन तारों को हम छूते हैं, जितने वे उस स्वर से संबंधित हैं उतने ही वे तार भी जो नहीं छुए गये हैं। क्योंकि वह विशेष स्वर स्वरों के एक निश्चित ढाँचे का एक अंग मात्र है। इसी प्रकार तथाकथित चेतन मानसिक क्रियाएँ भी हमारे पूरे शरीर-संस्थान के व्यवहारों का ही एक अंग हैं। और इसलिए उन्हें ठीक-ठीक समझने के लिए पूरे संस्थान को और परिवेश के साथ उसके बदलते हुए संबंधों को समझना होता है। फ़ायड ने 'चेतना' के एक छोटे क्षेत्र के भीतर से उन 'अचेतन' प्रभावों का अध्ययन किया है जो पूरे शरीर-संस्थान से आते हैं। और इसलिए उन्हें चेतना की नज़रों से ही देखा है। यही कारण है कि ये 'प्रभाव' पूरे ढाँचे का एक अंग नहीं, चेतना के एक शांत, आत्म-अनुशासित संसार में अचानक घुस आने वाले धूमकेतुओं के रूप में कल्पित किये गये हैं और इन्हें 'दमन', 'कुंठा', 'विपथन' जैसे नाम दिये गये हैं।[७]

आगे चल कर फ़ायड ने अपने इस मनोदर्शन को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर लागू करने की कोशिश कर के एक पूरे जीवन-दर्शन का रूप देना चाहा है। समाज, धर्म, नैतिकता, कला और संस्कृति आदि सब पर उसने अपने यही 'सेक्स' और 'दमन' के सिद्धांत आरोपित किये हैं।

अपनी पुस्तकों 'टोटेम एंड टेबू' तथा 'मोज़ेज़ एंड मोनोथीइज़्म' में उसने धर्म, नैतिकता और समाज के 'मनोदार्शनिक' मूल पर 'प्रकाश' डाला है । यहाँ आते-आते वह विज्ञान और वैज्ञानिक प्रणालियों से अपना रहा-सहा संबंध भी तोड़ देता है और पूरी तरह से कल्पना के संसार में विचरण करने लगता है। अपना हाइपोथेसिस वह इस मान्यता से शुरू करता है कि मनुष्य आरंभ में पितृ-सत्ता के घुमंतू समूहों में रहा करता था, जिनमें पिता समूह की सारी स्त्रियों को अपने अधिकार में रखता था और ज्योंही बेटे जवान होते, उन्हें समूह से अलग कर दिया करता था। एक दिन निर्वासित बेटों ने मिल कर उस पर आक्रमण किया और उसको मार कर खा गये। इस तरह पितृ-सत्ता समाप्त हुई। टोटेम भोज, जो शायद मनुष्य का सब से पुराना उत्सव है, इसी की यादगार है। पिता की हत्या के बाद बेटों ने आपसी समझौते पर समाज की व्यवस्था आधारित की और इस डर से कि उनका भी हाल उनके पिता की तरह ही न हो, समूह के भीतर हत्या और विवाह को वर्जित ठहरा दिया। इन्हीं दो नैतिक सिद्धांतों से बाद में अन्य सिद्धांत विकसित हुए। इस सिद्धांत के मूल में, जैसा कि स्पष्ट ही है, फ़ायड की वही 'इडिपस ग्रंथि' काम कर रही है। फ़ायड धर्म का आधार उस आदिम पितृ-हत्या से उत्पन्न सामूहिक आत्म-अपराध-चेतना को मानता है। उसके ख़्याल से उस मृत पिता को ही बाद में ईश्वर के रूप में पुनर्स्थापित

---

[७]कॉडबेल : स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर; पृष्ठ १६६-६७।

किया गया। 'आदिम पाप' उसी पितृ-हत्या की याद है। इस तरह समाज की उत्पत्ति उस सामूहिक अपराध में सहयोग तथा धर्म की उत्पत्ति उस अपराध-भावना तथा उससे उत्पन्न पश्चात्ताप-भावना से हुई। स्पष्ट है कि फ़ायड व्यक्ति के विकास को ही नहीं, संपूर्ण मानवीय इतिहास को ही 'इडिपस ग्रंथि' से रंग कर देखता है।

मानव सभ्यता के विकास की मूल प्रेरणाओं के विषय में उसने कैसी कपोल-कल्पित ही नहीं हास्यास्पद भी कल्पनाएँ की हैं, इसका एक मज़ेदार उदाहरण आग पर विजय के बारे में उसका सिद्धांत है। अपनी पुस्तक 'सिविलीज़ेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट' में वह लिखता है : ऐसा लगता है कि आदिम मनुष्य जब आग के संपर्क में आता था, तब उसे अपने मूत्र की धार से बुझाने में एक शैशविक सुख मिलता था। प्राप्त पौराणिक कथाएँ इस बात में कोई संदेह नहीं रहने देतीं कि आग की उठती हुई लपटों में आदिम मनुष्य एक लैंगिक भाव पाता था। इसलिए मूत्र से उसे बुझाना मनुष्य के साथ मनुष्य के समलिंगी संभोग का प्रतीक है। जो भी व्यक्ति अपने आपको इस सुख से वंचित रखता, आग को बचाये रख कर अपनी सेवा में लगा सकता था। अपनी वासना की आग को दबा कर वह प्रकृति की शक्ति रूपी उस आग को बचा सकता था। इस प्रकार यह महान सांस्कृतिक विजय एक मूल प्रवृत्ति—समलिंगी संभोग की! —के दमन का पुरस्कार थी।

अपने मनोदर्शन को कला के क्षेत्र में लागू करते हुए, फ़ायड कला-सृजन को भी स्वप्न, दिवा स्वप्न आदि मनोसृष्टियों की श्रेणी में रखता है। यह भी उन्हीं की तरह एक अचेतन प्रक्रिया है। इसमें भी उनकी तरह दमित इच्छा की काल्पनिक तृप्ति होती है। 'लोकप्रिय' उपन्यासों से उदाहरण दे कर वह बताता है कि इन सब में एक नायक रहता है, जो रुचि का केंद्र होता है। उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति जीतने के लिये लेखक कुछ भी उठा नहीं रखता। यह नायक लेखक के 'अहम' के सिवा कुछ भी नहीं है। निरंतर संकट पड़ते हुए भी वह सदा उनसे बच कर निकलता जाता है। फिर प्रायः कहानी में आयी हुई सभी स्त्रियाँ नायक से प्रेम करती हुई दिखायी जाती हैं। यह दिवा स्वप्न का एक प्रमुख तत्व है। लेकिन दिवा स्वप्न और कला-सृजन में एक बड़ा अंतर यह है कि दिवा स्वप्न कुछ इतने वैयक्तिक होते हैं कि उन्हें स्वयं उनका द्रष्टा भी लज्जाजनक समझता है, और दूसरों से छिपाता है। यदि वह उन्हें प्रकाशित भी करे तो भी उन्हें सुनने वालों को उनमें न केवल आनंद नहीं आयगा, बल्कि विकर्षण भी होगा। कला की स्थिति ठीक इससे विपरीत है। कलाकार न केवल अपनी मनोसृष्टि को गौरव के साथ अभिव्यक्त करता है, वरन उसके पाठक भी उसमें आनंद पाते हैं। इस प्रकार, कला का मूल रहस्य उन तरीक़ों में है जिनसे कलाकार अपने सपनों को पाठकों के लिए आकर्षक बना देता है। फ़ायड इस तरह के दो तरीक़े कल्पित करता है। पहला तो यह कि कलाकार कुछ परिवर्तनों और आवरणों के साथ अपनी मनोसृष्टियों की 'अहम केंद्रीयता' को ढक लेता है। और दूसरा यह कि वह अपनी मनोसृष्टियों को आकर्षक मानने के लिए अपने पाठकों को विशुद्ध सौंदर्यगत आनंद की थोड़ी सी रिश्वत देता है।

जीवन के दूसरे क्षेत्रों की तरह कला में भी फ़ायड 'इडिपस ग्रंथि' को बहुत महत्व देता है। अपने सिद्धांत के समर्थन में वह तीन युगों की तीन प्रसिद्ध साहित्य-कृतियों का उदाहरण देता है :

सोफ़ोक्लीज़ की 'इडिपस रेक्स', शेक्सपियर का 'हेमलेट' और दास्तोएवस्की का 'द ब्रदर्स कर-माज़ोव'। तीनों कृतियों में 'पितृ-हत्या' को विषय बनाया गया है और तीनों में इसकी मूल प्रेरणा है : स्त्री के लिए काममूलक प्रतिद्वंद्विता। इस सिलसिले में हेमलेट का उसका विश्लेषण मनोरंजक है। हेमलेट का काम अपने उस चाचा से प्रतिशोध लेना है जिसने उसके पिता की हत्या कर उसकी माता से विवाह कर लिया था; पर हेमलेट अंत तक यह नहीं कर पाता। 'टु बी ऑर नॉट टु बी' की जटिल समस्या में ही उलझा रहता है। फ़ायड के अनुसार वह अपने चाचा से इसलिए प्रतिशोध नहीं ले पाता कि उसके चाचा ने जो कुछ किया है वही हेमलेट की भी अचेतन इच्छा है। चाचा ने उसके पिता को मार कर तथा उसकी माता से विवाह कर के स्वयं उसकी बाल्यकालीन दमित इच्छा की ही पूर्ति की है। इसलिए अचेतनतः हेमलेट अपने चाचा को अपने से ज़्यादा अपराधी नहीं समझता और इसीलिए चेतनतः निश्चय कर के भी उसे दंड नहीं दे पाता।

इस प्रकार, फ़ायड के विचार से कला का उद्गम भी उन्हीं दमित इच्छाओं से होता है, जो मानसिक रोगों की भी जननी है। और कला भी उसी तरह कलाकार के मन को 'इगो' और 'इड' में चलने वाले संघर्ष से आंशिक राहत देती है। कला जीवन की कठोरताओं से बचने के लिए निर्मित एक अस्थायी आश्रय के सिवा कुछ नहीं है।

स्पष्ट है कि फ़ायड के सामान्य चिंतन की मूल विकृतियाँ उसके कला-चिंतन में भी मौजूद हैं। कला-सृजन को सपनों के (और स्नायविक रोगों के तो और भी) सकमक्ष नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि कला भी एक प्रकार की मनोसृष्टि है, लेकिन वह स्वप्न की तरह की मुक्त साहचर्य वाली मनोसृष्टि नहीं है। कला की अनुभूतियाँ निर्देशित अनुभूतियाँ होती हैं—सामाजिक अहम से निर्देशित। फिर, स्वप्न एक अचेतन क्रिया है, जब कि कला एक चेतन सृजन है। स्वप्न अवचेतन से ऊपर की ओर उठते हैं इसलिए अंधे और अनुत्पादक हैं, लेकिन कला चेतन से नीचे की ओर चलती है इसलिए जाग्रत और सृजनात्मक है। स्वप्न संवेगों के गत्यात्मक क्षेत्र से बाहर ही रहने की कोशिश करते हैं ताकि कहीं स्वप्न-द्रष्टा जाग न जाय लेकिन कला साहस के साथ उनके क्षेत्र में विचरण करती है ताकि उनको प्रभावित कर सके, बदल सके। स्वप्न वैयक्तिक सृष्टि है, कला सामाजिक।[८]

सच बात तो यह है कि जिस तरह जीव-विज्ञान का सम्यक अध्ययन बिना भौतिक और रासायनिक विज्ञान के प्राथमिक अध्ययन के कठिन है, उसी तरह मनोविज्ञान का वास्तविक अध्ययन भी वैज्ञानिक समाज-शास्त्र के मूल नियमों को जाने बिना संभव नहीं है।[९] जीव का व्यवहार उसके शरीर और परिवेश के बीच की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं की समष्टि है। परिवेश कोई स्थिर पृष्ठभूमि या रंगमंच नहीं है जिस पर आ-आ कर जीव अपनी भूमिकाएँ अदा करते हों। वह स्वयं अन्य जीवों के पारस्परिक संबंधों और क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तथा भौतिक

---

[८] कॉडवेल : इल्यूज़न एंड रियलिटी; पृष्ठ १६६-२००।
[९] कॉडवेल : स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर; पृष्ठ १८६।

परिस्थितियों की समष्टि है, जो प्रतिक्षण बदलती रहती है। जीव के प्रत्येक व्यवहार––जिसमें जीव और परिवेश के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया हुई––के बाद जीव परिवेश को प्रभावित कर चुका होता है और परिवेश जीव को। जीवों में भी मनुष्य एक ऐसा जीव है, जिसमें परिवेश को बदलने और परिवेश द्वारा बदले जाने की सब से अधिक क्षमताएँ हैं। इस दुहरे परिवर्तन का व्यक्ति के पक्ष से अध्ययन मनोविज्ञान और परिवेश के पक्ष से अध्ययन समाजशास्त्र और इतिहास है। समाज-विज्ञान की सम्यक पृष्ठभूमि के बिना मनोविज्ञान का अध्ययन संभव नहीं है।

फ़ायड अपने अध्ययन में परिवेश को रंगमंच के पीछे टँके हुए एक काले पर्दे से अधिक महत्व नहीं देता, जिस पर 'इगो', 'सुपर इगो', 'सेंसर' और 'इड' आदि महानुभाव आ-आ क्रर वर्जनाओं, उदात्तीकरणों, आत्मरतियों और स्थानांतरणों के चमत्कारपूर्ण खेल दिखाते हैं। फ़ायड ने केवल मन की वृत्तियों का सुविधा के लिए मानवीकरण ही नहीं किया है बल्कि गंभीरता से उन्हें पौराणिक नायक-नायिकाओं का रूप दिया है।

फ़ायड के चिंतन की सब से वड़ी असंगति यह है कि उसने मनुष्य के मन को उसके परिवेश से अलग एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता के रूप में कल्पित किया है, जिस पर वाहरी संसार का वहुत कम प्रभाव पड़ता है। अन्य बूर्ज्वा विचारकों की तरह ही वह भी पूरे भोलेपन के साथ विश्वास करता है कि वैज्ञानिक कारणता से बँधे वस्तु-जगत में एक क्षेत्र ऐसा भी है जो बिल्कुल 'स्वतंत्र' है, अपने ही आंतरिक नियमों से संचालित होता है। यही कारण है कि उसने मन का अध्ययन उसके अंदर से ही करने की कोशिश की है, वाहर के किसी भी संदर्भ को छुए बिना उसका विश्लेषण करना चाहा है। इसीलिए वह मानव समाज, सभ्यता और संस्कृति को मनुष्य के विकास के नये क्षितिजों के रूप में नहीं देख सका, उसे तो ये सब मानव-मन पर डाली गयी ज़ंजीरों के रूप में ही दिखायी दिए। रूसो की तरह उसने भी समझा कि मनुष्य प्रकृतितः 'स्वतंत्र' था और समाज व्यवस्था ने उसे गुलाम बना लिया है। पर वह यह नहीं समझ पाया कि सच्ची स्वतंत्रता समाज व्यवस्था के अभाव––अराजकता की स्थिति––में नहीं, उसकी स्वस्थ पूर्णता में है। सामाजिक व्यवस्था को व्यक्ति के विकास में बाधा समझने का यह भ्रम पैदा इसलिए हुआ कि फ़ायड 'अपने समय की सामाजिक व्यवस्था' और 'सामाजिक व्यवस्था' में भेद नहीं कर पाया। उसने अपने आस-पास देखी हुई विषमतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था को ही सामाजिक व्यवस्था का एकमात्र संभव रूप मान लिया और इसलिए उसका विरोध करने में सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता को ही झुठला दिया।

वनस्थली विद्यापीठ,
राजस्थान।

फिसलन

कमल जोशी

कान बहुत लंबे-चौड़े हैं, अन्यथा सूरत-शक्ल ठीक ही है।

लेकिन जब नवलकिशोर बारह साल का था तब उसके पिता ने उसके संबंध में जो कुछ कहा था वह आज भी ––सत्तावन वर्ष की उम्र––में उसे याद है। व्यंग्य करते हुए उसके पिता ने कहा था––सिर में गोबर और सारे शरीर में चमगादड़ जैसे दो कान, ये हैं हमारे चिरंजीव नवलकिशोर। हिसाब के मास्टर मिलने आये थे। मिलने नहीं, बल्कि मलाई पड़ी हुई लस्सी की लालच में। मलाई चाटते हुए कुछ हँस कर हिसाब के मास्टर ने शिकायत की थी, "हिसाब में उसे सिर्फ़ दो नंबर मिले हैं। अभी से अगर मेहनत नहीं करेगा. . .तो। भार्गव साहब ! सच मानिए, आपके यहाँ की जैसी लस्सी कहीं नहीं पी।"

नवल को बुलाया गया। डाँट-डपट नहीं, मार-पीट नहीं, यहाँ तक कि ज़रा आँखें दिखाना भी नहीं। सिर्फ़ ये कुछ शब्द। दरवाज़े के बग़ल में खड़ा हुआ नवलकिशोर घृणा और अपमान से बहुत देर तक काँपता रहा था।

आज भी उसे याद है : "दो नंबर किस लिए मास्टर साहब ?"

गटर-गटर लस्सी के दो घूंट पीते हुए मास्टर हँसा था, शैतान की तरह। नवल की आँखों के आगे अँधेरा छा रहा था––"कोशिश की है, नवलकिशोर ने बहुत दिमाग़ लड़ाया है। बेचारे ने एक-एक हिसाब को पाँच-छह बार किया है। इसलिए शून्य नहीं दे सका, कुछ दया आ गयी।" फिर वही अट्टहास !

खिड़की के निकट एक आरामकुरसी पर नवलकिशोर बैठा था, एक रेशमी चादर ओढ़े हुए। सध्या का समय और आकाश में मेघ। कमरे में हल्का-सा अंधकार था। एकाकी और भारमुक्त। अनेक वर्षों के अध्यवसाय से अर्जित निर्विघ्नता। पुरुष का कमरा है। कमरे के साज-सामान में दिखावा या वंचना नहीं है।

नवलकिशोर ज़रा घूम कर बैठा। हाँ, उसे याद है। उस दिन से ही वह अपने पिता से घृणा करने लगा था। जलते हुए कोयले की तरह वह घृणा निरंतर उसके हृदय को जलाती रही। रात को जब सब लोग सो जाते थे, नवल चुपचाप अपनी खटिया से उठ कर दूसरे कमरे में आता था।

लालटेन जला कर अंकगणित की किताब और पेंसिल-कापी ले कर वह चौकी पर बैठ जाता था। हिसाब उसे समझने ही होंगे—चाहे जितनी रात हो। सुबह सिर में दर्द होता, आँखें जलतीं और हाथ की उँगलियाँ काँपतीं। चौखट को पार करते ही उसकी खटिया है। बिछौना बिछा हुआ है। नहीं, हिसाब में उसे दक्ष होना ही पड़ेगा। चाहे कुछ भी क्यों न हो। हे ईश्वर! तुम मुझे हिसाब समझा दो। नहीं तो, नहीं तो—नहीं तो मैं मर जाऊँगा। नदी में डूब मरूँगा। तुम भी मुझे नहीं बचा सकोगे ईश्वर!

एक-दो दिन नहीं, बल्कि अनेक रातों को ऐसे ही जाग-जाग कर हिसाब समझने की उसने चेष्टा की थी। और, वह सफल हुआ था। हिसाब समझ सका था।

क्लास में वह एकदम पीछे वाली बेंच पर बैठता था। अपना सिर नीचे झुकाये रखता ताकि मुरारी मास्टर की नज़र उस पर न पड़े। फिर वार्षिक परीक्षा में उसने चमत्कार दिखाया। एक नहीं, बल्कि दो शून्य मुरारी मास्टर को देने पड़े और उन दोनों शून्य के पहले एक लिखना पड़ा। लेकिन गाढ़ी मलाई डाली हुई लस्सी की तरह चट से हज़म नहीं कर सका। हेडमास्टर से कहा, "ऐसा हो ही नहीं सकता। नवल ने नक़ल की है। उसके सामने की सीट पर राधेश बैठा था, उसकी ही नक़ल की है।"

"राधेश को कितने नंबर मिले हैं?" हेडमास्टर ने प्रश्न किया।

"राधेश?" सिर खुजलाते हुए मुरारी मास्टर ने जवाब दिया, "राधेश को नब्बे मिले हैं। एक हिसाब शायद नवल ने ख़ुद ही किया हो, हाँ, इसीलिए।"

"बेंत लाइये।"

मुरारी मास्टर ने आलमारी के ऊपर रखा हुआ लाल बेंत उतार कर एक बार शून्य में घुमाया, फिर मेज़ पर रख दिया।

नवलकिशोर को बुलाया गया।

"इधर आओ नवल।"

नवल मेज़ के पास आ कर खड़ा हो गया।

मुरारी मास्टर ने कहा, "पाँच से ज़्यादा नंबर तुम्हें कभी नहीं मिलते। बोलो, किसकी कापी से नक़ल की है?"

"किसी की भी कापी से नहीं। सारे हिसाब मैंने अपने आप किये हैं।"

सपाक से हेडमास्टर ने मेज़ पर बेंत मारा, "झूठा कहीं का! किसकी नक़ल की है?"

"अपने आप किये हैं।"

आस्तीन चढ़ा कर हेडमास्टर खड़े हो गये, "हाथ आगे करो।"

"क्यों?"

बेंत पड़ा। सड़ासड़। पीठ पर, पैरों पर।

"अभी भी बता दो नहीं तो खाल उधेड़ दूँगा।"

"क्या बता दूँ, जो कहना था कह चुका।" वैसे ही शांत भाव से नवलकिशोर ने उत्तर दिया, "विश्वास न हो तो फिर से परीक्षा ले कर देख सकते हैं।"

हेडमास्टर ने पहले यह क्यों नहीं सोचा। मुरारी मास्टर ने ?

खट से मुरारी मास्टर ने प्रश्न-पत्र आगे बढ़ा दिया, और पेंसिल-कापी भी।

नवल को पैंतालीस मिनट लगे। दोनों ने ही कापी की जाँच की। दोनों शिक्षक भौंचक्के रह गये। "पहले किये हुए ये हिसाब यह कर सकता है।" मुरारी मास्टर ने कहा।

"अंकगणित से कोई भी सवाल दे कर आप देख सकते हैं।" नवल ने फिर पेंसिल उठा ली।

मुरारी मास्टर ने अंकगणित की किताब के पन्ने उलट कर कड़े से कड़े सवाल नवल को करने के लिए दिये। पाँच ऐसे कड़े सवाल जो मुरारी मास्टर खुद भी कर सकता है या नहीं, इसमें संदेह था—और किसी को नहीं, हेडमास्टर को और स्वयं मुरारी मास्टर को।

नवल को पच्चीस-तीस मिनट लगे। उसने हेडमास्टर के सामने कापी बढ़ा दी। दोनों ने ही उत्तर मिला कर देखे। ज़रा भी इधर-उधर नहीं। विस्मित दृष्टि से वे दोनों नवल को देखते ही रह गये।

और नवल ने क्या किया—बेंत उठा कर जोर से खिड़की के बाहर फेंक दिया। मुरारी मास्टर से कहा, "जाइए, चुल्लू भर पानी में डूब मरिए।"

अंधकार में कमरे की चीज़ों की आकृति खो गयी है। मकान के सामने ही फूल के दो पेड़ हैं। हवा के झोंके से पेड़ के पत्तों की खड़खड़ाहट होती है। आकाश की ओर बिना अच्छी तरह से देखे भी नवलकिशोर बता सकता है कि सब नक्षत्रों को मेघों ने ढक लिया है। आकाश से उसका ऐसा ही परिचय है। और फिर, इन पत्तों की मर्मर ध्वनि सुन कर ही वह यह बता सकता है कि मेघ दूर हुए या नहीं, आकाश में तारे चमक रहे हैं या नहीं।

हाँ, पिता को उसने क्षमा कर दिया था, उनकी मृत्यु शय्या के निकट खड़े हो कर। उस समय उसकी मैट्रिक परीक्षा थी। इसके बाद—उस दिन की भी उसे याद है—जिस दिन गंगा में अस्थियाँ विसर्जित की गयी थीं, उस समय उसके हृदय में एकमात्र कातर प्रार्थना आर्तनाद कर रही थी : पिता जी, तुम मुझे माफ़ करो।

●

एक आवारा और बदचलन विद्यार्थी स्कूल से निकाल दिया गया था। दसवीं कक्षा का छात्र। हेडमास्टर से प्रार्थना की गयी कि निकाले हुए छात्र को वापस ले लिया जाय। नहीं, हेडमास्टर ने बहुत जोर से सिर हिलाया—ऐसा नहीं हो सकता। छात्र-नेता ने निर्देश दिया—आओ, हम सब क्लास से निकल जाएँ। सब निकल गये। बैठा रहा सिर्फ़ नवलकिशोर, किताबें पकड़े। वह यह नहीं देख सका था कि बाहर से किसने पत्थर फेंका। सिर में वह पत्थर लगा। अपने रूमाल से उसने खून पोछा। लेकिन इतने से उसका छुटकारा नहीं हुआ। पीछे से किसी ने, जैसे बोतल का ढक्कन खोलते हैं, वैसे ही उसके दोनों कान मरोड़ दिये। टिप्पणी की—दोनों तरफ़ दो चमगादड़ लटके हुए हैं। उसने मुँह नहीं घुमाया। लेकिन आवाज से पहचान गया था कि पशुपति है। वही पशुपति जो नंबरी गुंडा और आवारा है, तीन बार मैट्रिक में फ़ेल हो चुका है और जो सारे क्लास को खराब बातें सिखाता है।

मैट्रिक में फ़र्स्ट होने के बाद से फिर कभी किसी ने उसके चेहरे के संबंध में या कान के बारे में मज़ाक नहीं किया। मज़ाक करने का साहस नहीं किया है। इसके बाद उसने और भी परीक्षाएँ दी हैं। एक बार भी द्वितीय नहीं हुआ। लेकिन उसका क़द नहीं बढ़ा। अगर कुछ और लंबा हो जाता तो कान की खराबी ढक जाती। लोगों की नज़र नहीं पड़ती।

हाईकोर्ट में पहली पैरवी करने के बाद ही वह रातों-रात प्रसिद्ध हो गया। प्रेस रिपोर्टर को संक्षिप्त जीवनी बताते हुए उसे संकोच नहीं हुआ। लेकिन किसी भी प्रकार उसने अपनी फ़ोटो नहीं उतरवायी।

पुरूलिया में जज हो कर आने के बाद उसकी अदालत में एक मामले की सुनवाई हुई। कठघरे में खड़े मुलज़िम की ओर सिर्फ़ एक बार देख कर उसने मुँह फेर लिया। बलात्कार और हत्या। दो महीने सुनवाई के बाद जूरी ने मत दिया —अपराधी नहीं, उपयुक्त प्रमाण नहीं हैं। न्यायाधीश नवलकिशोर भार्गव जूरी की राय से सहमत नहीं हो सके। चौंसठ पृष्ठों के अपने फ़ैसले में उन्होंने उसे दोषी ठहराया। आजीवन जेल भी नहीं। जिन कई दफ़ाओं का उल्लेख कर जहाँ मामला भेजा, वहाँ फाँसी की रस्सी से पशुपति की गर्दन नहीं बचेगी।

हाईकोर्ट में पशुपति दोषी ठहराया गया। फाँसी।

यही नवल को संदेह था। कई दिनों तक मन ही मन बहुत सूक्ष्म विचार करने के बाद भी पशुपति के खिलाफ ऐसा कोई ज़बरदस्त प्रमाण नहीं मिला था जिससे उसे ख़ून के अपराध में दोषी ठहराया जाता। जूरी का मत ही ठीक था। इसलिए इतने दिनों से मन के एक कोने में एक जाग्रत विश्वास और निम्न श्रेणी की भावना की पराजय की कामना करता रहा था। क्यों—क्यों वह सुलभ प्रतिहिंसा की भावना से ऊपर नहीं उठ सका? तब फिर पशुपति और नवलकिशोर में मौलिक पार्थक्य कहाँ है?

लेकिन हाईकोर्ट के फ़ैसले में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पशुपति को फाँसी हुई।

उस दिन उसने ईश्वर से एक और प्रार्थना की थी। उसने क्या कभी ईश्वर पर विश्वास किया है? वह नहीं जानता। अक्षयवट के नीचे जिस दिन उसने अपने पिता की सद्गति की कामना की थी—उस दिन भी क्या उसने विश्वास किया था? वह नहीं जानता।

विश्वास के अभाव में ही उसके जीवन में उसका सम्मान, यश, यह मकान, मोटर और भविष्य की निर्विघ्नता संचित हुई है। पिता से, मुरारी मास्टर से और पशुपति से उसे जो कठोर लांछनाएँ मिली थीं, उन लांछनाओं और अपमानों को एक दिन शिक्षा, सम्मान और धन-संपत्ति ने ढक दिया। भविष्य में भी ढक देगा। अब कोई उसे लांछित या अपमानित करने का साहस नहीं करेगा। कोई भी नहीं।

●

शहर से दूर एकांत में उसका यह छोटा-सा मकान है। यह उसके पढ़ने-लिखने का कमरा है। एक मेज़, तीन कुर्सियाँ और कमरे में चारों ओर आलमारियों में भरी हुई किताबें। जो दो-चार उसके अंतरंग मित्र हैं, उन्हें वह ऊपर ही बुला लेता है। ऐसे-वैसे बाहर के आदमी ड्राइंग

रूम में बैठाये जाते हैं। नवलकिशोर को यह कहना अच्छा लगता है--कहता है, "पत्नी की अपेक्षा पुस्तकें बहुत अच्छी हैं।"

"आजकल क्या पढ़ रहे हो?"

"आजकल? इतिहास का दर्शन और दर्शन का इतिहास।"

"दर्शन? तुम्हारे जीवन में क्या कोई पछतावा नहीं है नवल? कोई दुख?"

"पछतावा, दुख? क्यों?"

"तुम्हें तो कभी नारी का साहचर्य नहीं मिला। प्रेमिका, सेविका, पालिका रमणी का स्वरूप कभी नहीं जान सके। युवती नारी के शरीर और मन में कितना सौंदर्य, कितना विस्मय--यह क्या कभी दर्शन के इतिहास में खोजने पर मिला है?"

नहीं, उसे नहीं मिला है। यह सच है। लेकिन दर्शन तो दर्शन के लिए है तथा इतिहास तो इतिहास के लिए है, युवती के सौंदर्य के लिए नहीं। फिर भी, उस दिन नवलकिशोर के अंतर में जैसे कहीं कुछ हिला-डुला था। अँधेरी गली में ईंट के जोड़ों में स्वतः निकले हुए पीले पेड़ों के पत्तों को जैसे हवा का झोंका हिला जाता है।

अवसर-प्राप्त न्यायाधीश नवलकिशोर ने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। स्त्रियों के अलावा जीवन में और भी अनेक मूल्यवान उपजीव्य हैं। अध्ययन में उसने चार वर्ष बिताये हैं। इस बीच ही शहर में विद्वानों की मंडली में उसके पांडित्य की ख्याति फैल गयी है। लंदन की एक दर्शन पत्रिका में कुछ माह पहले उसका जो प्रबंध प्रकाशित हुआ था, उसकी काफ़ी चर्चा हुई है। शहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति उसका मान-सम्मान करते हैं, उसके प्रति श्रद्धा दिखाते हैं। यह बात नवलकिशोर से छिपी नहीं है।

नीचे से बरतन-भांडे धोने की आवाज़ आ रही है। एक नौकर और एक रसोइया--यही उसकी गृहस्थी है। वे दोनों बहुत दिनों से उसके यहाँ हैं। और, शायद दोनों पक्षों में से जब तक किसी एक पक्ष की पुकार नहीं होती, तब तक रहेंगे।

चार बजे चाय-पान खत्म हो चुका है। सात बजे एक छोटी प्लेट में अनारस या सेब आयगा। अभी तक शरीर ठीक है। किसी बीमारी का शिकार नहीं हुआ है। पान नहीं खाता, तंबाकू नहीं छूता। नियमित रूप से कोई दवा नहीं, परहेज़ का खाना नहीं।

कमरे में ठंढी हवा आ रही है। बाहर रिमझिम बारिश हो रही है। कमरे में गहरा अंधकार है और आरामकुर्सी पर नवलकिशोर। सीढ़ी पर चप्पलों की आवाज़ सुनायी दी। दरवाज़े के पास साड़ी की खस-खस और हवा में मृदु सुरभि। बिजली जली--"अँधेरे में बैठे-बैठे तुम क्या सोच रहे हो, अंकिल?"

नवलकिशोर सीधा हो कर बैठ गया। बिजली की रोशनी से कहीं अधिक रोशनी कर रही है युवती। "पापा ने तुम्हारी खबर लाने के लिए कहा। तुम बहुत दिनों से हमारे यहाँ नहीं आये! क्यों नहीं आये अंकिल? ऐसे अकेले रहना तुम्हें अच्छा लगता है?" युवती आरामकुर्सी के हत्थे पर आ कर बैठ गयी। नवल के कंधे पर एक हाथ रखा।

"पापा का क्या हाल है? कैसे हैं? हाँ, बहुत दिनों से उनसे मुलाक़ात नहीं हुई।

अब किसी दिन ज़रूर आऊँगा, अपने पापा से कहना। अरे हाँ इला, इस पानी में तू क्यों आयी?"

इला के पिता और नवलकिशोर एम० ए० और क़ानून की कक्षा में सहपाठी थे।

"ऐसे मौसम में ही तो घूमने का आनंद है। इच्छा होती है, कहीं दूर—बहुत दूर चली जाऊँ।"

"तब एम० ए० में फ़ेल हो जाओगी, पहले ही कहे देता हूँ।" नवलकिशोर हँसा।

"ऊँहूँ, फ़ेल नहीं होऊँगी। मैं एक खास काम से आयी हूँ, हुक्म हो तो बताऊँ?" नवल के कंधे पर इला कुछ और झुकी। उसके सिर से नहीं, सिर्फ़ बायें कान से इला का उरोज स्पर्श हुआ। वह ज़रा काँप गया। सुगंध—केशों की, साड़ी की, शरीर की।

"कहो।"

"तुम्हारे चाईबासा के मकान में आजकल कौन है?"

"कौन है? हवा है, बगीचा है, फूल हैं और हैं कुछ किताबें।"

"दार्शनिक न बन कर तुम कविता कर सकते थे, अंकिल। कल हमारे कालेज की छुट्टी है, हम लोग चाईबासा चलेंगे।"

"हम कौन?"

"मैं इला, अर्पणा परांजपे और रीता साहनी—मेरी सहपाठिनियाँ। कल सारा दिन वहाँ रहेंगें, खूब ऊधम मचायेंगे और शाम को लौट आयेंगे। तुम्हारा वहाँ नौकर है न? वही खाना बना देगा। हम लोग खाना-वाना बनाने के चक्कर में नहीं पड़ेंगे, समझे अंकिल?"

"खाना बनाना आता भी है?"

"सब आता है, सब आता है। लड़कियों को सब सीखना पड़ता है।"

"कितने बजे तुम लोग जाओगी? किस पर जाओगी?"

"क्यों, तुम्हारे रथ को क्या हुआ? चार जने तो उसमें बैठ ही सकते हैं, दो सामने और दो पीछे।"

"कुछ खाओगी?"

"काफ़ी पी सकती हूँ—काफ़ी और आमलेट।"

"अच्छा, बरामदे में जा कर ज़रा वनमाली को बुलाओ।"

"तुम भी पीओगे न?"

"पी लूँगा, नुकसान क्या है! बारिश ज़ोर से हो रही है न?"

"होने दो! कल सुबह आकाश साफ़ रहना चाहिए!" इला बरामदे में जा कर काफ़ी के लिए कह आयी और एक कुर्सी खींच कर नवल के सामने बैठ गयी।

कुछ देर बाद आमलेट और काफ़ी आयी। बातें करते हुए काफ़ी खत्म हुई। बारिश कभी कम हो जाती थी और कभी तेज़। कुछ देर बाद इला उठी। बोली, "अंकिल, तुम तैयार रहना। ठीक सात बजे।"

"मोटर निकालूँ, तुम्हें पहुँचा दूँ?"

"नहीं-नहीं। इसकी कोई ज़रूरत नहीं।"

इला के पीछे-पीछे नवलकिशोर नीचे तक आया। लोहे के फाटक पर खड़े-खड़े उसने देखा—निर्जन सड़क की रोशनी और छाया का खेल। फुटपाथ पर इला का अनुसरण करती हुई चल रही है उसकी छाया।

कमरे में आ कर अवसर-प्राप्त जज साहब दार्शनिक नवलकिशोर भार्गव कुर्सी पर धप् से बैठ गये।

•

चूड़ीदार पाजामा और कुरता, कंधे पर बरसाती और वाटर कैरियर, बग़ल में हेनरी बर्गसन रचित 'क्रिएटिव इवोल्यूशन' दबाये नवलकिशोर नीचे उतर आया। अभी हाथ-घड़ी में सात बजने में पाँच मिनट बाक़ी हैं। आकाश में काले बादल मँडरा रहे हैं। छोटी मोटर में पच्चीस लिटर पेट्रोल भरवा लिया है। टिफ़िन कैरियर में अंडे की सैंडविच और कलाकंद। बगीचे में बरसात में भीगे हुए दोपाटी और जवा के फूल सुबह की हवा में हिल रहे हैं।

तीनों एक साथ चली आ रही हैं। उनके क़दम एक साथ उठ रहे हैं। इला गुप्ता, अर्पणा परांजपे और रीता साहनी। नवल ने बगीचे की ओर देखा। फूलों के भार से झुकी दोपाटी की शाखा झूल रही है। दोपाटी के फूल में इतना सौंदर्य, उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया था। "अंकिल क्या तुम तैयार हो? मेरा तो ख़्याल था कि तुम्हें सोते से जगाना होगा।"

बरसाती को कंधे पर ज़रा और ऊपर खिसका कर नवल अपने एक कान को कुछ ढक सका।

"यह अर्पणा और रीता हैं।"

शीर्णकाया अर्पणा की आँखों पर मोटे फ़्रेम का चश्मा। चश्मे के भीतर से काजल दिखायी देता है। पतली ठोड़ी नीचे की ओर कुछ झुकी हुई है। इसलिए चिड़िया के घोंसले जैसा जूड़ा उसके मुँह पर जँचता है। सफ़ेद धोती और पीली बूटीदार ब्लाउज़। इसके बाद रीता साहनी। बार-बार नज़र घुमा लेने की चेष्टा करने पर भी नवल सफल नहीं हुआ। सुगठित, स्वस्थ, सुंदर और आकर्षक युवती।

"अंकिल, अब हम लोग चले न?"

"हाँ, हाँ।"

अर्पणा और इला पीछे बैठीं। सामने नवल के पास रीता। यह व्यवस्था किसी ने इच्छा से नहीं की थी। सीट की पीठ पर बरसाती और डैश-बोर्ड में पानी की बोतल रख कर नवल ने मोटर स्टार्ट की। साथ-साथ उन तीनों ने बातें करना शुरू किया। सड़क पर नज़र गड़ाये नवल मोटर चला रहा है। माइलोमीटर की सुई तीस के अंक को छू रही है। न कम न ज़्यादा। घंटे भर तक उन तीनों की जलतरंग जैसी आवाज़ें गूँजती रहीं। रीता ने नवल के शरीर से अपना शरीर छुआते हुए कहा, "अंकिल, ज़रा पानी पीऊँगी।"

बायें हाथ से पानी की बोतल निकाल कर नवल ने आगे बढ़ा दी। रीता ने बोतल में मुंह

लगा कर पानी पिया। यथास्थान रखने के समय तिरछी नज़रों से नवल ने देखा——रंग का दाग़, होंठों का रंग। और, एकाएक उसे भी जैसे प्यास लगी।

पीछे से इला बोली, "क्यों री, मुँह लगा कर पानी पिया। अब अंकिल को प्यास लगेगी तो वे क्या पियेंगे?" साथ-साथ सब हँस पड़ीं।

अर्थशास्त्र की छात्रा रीता साहनी ने अपनी मीठी आवाज़ में उत्तर दिया, "क्यों? यदि मैं अंकिल की कुछ लगती होती तो क्या वे जूठा पानी नहीं पीते?"

हँसी के आर्केस्ट्रा ने इंजन की आवाज़ को दबा दिया।

स्पीडोमीटर की सुई तीस से पैंतीस, पैंतीस से चालीस। नवल ने एक्सीलरेटर पर पैर दबा दिया। पचास, पचपन, साठ। सड़क के दोनों किनारों के पेड़ प्रचंड वेग से आगे आ रहे हैं। हरे दैत्य की तरह, हिंस्र आक्रोश से।

अर्पणा परांजपे ने दाँतों से अपने होंठ दबाये, इला गुप्ता ने अपने आँचल को हवा में उड़ने दिया। रीता साहनी ने अपना दाहिना हाथ नवल की सीट के पीछे रखते हुए कहा, "आः!"

इधर आकाश के मेघ नीचे उतर रहे थे। बहुत दूर पर जैसे कहीं पानी बरस रहा है। दो मिनट बाद ही वर्षा शुरू हो गयी। नवल को लाचार हो कर स्पीड कम करनी पड़ी। पीछे के काँच चढ़ा दिये गये। सामने के दोनों काँच ख़राब हैं। कल रात को नवल को इस बात का कई बार ख्याल आया था। लेकिन कोई उपाय नहीं था। पानी की बौछार उसकी ओर आ रही थी। वह भीग गया। तो भी उसने बरसाती को रीता की ओर बढ़ाते हुए कहा, "इससे अपने को ढक लो।"

रीता ने बरसाती से अपना शरीर ढकने की कोशिश की। नवल एकदम भीग गया। हवा के झोंके से वह रह-रह कर काँप उठता। पीछे कैरियर में रखी हुई अटैची में पाजामा, कुरता और चप्पल हैं। जब तक गीले कपड़े उतार नहीं देता तब तक आराम नहीं। ठंढ वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। बीमार हो जाता है।

चाईबासा पहुँचने में प्रायः और भी एक घंटा लगा। पानी कम हो गया है। शहर के बाहर मकान है। एक मंज़िले मकान के सामने थोड़ी-सी ज़मीन है। लगता है यहाँ फूलों का बगीचा बनाने की चेष्टा की गयी थी। रामावतार दौड़ कर आया। वे मोटर से उतरे। रीता ने बरसाती को मोटर में ही फेंक दिया। अब तक उसे ओढ़ कर जैसे उसने बहुत तक़लीफ़ सही है।

मकान भीतर से साफ़-सुथरा है। कुछ प्रयोजनीय सामान है। रीता ने ख़ुश होते हुए कहा, "बहुत सुंदर जगह है! इतने दिनों से तुमने हमें क्यों नहीं बताया? अब जब आयेंगे तो दो-एक दिन रहेंगे। क्यों?" फिर धीरे से बोली, "जाते वक़्त रामावतार को दो रुपये बख़्शीश दे दूँगी, ताकि यदि मैं कभी जसवंत के साथ अकेली आऊँ तो. . . ."

रामावतार एटैची, टिफ़िन कैरियर और बरसाती ले आया।

"तुम सब क्या खाओगी?" नवल ने पूछा, "वह अभी से बनाना शुरू कर दे, नहीं तो देर होगी।"

"पुलाव और मांस बनवाया जाय" इला ने कहा, "ठीक है न?"

रीता ने पूछा, "बाहर जो मुर्ग़ियाँ हैं, किसकी हैं?"

"यहीं की।" रामावतार ने उत्तर दिया।

"तो फिर दो मुर्ग़ियाँ जबह करो।"

"ऐसा ही करो रामावतार, मुर्ग़ी और पुलाव।" नवल ने निर्देश दिया।

"मेरी साड़ी-ब्लाउज़ एकदम भीग गयी हैं।" रीता नवल के पास आयी, "कोई धोती है? मैं इनको सुखा लूं। आपकी अटैची में धोती नहीं है?"

"धोती तो नहीं, पाजामा है।"

"ठीक है, वही दीजिए।"

अटैची को पूरी तरह खोलने का अवसर भी नवल को नहीं मिला, रीता ने फट से पाजामा और कुरता निकाल लिया। घिरे हुए बरामदे में लड़कियों ने एक-दो चक्कर लगाये और एक कमरे में घुस गयीं। नवलकिशोर कुछ क्षणों तक खड़ा रहा। फिर चप्पलों को पैरों में डाल कर धीरे-धीरे बग़ल वाले कमरे में चला गया। कमरे में प्रायः अंधकार था। चारों ओर की खिड़कियाँ बंद। खिड़की खोलते ही ठंढी हवा आयगी। इसलिए उसने दो झझरियाँ खोल दीं। आलमारी के बग़ल में एकमात्र कुर्सी पर वह बैठ गया। धीरे-धीरे कमरे की आकृति स्पष्ट हो रही है। ठंढ से बार-बार वह सिहर उठता है। निमोनिया के डर से वह काँपा, काँपा मृत्यु के भय से।

कमरे में कोई घुसा। होगा कोई। शायद रामावतार होगा। नवल ने सिर घुमाया। शायद लड़कियों में से कोई कमरा देखने आयी है। उनका अंतहीन कौतूहल है, सब कुछ देखना-सुनना चाहती हैं। कमरे के दूसरे कोने में रखे ड्रेसिंग टेबिल के सामने जा कर युवती खड़ी हो गयी। नवलकिशोर ने फिर देखा, रीता साहनी। कंधे पर उसका ही पाजामा और कुरता है। शीशे में साफ़ नज़र नहीं आ रहा था। हाथ बढ़ा कर रीता ने एक खिड़की खोल दी। ड्रेसिंग टेबिल पर एक किनारे कुरता और पाजामा रख कर उसने अपनी भीगी हुई साड़ी उतारी। हैंगर को लक्ष्य कर उसे फेंका। पीछे, आलमारी के बग़ल में कुर्सी पर अवसरप्राप्त जज दार्शनिक नवलकिशोर बैठा है; यह बताने की इच्छा होते हुए भी उसके मुख से एक शब्द नहीं निकला। सतर्क करने में उसने देरी कर दी है। उसने अपना मुंह घुमा लिया। दीवार पर आँखें गड़ाये रहा। लेकिन व्यर्थ। जीवन में हमेशा संयम-पालन ने नवल के चरित्र को कठोर और तेजस्वी बना दिया था। पर जीवन भर के इस कठोर संयम ने इस क्षण में मर्मांतक प्रतारणा की। उसने फिर देखा, तब तक रीता ने ब्लाउज़ उतार दिया था। ब्लाउज़ से उसने अपना मुंह और बाल पोछे। जिस तरह बनियाइन उतारते हैं, उसी तरह उसने अपनी ब्रेसरी उतारी। सूखे गले में नवलकिशोर ने थूक निगला। कुमारी साहनी ने पेटीकोट को ज़मीन पर ही पड़ा रहने दिया। पाजामे को हाथ में लिये वह कुछ क्षण खड़ी रही। और, नवलकिशोर ने अंतिम प्रार्थना की; रीता उसे न देख पाय, जैसे आयी थी वैसे ही कमरे से चुपचाप चली जाय। जीवन में उसकी और कोई प्रार्थना नहीं है, यहाँ तक कि मृत्यु के क्षणों में कुछ दिनों और जीवित रहने की प्रार्थना भी नहीं।

पर वह प्रार्थना पर निर्भर नहीं कर सका। खड़ा हुआ। अभी भी समय है। पाजामा-कुरता पहनने में जितना समय लगता है, उतनी देर में वह कमरे से बाहर जा सकता है। एक पैर

आगे बढ़ा कर वह अलमारी के पास आया। रीता साहनी ने पाजामे में एक पैर डाला है। दार्शनिक नवलकिशोर ने उसी क्षण यह अनुभव किया कि सीने में छिपा हुआ शांत और निरीह हृदय कितनी भीषण यंत्रणा दे सकता है। और, दूसरा पैर पाजामे में डालने के लिए उठाते ही रीता साहनी ने एकाएक पीछे की ओर मुँह घुमाया। एक अस्पष्ट चीख़ को गले के बीच ही उसने दबा दिया। वह सीधी खड़ी हो गयी। फिर, पाजामा उतार कर उसने खिड़की से बाहर फेंक दिया, कुरता भी। लंबे-लंबे क़दम बढ़ाती हुई वह नवल के सामने आ कर खड़ी हो गयी। हाथ बढ़ा कर उसने ज़ोर से नवल के एक थप्पड़ मारा। चूड़ी की नोंक से नवल के गाल पर खरोंच लग गयी। दाँत किटकिटाते हुए रीता साहनी बोली, "गंदा चार्मचिड़िक, चमगादड़ जैसे कान!"

रीता ने जब लौट कर ज़मीन पर पड़ी हुई अपनी गीली साड़ी उठा ली तब भी नवलकिशोर का हृदय पागल घोड़े की तरह उछल-कूद कर रहा था, छलाँगें मार रहा था।

संपादक,
टिस्को समाचार,
जमशेदपुर (बिहार)।

सार्वजनीन एकता का मूलाधार

परशुराम चतुर्वेदी

विश्व में आज प्रायः सर्वत्र पारस्परिक संघर्ष की मनोवृत्ति काम करती दीख पड़ती है। कोई एक राष्ट्र किसी दूसरे के आगे न केवल किसी साधारण होड़ मात्र की भावना से बढ़ना चाहता है, प्रत्युत वह उसे नीचा दिखाने अथवा नष्ट कर देने तक पर भी तुल जाता है। ऐसा करते समय बहुधा भयंकर युद्धों तक के अवसर आ उपस्थित होते हैं, अन्यथा कम से कम शीत युद्ध की स्थिति बनी रह जाती है। विकासवाद के सिद्धांतों में पूरी आस्था रखने वालों की धारणा है कि यह प्राणिमात्र के स्वभाव पर आधारित है जिसे हम मानव जाति के विगत इतिहास के अनुसार भी प्रमाणित कर सकते हैं। इसीलिए हमारे सामने इसके विरुद्ध कोई चारा नहीं है।

कहते हैं कि जिस समय से मनुष्य को अपनी विशिष्टता का भान हुआ तब से ही वह दूसरे जीवों का, किसी न किसी रूप में, अनुकरण करता आया है। यदि उसमें कोई अंतर भी आया है तो वह केवल उसके विविध साधनों से संपन्न होने में ही दीखता है। पशु आदि प्राणी जहाँ एक दूसरे से लड़ते समय अपने नख, दाँत अथवा पैर आदि अंगों को प्रयोग में लाते थे वहाँ पर इसने अपने लिए अनेक अस्त्र-शस्त्रों का भी निर्माण कर लिया है, तथा जहाँ पर वे कभी-कभी साधारण शारीरिक दाँव-पेच से ही काम ले लिया करते थे, वहाँ पर इसने कूटनीति तथा छल-कपट का भी व्यवहार करना सीख लिया है जिसका, प्रायः अप्रत्यक्ष रहने के कारण, कहीं अधिक भयंकर बन जाना तक सिद्ध होता है। मनुष्य ने अपनी अभ्यस्त विद्याओं तक को अधिकतर ऐसे ही कामों में लगाया है, जिस कारण उससे कोई दूसरी आशा करना व्यर्थ है। अतएव, प्रसिद्ध जर्मन विचारक नीत्शे के अनुसार, यदि विकासवाद के सिद्धांत शाश्वत हैं तथा यदि उसके आधार पर हम कभी किसी 'अतिमानव' के अस्तित्व में आने की कल्पना कर सकते हैं, तो यह अधिक संभावना है कि वह भी अपनी भौतिक शक्तियों का ही विकास करेगा। इस प्रकार उसमें वैसे नैतिक गुणों का प्रायः अभाव ही पाया जायगा जिनके बल पर उपर्युक्त संघर्ष-प्रधान जीवन में कोई सुधार लाया जा सके अथवा किसी आदर्श विश्व-शांति का स्वप्न साकार किया जा सके।

परंतु, जहाँ तक पता है ऐसी मान्यता को कभी सार्वभौम रूप देने की चेष्टा नहीं की गयी। स्वयं यूरोप के ही एक रूसी विचारक प्रिंस क्रोपाट्किन के अनुसार इस प्रकार की धारणा भ्रांतिपूर्ण ठहरायी जा सकती है। उसका कहना है कि मानव ने यदि किसी प्रकार का विकास पाया है तो वह केवल पशुओं की युद्धप्रियता अथवा पारस्परिक द्वंद्वात्मक जीवन के अनुकरण से ही ऐसा

नहीं किया है, प्रत्युत इसके साथ ही उसने उनकी उन कतिपय कोमल वृत्तियों को भी अपनाया है जिनका महत्व कम नहीं है। उनमें अपने बच्चों और वर्ग वालों के प्रति स्नेह और आत्मीयता के जो भाव देखे जाते हैं तथा जो स्वाभाविक आत्मत्याग की वृत्ति क्षुद्र से क्षुद्र प्राणियों तक में कभी-न-कभी लक्षित होती है, उनकी मनुष्य ने भी कभी उपेक्षा नहीं की है। इसने एक ओर जहाँ घोर पाशविक वृत्तियों को प्रश्रय देने में कमी नहीं की है वहाँ दूसरी ओर अनेक ऐसे नैतिक गुणों को भी अपनाया है जिनके सहारे यह अपनी वर्तमान स्थिति को प्राप्त कर सका है तथा जिनके बल पर ही वह उनके रहते हुए भी आगे बढ़ सकता है। इतना ही नहीं, विकासवाद के सिद्धांतों के प्रति अनास्था प्रकट करने वाले अन्य अनेक लोगों ने भी इस प्रकार के ही विचारों का समर्थन किया है। यूरोप के ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस बात को बहुधा इस प्रकार भी कहा है कि सारे प्राणियों को उत्पन्न करने वाला केवल एकमात्र परमेश्वर (God) है जिस कारण प्रत्येक मनुष्य को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि हम एक ही पिता की संतान हैं। उनके अनुसार, अधिकतर इस प्रकार की धारणा के बन जाने के ही कारण मानव जाति अपनी उन्नति करने में समर्थ हो सकती है। ईसाइयों द्वारा प्रचलित की जाने वाली इस 'परमेश्वर पितृत्व' की भावना की ही भाँति विश्व बंधुत्व की भी एक मान्यता है जिसे विशेष कर इस्लाम के अनुयायियों ने अपने आदर्शों में स्थान दिया है। ऐसी विचारधाराओं में विश्वास करने वालों की आस्था इस बात में देखी जाती है कि यदि इनके अनुसार आचरण-व्यवहार किया जा सके तो यह निश्चय है कि इनके आधार पर उत्पन्न भ्रातृभाव हमें सहयोग की शिक्षा देगा तथा यह हमें सदा आशान्वित भी बनाये रख सकता है।

इस प्रकार की प्राणिगत अथवा मानवीय एकता को, इसके मूल आधार को ध्यान में रखते हुए, हम 'धार्मिक' अथवा 'सांप्रदायिक' एकता का नाम दे सकते हैं, क्योंकि इसका स्वरूप किसी न किसी धार्मिक स्वीकृति के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है। इसी कोटि के अंतर्गत हम ऐसी उन भावनाओं को भी स्थान दे सकते हैं जो परमेश्वर की जगह किसी पदार्थ विशेष को उसका मूल स्रोत ठहराती हैं। उदाहरण के लिए, इस्लाम के अनुयायियों का इस बात में पूरी आस्था रखना कि 'खलक़' या सृष्टि का मूल खुदा के किसी 'नूर' विशेष अथवा प्रकाश में निहित है, तथा संत कबीर साहब द्वारा भी कहा जाना कि एक जोति से सभी उत्पन्न हुए हैं अतएव ब्राह्मण तथा शूद्र दोनों में किसी प्रकार का अंतर नहीं है, न किसी एक को ऊँचा तथा दूसरे को नीचा पद प्रदान किया जा सकता है, वैसे ही अभिप्राय को सूचित करता है। किंतु इस प्रकार के भी एक विश्वास को महत्व देना सभी के लिए संभव नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय, हम ऐसी किसी संभावना विशेष को भी प्रश्रय नहीं दे सकते कि सारे मानव-समाज की एकता किसी एक विशिष्ट संस्कृति, भाषा या समाज के आधार पर प्रतिष्ठित की जा सकती है, अथवा इसे किसी विश्वव्यापक संगठन पर आश्रित बना कर इसे कोई राजनीतिक-जैसा नाम दे सकते हैं। विश्व के अत्यंत विशाल तथा वैविध्यपूर्ण दीख पड़ने के कारण हम ऐसे किसी भी बाह्य प्रयास की सफलता में विश्वास नहीं कर सकते। इस बात को हम आज तक के इतिहास में पाये जाने वाले ऐसे अनेक यत्नों की विफलता द्वारा भी सिद्ध कर सकते हैं। विश्व के अनेक मनीषियों ने अपने-अपने आदर्शों

के अनुसार चिंतन करके उसके भावी रूप के सुखद स्वप्न देखे हैं। उन्होंने अपने कुछ ग्रंथों के अंतर्गत उनके विवरण तक उपस्थित किये हैं। परंतु ऐसे सतयुगी लोकों, राम राज्यों अथवा यूटोपिया के रूपों में कल्पित किये जाने वाले आदर्श देशों को हम कभी व्याहारिक स्तर तक उतरते नहीं पाते। इन पर आश्रित समझी जाने वाली एकता का प्रधान दोष उन कतिपय चित्रों में अंकित हो गया दीख पड़ता है जो उनके निर्माण-कर्ताओं के संस्कार विशेष के कारण स्वभावतः उभर जाया करते हैं। अतएव, हम कह सकते हैं कि किसी भी कोरी मान्यता, दशा, संगठन अथवा कल्पना के आधार पर हम सारे मानव समाज की एकता को आधारित करने में सफल नहीं हो सकते।

इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'भावना' भी उपर्युक्त मान्यता तथा कल्पना के ही समान एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। किंतु इन तीनों में, एकता को एक सुदृढ़ रूप प्रदान करने की दृष्टि से, महान अंतर भी दिखलाया जा सकता है। 'भावना' वह मानसिक प्रक्रिया है जिसका स्वरूप साधारणतः किसी वस्तु या भाव विशेष के हमारे मानस-पटल को प्रभावित करने पर, सर्वप्रथम उसके बिंब-सा प्रकट होता है; तथा जो हमारे पूर्व अनुभवों के परिवेश में स्वीकृत हो जाने पर वहाँ पर कोई न कोई स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसे प्रतिबिंब हमारे दैनिक जीवन में बराबर बनते रहते हैं तथा इन्हीं के अनुसार हमें भावनाएँ भी निर्मित करनी पड़ती हैं। यदि हम ऐसी किसी भावना का न्यूनाधिक मूल्यांकन कर के उसके विषय में अपनी कोई न कोई राय भी बना लिया करते हैं तो उसके रूप में कुछ परिवर्तन हो जाया करता है। उस दशा में, हमारे लिए वही किसी 'धारणा' का भी रूप ग्रहण कर लेती है। इस धारणा में भावना की अपेक्षा अधिक स्थिरता या दृढ़ता भी रहा करती है और अधिक दृढ़ मूल बन जाने पर यही हमारे किसी 'मत', 'मान्यता' या 'विश्वास' की कोटि में आ जाती है जो प्रायः किसी भी प्रकार के फेरफार को कभी सहन नहीं कर सकती। इसके विपरीत, कल्पना हमारी वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके लिए हमारे मानस-पटल को किसी बाह्य वस्तु के भाव विशेष का कोई बिंब नहीं ग्रहण करना पड़ता। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो साधारणतः आकाश-कुसुम की भाँति प्रस्फुटित तथा प्रफुल्लित हो जाया करती है। इसी कारण इसके लिए किसी धरातल के आधार का विद्यमान रहना कभी अनिवार्य नहीं हुआ करता। यह किसी तरल या वायवीय ढंग की वस्तु जैसी रहा करती है तथा अपने स्वभावानुकूल चित्र उपस्थित किया करती है। कल्पना कोरे मनोराज्य को प्रश्रय देती है जिस कारण वह मस्तिष्क की वस्तु है। वहाँ विश्वास या मान्यता का संबंध हमारे हृदय के साथ रहा करता है। परंतु भावना इन दोनों के ही क्षेत्र में समान भाव से काम कर सकती है जिस कारण यह अधिक उदार प्रवृत्ति की कहला सकती है।

अतएव, मानवीय एकता अथवा विश्वजनीन एकता का उपयुक्त माध्यम बनने के लिए हमें न तो उस कल्पना की आवश्यकता हो सकती है जो केवल अपनी उड़ान भरने तथा हृदयस्थल की उष्मता से वंचित रह जाने में ही पायी जाती है, न हम उस विश्वास को ही इसके लिए अपना सकते हैं जो किसी एक स्थल पर जम जाने के कारण गतिहीन सा लगा करता है। इसे स्वस्थ रखने या सजग बनाने में न तो हमारी बुद्धि काम आती है, न इसे कभी स्वतंत्रता की बयार ही आया करती

है। इसकी पकड़ में आये व्यक्ति अधिक से अधिक अंधानुसरण मात्र कर लेते हैं। एक में यदि चतुर्दिक भागते रहने का स्वभाव है, तो दूसरे को किसी एक दिशा विशेष को छोड़ कर दूसरी ओर देखना ही पसंद नहीं आता। इसके विपरीत, भावना सर्वप्रथम अपने सुनिश्चित मूल पर आश्रित रह कर उसकी व्यापकता के कारण किसी ओर भी बढ़ने के लिए उन्मुक्त रहा करती है। इसे न तो कल्पना की भाँति किसी ढुलमुल नीति को अपनाना पसंद है, न यह विश्वास की भाँति वैसे किसी बंधन में ही रहना चाहती है। उसका अपने मूल पर आश्रित रहना आत्म-निर्भरता के लिए आवश्यक है, तथा उसका सदा स्वच्छ हवा में साँस लेना उस ताज़गी और विकास-प्रियता के लिए आवश्यक है जिसके अभाव में वह हमारे स्वस्थ जीवन का निर्माण नहीं कर सकती। मानवीय एकता को जब तक हमने किसी धार्मिक विश्वास का रूप दे कर अपनाना चाहा तब तक हमें किसी प्रगति की ओर प्रेरणा नहीं मिली, प्रत्युत कभी-कभी हमें अपनी पतली नली के दूरबीन से देखने के कारण यथावत कोई दृश्य भी नहीं दीख पड़ता। इसके विपरीत, कल्पना-प्रसूत माध्यमों के सहारे विचार करने पर भी हम अपनी दृष्टि कभी कहीं जमा ही नहीं पाये। इसके सिवाय जहाँ तक बाह्य उपकरणों द्वारा अपने समाज को संगठित करने की बात है, इसमें अभी तक इसलिए सफलता नहीं मिल सकी कि इसमें स्वभावतः अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यह संभव है कि बहुत कुछ कर लेने पर भी हमारा कार्य अंत में कहीं अधूरा तथा एकांगी ही न ठहराया जाय।

हमें मानवीय एकता का माध्यम बनने वाली अधिक से अधिक व्यापक भावना के लिए अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण कर के उनके मूल आधार तक जाना पड़ सकता है। इस प्रकार हमें उस किसी ऐसे तत्व का पता लगाना पड़ सकता है जो इस दिशा में हमारे काम आ सके और जिसे स्वीकार कर लेने पर हम, वास्तव में, कोई ऐसी भावना निर्मित कर सकें जिससे हमारे सभी प्रश्न हल हो जायँ। तदनुसार, इस प्रकार विचार करने पर, हमें पता चलता है कि हमारे भीतर कम से कम ऐसे तीन मानसिक तत्व हैं जिन्हें हम सभी ऐसे दूसरों का मूल स्रोत या आधार समझा करते हैं। इन्हें हम साधारणतः 'चेतना', 'संवेदन' तथा 'संकल्प' के नाम देते हैं। इनका काम हमारे भीतर क्रमशः ज्ञान, भाव और आकांक्षा को जाग्रत कर उन्हें रूप देना रहता है। इनके अस्तित्व की कल्पना हमारे जीवन के परिवेश में ही की जा सकती है, और ये कभी हमसे पृथक नहीं समझे जा सकते। हमें इन्हीं के द्वारा कोई न कोई आंतरिक अनुभूति हुआ करती है जिस कारण हम उसे 'व्यक्तिनिष्ठ' का भी नाम दिया करते हैं।

परंतु इस व्यक्तिनिष्ठ शब्द द्वारा यह सूचित होता है कि वह किसी व्यक्ति की अपनी निजी संवेदनाओं तक ही सीमित होगी। और उसके साथ इसी कारण कतिपय व्यक्तिगत विशेषताएँ भी लगी रहेंगी और वे दूसरों के लिए अज्ञात तक भी हो सकेंगी। किंतु इसके विपरीत, किसी 'वस्तुनिष्ठ' अनुभूति के लिए हम कभी ऐसा नहीं कह सकते। वह किसी व्यक्ति विशेष के भीतर की बात न रह कर अन्य व्यक्तियों के लिए भी लगभग एक ही ढंग से सुलभ हो कर उन्हें भी प्रभावित कर सकती है कि वह हमारे भीतर किन्ही मानसिक चेतनाओं के संचित रूप में पायी जाती है। उनके क्रम-विशेष अथवा विशिष्ट व्यवस्था के ही अनुसार हम

अपने उस अनुभव के स्वरूप का परिचय भी दे सकते हैं। उनका आधार हममें से प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति अथवा वातावरण के अनुसार एक-दूसरे से भिन्न रहने के कारण, वैसे क्रम की व्यवस्था में भी बहुत कुछ भिन्नता आ गयी रहती है। हम कह सकते हैं कि इस प्रकार पायी जाने वाली विभिन्नता के ही कारण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके एक दूसरे से भिन्न होने का समाधान भी किया जा सकता है। अतएव, यदि हम वैसी विशेषता को दूर कर सकें तथा इस प्रकार हमारी मूल चेतना का केवल विशुद्ध रूप ही रह सके तो संभव है, उक्त प्रकार के भेद की संभावना भी दूर हो जाय। इसी कारण, अपनी मूल चेतना का निर्विषयीकरण तथा शुद्धीकरण बहुत महत्वपूर्ण है, जैसा योगाभ्यास द्वारा चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा बौद्ध सिद्धों के मनोमारण की क्रिया में भी देखा जा सकता है। फलतः सर्वथा विशुद्ध चित्त अर्थात हमारी मूल चेतना का वास्तविक रूप किसी व्यक्ति-विशेष के भीतर एक दूसरे से तत्वतः भिन्न नहीं हो सकता। जिसका एक परिणाम यह भी निकाला जा सकता है कि यदि वैसी चेतना के विषय में सामूहिक रूप से विचार करने लगें तो वह अंततोगत्वा हमें मूलतः एकमात्र और एक दूसरे से अभिन्न भी ज्ञात होगी। दूसरे शब्दों में, यदि हम चाहें तो उसी को केवल 'विश्व-चेतना' जैसा नाम भी दे सकते हैं। इस प्रकार वह सारी विभिन्नताओं में भी अभिन्न हो सकती है।

यही विश्व-चेतना वह एकमात्र वस्तु हो सकती है जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का मूलतः एक होना सिद्ध किया जा सकता है। इसके हम सभी के भीतर पाये जाने के कारण, इसे हम अपनी 'अध्यांतरित' अनुभूति का विषय भी कह सकते हैं। स्पष्ट है कि इसके अस्तित्व का बोध हमें अपनी निजी अनुभूतियों के सहारे हो सकता है। इसे हम अपने तर्क के आधार पर भी सिद्ध कर के इसके विषय में अपनी कोई धारणा निश्चित कर सकते हैं। इसके सिवाय, इसके द्वारा उपर्युक्त प्रकार से मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति के भीतर किसी एकता का भान होने लगने पर हमें उस तत्व का पता भी चल जाता है जो हमारी 'आध्यात्मिक एकता की भावना' का मूलाधार है। इस विश्व-चेतना को ही उपनिषदादि भारतीय ग्रंथों में, तथा कहीं-कहीं अन्यत्र भी, 'आत्मा' की संज्ञा दी गयी मिलती है। इसी को प्रायः 'परमात्मा' तथा प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्गत पाये जाने वाले इसके अंश-विशेष को 'जीवात्मा' कहा गया मिलता है। इस कारण इसके आधार पर संपूर्ण मानव-समाज की मौलिक एकता या 'आध्यात्मिक एकता' कहा जाना भी सार्थक हो सकता है। इसके लिए हमें किसी प्रकार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह सर्वथा अनुभवगम्य है। इसके लिए हमें किसी दृढ़ विश्वास के स्तर तक जाने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसे हम अपने प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा जान कर इसके विषय में पूरा तर्क भी कर सकते हैं। यदि हममें ऐसी एकता की भावना आ जाय तो यह निश्चय है कि इसके सर्वथा मौलिक तथा मूलगत होने के कारण हमें न केवल सब के साथ एकता का भान आप से आप होता रहेगा, प्रत्युत इसके साथ हमें यह भी प्रतीत होगा कि जो कुछ भिन्नताएँ हमें एक दूसरे के बीच दीख पड़ती हैं वे केवल बाहरी तथा अवास्तविक मात्र ठहरायी जा सकती हैं, तथा इसी कारण हम उनकी उपेक्षा भी कर सकते हैं। इसके सिवाय, यदि हम केवल परमेश्वर के पितृत्व के आधार पर किसी एकता का अनुभव करने का प्रयास करते हैं तो कदाचित यह भी तर्क किया जा सकता है कि संभव है हममें से कोई कभी अपने विश्वास में

कमी आ जाने पर उस पिता के प्रति पूरे अनुशासन का पालन न कर सकता हो, अथवा इसी प्रकार हम मानवीय भ्रातृत्व के विषय में भी ऐसे विचार प्रकट कर सकते हैं। परंतु जो बात न केवल हमारे तर्क तथा अनुभूति प्रत्युत दोनों प्रकार के आधार पर सिद्ध की जा सकती है उसके लिए इस प्रकार सोचना कम संभव होगा।

हमें ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने इस बात पर पूर्णरूप से चिंतन किया था। इसी कारण, उन्होंने इस एकता वाले तथ्य की चर्चा करते समय अनेक महत्वपूर्ण कथन भी किये थे जिनमें से कुछ को यहाँ पर उद्धृत कर देना असंगत न होगा। **'ईशावास्योपनिषद'** में कहा गया है—**"जो कोई सभी प्राणियों को अपने में देखता है तथा अपने को भी उसी प्रकार उन सभी में देखा करता है, वह किसी के प्रति कोई जुगुप्सा का भाव नहीं रख सकता। यदि सभी प्राणियों को किसी ने अपने आप में जान लिया उस दशा में उस एकता को दृष्टि में रखने वाले के लिए कैसा मोह और कैसा शोक ?"**[1] इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद में इसी बात को इस प्रकार भी कहा गया मिलता है—**"अरे, यह जान लो कि हम किसी लोक-समूह के प्रति यदि अपना प्रेम प्रकट करते हैं तो वह इसलिए नहीं कि हम उसे ही अपना प्रिय समझते हैं, प्रत्युत हम उसे, अपनी आत्मा होने के नाते, प्रियपात्र समझा करते हैं।"**[2] इसलिए **श्वेताश्वतर उपनिषद** में इसका कारण **"एक ही देव सब किन्हीं भूतों में अंतर्हित है"**[3] कह दिया गया जान पड़ता है। **'ऋग्वेद'** में भी एक स्थल पर सबको संबोधित करके यह कहा गया मिलता है कि **"तुम सभी के उद्देश्य और संकल्प एक हों, सबके हृदय एक समान हों, सबके विचार एक से हों, जिससे सबके कार्य भी कल्याणमय सिद्ध हो सकें।"**[4]

इधर के महान भारतीयों ने भी इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की है और उक्त आध्यात्मिक एकता की भावना को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। श्री अरविंद का कहना है कि **"आत्मा की एकता ही एकमात्र तथा वास्तविक एकता है और यही विश्व की सभी प्रकार की अनेकताओं के अनुस्यूत है।"**[5] श्री अरविंद ने अन्यत्र भावी 'अतिमानव' के विषय में नीत्शे की धारणा

---

[1] **"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥**

[2] **"न वा अरे लोकानां कामाय, लोकाः प्रिया भवन्ति।**
आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति ॥"
—बृहदारण्यकोपनिषद अ० ४, ब्रा० ५ मं० ६।

[3] **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः।"—श्वेताश्वतरोपनिषद अ० ६ मं० ११।**

[4] **समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।**
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ मं०१० सू० १९१ मं० ४।

[5] "Equality of the spirit is the sole real equality, oneness which is for ever immanent in all the multiplicities of the Universe."—Journal of the Indian Philosophy and Culture, Sept. 63, p. 202.

की आलोचना करते हुए उसके भी सारतत्व को इस प्रकार दिया है, "अतिमानवता भी वस्तुतः उस आध्यात्मिक तथा संतुलित निरपेक्ष के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है जो मानव के पूरे सारतत्व का हो।"[६] इससे इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार श्री रवींद्रनाथ का भी कथन है—"उस एक को ही विश्व के अंतर्गत और स्वयं अपने आप में भी अनुभूत करो, और जो ऐसा करता है वही उसे विश्व की विचित्रताओं में स्थापित कर पाता है। उसे ही अपने ज्ञान द्वारा आविष्कृत करो, अपने कर्मों द्वारा प्रतिष्ठित करो, प्रेम द्वारा उपलब्ध करो और अपने जीवन द्वारा उसका प्रसार करो। भारतवर्ष ने नाना बाधा-विपत्तियों तथा दुर्गतियों-सुगतियों के बीच रहते हुए भी बराबर यही किया है।"[७] इस एक भावना के दृढ़ होते ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक भेदभाव अपने आप तिरोहित होते दिखायी देने लगेंगे। इस एक के अभाव में जितने भी जोड़तोड़ होंगे वे सभी 'ताशघर' के समान भरभरा कर ढहते रहेंगे। वास्तव में भावना के मूल में अंतर्दृष्टिजन्य चेतना का आधार भी अपेक्षित है जिसके अभाव में स्थायी एकता कदापि संभव न हो सकेगी।

वकील,
बलिया।

---

[६] "For what is supermanhood, but a certain divine and harmonious Absolute of all that is essential in man."—Quoted on p. 140 of Studies in Aurobindo's Philosophy : Dr. S. K. Maitra.

[७] "एक के विश्वेर मध्ये ओ निजेर मध्ये अनुभव करिया सेई एक के विचित्रेर मध्ये स्थापन करा, ज्ञानेर द्वारा आविष्कृत करा, कर्मेर द्वारा प्रतिष्ठित करा, प्रेमेर द्वारा उपलब्धि करा एवं जीवनेर द्वारा प्रचार करा—नाना बाधा-विपत्ति, दुर्गति-सुगतिर मध्ये भारतवर्ष ईहाइ करिते छे।"—'भारत-आत्मार वाणी'—श्री जगदीशचंद्र घोष; भूमिका, पृ० २ पर उद्धृत।

दृष्टि की ईहा और चश्मों के मसीहा

केशवचंद्र वर्मा

साहित्य में इधर जब से 'अंधानुकरण' और 'नये भावबोध' के बीच केवल एक घपले की ही स्थिति मात्र मानी जाने लगी है, तब से मेरा दिमाग़ अजीब चक्करों में भटकने लगा है। अक्सर मुझे लगता है कि मेरी दृष्टि पर एक धुंध परदा पड़ गया है। क्योंकि जब-जब मैं दीवारों को छोड़ कर बाहर आना चाहता तब किसी न किसी 'अंधी गली' में मुड़ जाता, 'अंधे युग' में फँस जाता और तब हर क्षण यह डर लगा रहता कि कहीं किसी ऐसे 'अंधे कुँए' में न कूद पड़ूँ कि मेरी सारी चिल्लाहट उस नैपथ्य की आवाज़ की तरह रह जाय जिसे आजकल लोग सिर्फ़ 'इफ़ेक्ट' (प्रभाव) की तरह इस्तेमाल करते हैं।

इसीलिए मैंने अक्सर यह चाहा कि इस नये भावबोध के गोरखधंधे में किसी तरह ऐसे कोण से घुसूँ कि मेरी आँखों का धुंध—यह मोतियाबिंद—जो मुझे पूरी तरह से किसी चीज़ को जानने से रोक देता है, उसका जाला सफ़ाई से कट जाय। मेरी परेशानी देख कर मेरे दोस्तों ने चश्मा लेने की सलाह दी। जाने क्यों चश्मे के नाम से ही मुझे एक आरोपित दृष्टि का अहसास होने लगता है। इसीलिए उससे सहज चिढ़ होने लगती थी। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि विद्वत्ता, गंभीरता, महानता और टिकाऊपन—ये सब चश्मे के रास्ते से बड़ी सहजता से आ जाते हैं। नये भावबोध के एक आधुनिक अन्वेषक तथा 'राहों के खोजी' होने के नाते सीधे चश्मे से तो नहीं, लेकिन उस दरवाज़े से घुस आने वाली इस सहज शोभायात्रा के प्रति जाने क्यों मेरा बड़ा लगाव रहा है। इसीलिए अपनी चिढ़ और 'आरोपित दृष्टि' के कलंक की आशंका के बावजूद मैंने अपनी दृष्टि को सुधारने का बीड़ा उठा लिया और अपने लिए चश्मे की खोज में निकला।

बिना विशेष ज़हमत उठाये ही चश्मा हाथ आ जाय, इसके लिए मैं पटरियों से लगी हुई एक दूकान पर जा पहुँचा। पुरानी चाल की इस दूकान में—घड़ियाँ और चश्मा दोनों एक साथ

मिल सकते थे। काल और दृष्टि का अच्छा हिसाब जुटाया था ब्रजवंसी मास्टर ने। यह चर्चा थी कि ब्रजवंसी मास्टर अपने काम के उस्ताद थे। एक वहुत पुरानी गोल फ़ेल्ट टोपी, आँखों पर कटे अद्धे शीशे का डोरे की कमानी से 'एडजस्ट' होने वाला पुराना चश्मा, खोयी हुई जवानी का आभास देने वाला बालों और मूँछों पर हल्का ख़िज़ाब, हल्का डोरिया सुरमा, बारहों महीने मलमल का कुरता और ऊबड़खाबड़ता को समरस करती उनके हाथ में एक छोटी हथौड़ी—यह सब ब्रजवंसी मास्टर की अपनी विशेषता थी। कहते हैं कि वह पत्थर का चश्मा लगा देते थे। टूटे हुए शीशों वाले ढक्कनदार बक्सों में धूल फाँकते वे पत्थर के टुकड़े भला कैसी दृष्टि देते होंगे—यह मेरे मन की एक सहज जिज्ञासा थी। सो मैंने ब्रजवंसी मास्टर से अपनी दृष्टि के धुंधेपन को काटने के लिए हाथ जोड़े।

ब्रजवंसी मास्टर मुस्कराये, "बाबू साहब! . . .अब आप आ ही गये हैं मेरी दूकान पर तो देखिए. . .क्या चीज़ लगा देता हूँ कि जहाँ भी आप जाइएगा बस नज़्ज़ारे देखिएगा, गुलगुली गलीचन की हरियाली आँखों में लहरायगी और. . ." वे गद्गद हो कर बोले, "भइया याको लगाय के तुमको राधिका ही राधिका दिखायगी।"

जिसके लिए मैं चश्मा चाहता था उसमें नज़्ज़ारों, हरियालियों और राधिकाओं का उतना महत्व न था तो भी उनसे बहुत परहेज़ भी नहीं था। मैंने सोचा—चलो इस चश्मे से बहुत कुछ देख लूँगा और यह नज़्ज़ारा मिलेगा तो वह समझो घाते में। उन्होंने अपनी गंदी धोती के छोर से धुंधे चश्मे के शीशे को और भी गंदा करते हुए मेरे कान झुकाये और उनमें चश्मे की कमानी फँसा दी। मैंने आँखे मुलमुला कर देखा—फिर उन्हें मल कर साफ़ किया और फिर देखा. . .फिर उस पत्थर के चश्मे के बीच से अपनी दृष्टि को सम्हाल कर फेंकते हुए फिर देखा—बहुत ही अजब नज़्ज़ारा था।

गुलगुली गलीचन की हरियाली के बीच मनहरण छंदों पर लदी 'कैधों' की एक पूरी बारात मेरे ऊपर चढ़ती चली आ रही थी। . . .तरह-बे-तरह के 'कैधों' एक दूसरे से सटे हुए, चित्र-विचित्र रूपों में. . .।

चढ़ती हुई बारात के इस आयाम से मैं घबड़ा गया। ब्रजबंसी मास्टर का चश्मा मुझे रास नही आयगा, यह मैं समझ गया।

उसी घबराहट में मैंने चश्मों की दूसरी दूकान की तलाश की। बड़ी सड़क से नीचे उतर कर नाले के पास जहाँ ठेले वाले मज़दूर खड़े रहते हैं, उसी गलियारे में इस डाक्टर ने अपनी दूकान खोली थी। उस गंदे, मैले और पसीने से भरे वातावरण में वह दूकान सिर्फ़ दृष्टि के लिए चश्मा ही नहीं देती थी बल्कि दाँतों का इलाज करके चबाने के लिए नकली सेट भी लगा देती थी। मैं इस दूकान के डाक्टर को बहुत दिनों से जानता था। शरीर से खासे भारी-भरकम और हृष्ट-पुष्ट लगने वाले ये 'डाक्टर' साहब खाली वक़्त में ठेले वाले मज़दूरों को भड़काते थे, जो भूल से भी उस गली से निकला उसके हाथ अपनी दूकान पर रखे पुराने अखबार और पत्रिकाएँ बेंच खाते थे, खाली वक़्त में सरकार की निंदा कर के जी बहलाते थे और सड़क पर रिक्शेवाले को भाड़ा चुकाते समय हमेशा किचाइंध करते हुए दिखायी देते थे। सड़े हुए अखबार, खोखले दांत वाले मुंह

के चित्र, पेट और दिमाग़ के नक्शों से भरपूर उस दूकान का नाम उन्होंने रख छोड़ा था—'नज़र !'

इस सब पर नज़र फेरता हुआ मैं भीतर घुसा तो उन्होंने पहले मेरी ओर कुछ शक्की निगाहों से देखा और फिर सहसा अपने पुराने अखबारों की चर्चा करते हुए बोले, "इसमें से कोई ले लीजिए...देखिए, देखिए...मैं कहता हूँ कि लोग बेकार नयी पत्रिकाओं और अखबारों के चक्कर में अपने पैसे बरबाद करते हैं। इन्हें ले जाइए...पढ़िए...ये सारी चीज़ें आज की आँख से देखिए तो खबर की खबर और ज़रा सा दिमाग़ खोलिए तो इतिहास का मज़ा भी आ जायगा।.. इन ठेलेवालों को देखिए...मैंने यही सब सुना-सुना कर इनकी यूनीयन बनवा दी !...अब ये इतिहास में यूँ चले जायेंगे जैसे..."

सहसा मुझसे यह जान कर कि मुझे अख़बार नहीं, चश्मा लेना है—उनकी वाछें खिल गयीं, "ओहो ! तो यह बात आपने पहले ही क्यों नहीं कही ?...यहाँ का तो ख़ास चश्मा है...जिसने एक बार इस 'नज़र' का चश्मा लगाया...वह ज़िंदगी भर दौड़-दौड़ कर यहीं आता रहा... बात यह है साथी, कि मैं देशी माल तो रखता नहीं...इसे लगाइए तो आपको ख़ुद समझ में आयगा कि इंटरनेशनल जैसी भी एक चीज़ होती है !...बात यह है साथी, कि इस 'नज़र' का चश्मा वह करिश्मा दिखाता है कि बस...लगाइए...उठाइए, उठाइए..."

मैंने अपनी आँखों की तरफ़ इशारा किया। उन्होंने मुँह बिचकाते हुए कहा, "कोच्छ नहीं ! ...सब ठीक है... कोई सा ले लीजिए...सब एक ही जैसे हैं...हम कोई दस चश्मे और दस शीशे नहीं रखते...यह तो करामाती चश्मा है, जब चाहो, जिसको चाहो उसे लगा दो और उसमें से सदा यही एकरस दृष्टि...सब की आँखों के लिए एक ही नजर...क्या अमीर क्या ग़रीब...क्या जवान क्या बूढ़ा...क्या बच्चा क्या औरत...क्या मर्द... और क्या कोल्हू का बैल..."

मैंने एक चश्मा उठा कर लगाया। आँखों की धुंध पर एक गहरा शोख़ लाल रंग फैल गया। सब कुछ दय लालोलाल ! 'जित देखूँ तित लाल !', गाय भी लाल और भैंस भी लाल ! इतना सारा फैला हुआ लाल रंग और एक लिपीपुती दृष्टि ! मुझे उबकाई आने लगी। इतनी उलझन लगी कि मैंने उनका चश्मा उतार कर उनके हाथ में पकड़ा दिया। चश्मा हाथ में वापस लेते हुए वे रुखे स्वर में बोले, "लाइए, लाइए...आपसे क्या चलेगा !...यह मेहनत की कमाई वाले खरीदते हैं।...इसे लगाने के लिए इतना बड़ा कलेजा होना चाहिए।...आप कहीं किसी ऊँची दूकान में जा कर देखिए... किसी सेठों वाली दूकान में..."

मैं दूकान से नीचे उतर पड़ा। वे बड़बड़ा रहे थे—'पिट्ठू'...'बिका हुआ'...'एजेंट कहीं का'...! मैंने सब अनसुना कर दिया। अब मैं समझ गया कि किसी अच्छी दूकान में गये बिना चश्मा नहीं मिलेगा। अपनी नज़र के साथ इस तरह खिलवाड़ करना मुझे ठीक नहीं लग रहा था। इसीलिए अबकी बार बिना अपने मनीबेग की परवाह किए हुए, मैं एक सजी-सजायी आधुनिक दूकान में घुस गया।

यह दूकान ज़रा बाज़ार से हट कर बिठायी गयी थी इसीलिए अपने निरालेपन से लोगों

का ध्यान आकर्षित कर लेती थी। उस तरफ़ उठने वाली हर नज़र एक बार उस दूकान के भीतर खींच ले जाती थी। मैं ऐसे बहुत से लोगों को जानता था जिनकी दृष्टि एकदम ठीक थी, लेकिन फिर भी इस दूकान से अपना रागात्मक बोध बनाये रखने के लिए चश्मे ले गए थे। ये सब लोग इस दूकान की विचित्रता से प्रभावित थे। इस विचित्रता में सबसे प्रमुख यह थी कि दूकान चश्मे का व्यापार करती थी लेकिन विज्ञापन करती थी—तुरत तैयार, सिले हुए कपड़ों का! उसकी सजावट भी अनोखी थी—बच्चों के हाथ के बनाये हुए चेहरे और उन पर फ़िट की हुई दृष्टियाँ, बैठने के लिए बाँस के स्टूल, बैठ कर खड़े होने के लिए खपच्चियाँ और बैसाखियाँ, चारों तरफ़ दौड़ते हुए सामानों का आभास। कुल मिला कर, एक भीड़-भाड़ और जटिलता का ऐसा वातावरण कि दूकान के भीतर बैठ कर भी 'ट्रैफ़िक' से भरी सड़क पर खड़े होने का बोध होता था। दूकान मैं पहले भी अंदाज़ चुका था मगर दूकान में दूकानियत—मुनीम और काउंटर—न होने पर भी जेब पर गहरी चोट आने का अंदेशा बराबर बना रहता था। इसीलिए मैं बाहर-बाहर से देख कर भी भीतर घुसने से कतराता रहा। लेकिन आखिर आँख का मामला था, कब तक और कैसे बचाता? सो उस दूकान में घुसा।

मुझे दूकानदार-मंडल ने बड़ी तेज़ निगाहों से देखा और देख कर यूँ टाल गये जैसे देखा ही नहीं। मेरी निगाहें धुंधी थीं लेकिन जाने कैसे ये सारी चीज़ें मुझे कोई छठी इंद्रिय दिखा जाती है। मैं चुपचाप बाँस के स्टूल पर एक तरफ़ बैठ गया। थोड़ी देर में दूकानदार-मंडल के एक नवयुवक सदस्य ने मुझे एक उँगली से इशारा कर के बुलाते हुए पूछा, "क्यों, चश्मा ही चाहिए न?"

मैंने हुँकारी में सिर हिलाया तो बोले, "कौन सा चाहिए? दूसरे कैसे दिखें, इसके लिए या दूसरों को तुम कैसे दिखो, इसके लिए चश्मा चाहिए? अगर दूसरों के लिए चाहिए तो भीतर जाओ और अगर अपने लिए चाहिए तो उस तरफ़ जाओ . . . !"

मुझे अपने लिए ही चश्मा चाहिए था इसीलिए दूसरी तरफ़ चला गया। इस तरफ़ घूमते ही दूकानदार-मंडल के दूसरे बुज़ुर्ग दीखने वाले सदस्य ने मेरा भार सम्हाल लिया। बोले, "क्या चाहते हैं, क्यों चाहते हैं?"

मैंने अपनी दृष्टि की ओर इशारा किया। वे बड़ी नाटकीय मुद्रा में बोले, "अपनी नाक की नाप से कोई चश्मा उठा लो। . . .देखो . . .बस नाक की नाप! . . .अब आपकी आँख सिर्फ़ आपकी नाक की नाप से चलेगी! . . . मुँह न देखिए मेरा . . . वह सब पुरानी चाल की दूकानों में मिलेगा मिस्टर! जो आप चाहते हैं कि आँख का चश्मा लीजिए तो पहले आँख की पड़ताल करा-इए! अब 'लेटेस्ट' यह है कि नाक ही की नाप से काम चल जाता है. . .समझे? . . .जैसे मोज़े का नाप मुट्ठी से!"

दूकानदार-मंडल से निकले इस ओजस्वी भाषण और तर्क से मैं चकाचौंध ज़रूर था इसी-लिए मैंने अपनी नाक की नाप से चश्मा चढ़ाया। मोटे-मोटे लाइब्रेरी-फ़्रेम के भीतर लगी हुई प्लास्टिक और नायलॉन की झिल्लियाँ मेरी आँखों के आगे एक मनोरंजक और अद्भुत नज़ारा देने लगीं।

जो भी चश्मा उठाता उससे मैं केवल एक ही व्यक्ति को देख सकता था। वही दूकानदार-

मंडल के सदस्य अपने चौखूँटे, वृत्ताकार, अर्धवृत्ताकार, खड़े और त्रिकोणात्मक अनेक आयामों में दिखायी देने लगे। हर बार सिर्फ़ एक। कुछ देर तक वे चश्मे आनंद देते रहे। मैंने अपनी नाक कुछ सिकोड़ी तो उसने दूसरा चश्मा उठा कर मुझे दे दिया। कौतूहलवश यह भी लगाया।

उफ़! यह तो और भी सनसनीख़ेज़ और रोमांचकारी चश्मा था। अब तो मैं केवल तरह-तरह के खंडित व्यक्तित्व ही देख सकता था—एक लंबी नाक, एक छोटा कान, एक बड़ा भारी दाँत, एक बहुत लंबा टूटा हुआ बाल, रिक्शे का एक पहिया, साइकिल का एक ब्रेक, सड़क का एक गढ़ा—बाक़ी सब कुछ दृष्टि से परे—आउट आफ़ फ़ोकस।

मैंने दूकानदार-मंडल के तीसरे सदस्य के पास जा कर अपनी विपत्ति बताते हुए कहा कि मैं खिलवाड़ के लिए चश्मा नहीं ख़रीदना चाहता बल्कि मुझे सचमुच ही दृष्टि चाहिए। मेरी विपत्ति सुनते ही वह कुछ चिढ़ गये और एकदम भिन्ना कर बोले, "देखिए मिस्टर! आप बेकार टाइम बरबाद कर रहे हैं, अपना भी और हमारी इस दूकान का भी। जो आप इस चश्मे से देख रहे हैं बस वही दृष्टि है। इससे अधिक देखने की आपको ज़रूरत ही नहीं है। जो 'रेलेवेंट' है, जिससे आपका मतलब है, वह सिर्फ़ इतना ही है जो आप देख रहे हैं। बाक़ी सब बकवास है! . . . आप पूरी सड़क देखना चाहते हैं, उस पर चलते हुए दर्जनों रिक्शे देखना चाहते हैं, आदमियों की भीड़-भाड़ देखना चाहते हैं, उनका नखशिख वर्णन चाहते हैं, उनको देखना चाहते हैं जिनसे आपको सारी ज़िंदगी कोई मतलब नहीं है तो आप चौक चले जाइए। वहाँ यह सब ख़रीद लीजिए! . . . मैं आपको ख़ूब पहचानता हूँ मिस्टर! पिछले कई सालों से आप चश्मे की दूकानों में गड़बड़झाला और 'बंगलिंग' करते रहे हैं। . . .आप जैसे लोगों के लिए यह दूकान खोली ही नहीं गयी है. . . आप को तो. . ."

मैं मन मार कर बाहर निकल आया। दूकान के भीतर जितनी जटिलता थी, बाहर सड़क पर उससे कुछ कम ही थी। जाने कैसे बाहर आते ही मुझे अपनी नज़र कुछ ज़्यादा साफ़ लगने लगी क्योंकि एकदम ठीक सामने पड़ने वाली अंधी गली को मैं इस बार पहचान गया और उससे साफ़ बच गया। लेकिन हर किसी से टकराना और उससे प्राप्त संज्ञा को बचा कर अपने अंधेपन को युग पर थोप कर चैन की बंसी बजाना—इस दृष्टि की ईहा अब भी शेष है।

६५, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद।

संदर्भों के बीच

बंबई की डायरी : पहला पृष्ठ

अवध नारायण मुद्गल

२५ मई, १९६४

"अरे भाई, आश्चर्य तो यह है कि मुझे पता है कि मैं अपने घर जा रहा हूँ। यह भी पता है कि मेरे बीवी और बच्चे हैं। इससे बड़ा आश्चर्य यह है कि मुझे अपने बच्चों की संख्या सही-सही याद है और, अगर आप मज़ाक न समझें तो, सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि मेरे बच्चे मुझे ही अपना पापा समझने, मानने और पहचानने में कभी भूल नहीं करते।" वह सज्जन मर्सिया और सोहर-गीतों के बीच गुज़र रहे थे। यदि उनकी आँखों में मिट्टी के दीपों सी मद्धिम, पीली चमक न होती तो मुझे उनका चेहरा देख कर 'दिवाली' की रात कभी याद नहीं आती; एक ऐसी बियावान रात में से मैं अपने आपको गुजरता महसूस करता जिसमें रोशनी पर मज़ाक करने के लिए तारे भी नहीं होते।

"हाँ भई, मैं झूठ तो बोलता हूँ—सिर्फ़ देर की स्थिति में—आफ़िस में साहब से, और घर में बीवी से। लेकिन मुझे यक़ीन है कि आप इन दोनों में से कोई नहीं।" और वह ज़ोर से हँस पड़े। मैं भी अपनी झेंप और हँसी, दोनों को ही नहीं रोक सका। वह सज्जन फिर कहने लगे, "अब आप ही देखिए, जब मैं घर से चलता हूँ तब अँधेरा रहता है और बच्चे सो रहे होते हैं, और जब घर वापस पहुँचता हूँ तब भी अँधेरा रहता है और बच्चे सो रहे होते हैं। उस समय मैं सोचता हूँ जैसे बहुत कुछ घट जाने के बाद भी कहीं कुछ भी नहीं घटा है, और मुझे लगता है, या तो वक़्त 'सुपरसानिक स्पीड' से भाग रहा है और हम ठहरे हुए हैं, या हम 'सुपरसानिक स्पीड' से भाग रहे हैं और वक़्त अपनी क़ब्र में जहाँ का तहाँ लेटा है।"

"आप ठीक कहते हैं भाईजान! हममें और वक़्त में, दोनों में ही, कहीं न कहीं एक-एक क़ब्र ज़रूर है और उस क़ब्र के पूरे ठहराव के ऊपर से हज़ारों मील प्रति घंटा की रफ़्तार से आँधियाँ और तूफ़ान गुज़र रहे हैं; लेकिन हम उन्हें उसी रफ़्तारी रूप में महसूस नहीं कर पा रहे।" मैंने प्रश्नवाची उत्तर दिया।

"महसूस क्या ख़ाक करें। महसूस भी वक़्त के हिसाब से किया जाता है और हमारे पास वक़्त ही कहाँ है?—ख़ासतौर पर महसूस-वहसूस करने के लिए फ़ालतू वक़्त! सप्ताह में सोमवार से शनिवार तक हम चलते हैं और वक़्त हमारे साथ नहीं चलता, इतवार को वक़्त चलता है और हम उसके साथ नहीं चल पाते; फिर भला बताइए, हम कुछ भी महसूस कैसे कर सकते हैं? व्यक्तिगतरूप से मुझे यह भी महसूस नहीं होता कि मैं आदमी हूँ, या मेरी बीवी का स्वास्थ्य, सौंदर्य या रूप कैसा है, अथवा मेरे बच्चों की सूरतें कैसी हैं?" वह आवेश में लगते थे। उनके चेहरे पर अँधेरा और अधिक गाढ़ा होता जा रहा था।

"पर आप यह तो महसूस करते ही होंगे कि आप काम कर रहे हैं और क्या काम कर रहे हैं?" मैंने अँधेरे का गाढ़ापन कुछ कम करने की कोशिश की लेकिन वह बढ़ता ही गया।

"शायद नहीं?" वह बोले, "शायद मुझे यह भी नहीं महसूस होता कि मैं कोई काम कर रहा हूँ। चार और चार=आठ, आठ और आठ=सोलह, सोलह और चार= बीस जैसा हमारा काम हो गया है, और रोज़ वही—चार और चार=आठ. . .रहता है। हम इसके आदी हो गये हैं इसलिए महसूस करने का सवाल तक महसूस नहीं होता। ज़िंदगी में कहीं, कुछ नयापन नज़र नहीं आता। लगता है, हम जिंदगी को आगे बढ़ा कर जी नहीं रहे सिर्फ़ दोहरा रहे हैं, या कहना चाहिए सिर्फ़ रटे जा रहे हैं—ठीक बच्चों के पहाड़ा याद करने की तरह—दो एकम दो . . . दो दूने चार. . .।"

"ख़ैर, यह भी मान लें कि आपको यह सब महसूस नहीं होता। लेकिन एक बात तो ज़रूर ही महसूस होती है, और आप बता भी चुके हैं—'आप घर जा रहे हैं, आपको पता है कि आपके बीवी बच्चे हैं और बच्चे आपको अपना पापा समझने, मानने और पहचानने में भूल नहीं करते।' इससे साफ़ ज़ाहिर है कि आप अपने और अपनों के बीच एक ख़ास संबंध ज़रूर महसूस करते हैं? मैंने उनकी बातों में मज़ा लेते हुए सहसा पूछ दिया।

वह दो क्षण आँखें मूँदे बैठे रहे, फिर गहरी साँस छोड़ते हुए बोले, "मुद्गल जी, यदि आप यही मानते हैं और संबंधों को इसी रूप में स्वीकार करते हैं तब तो शायद मुझे कहना ही पड़ेगा —'हाँ, मैं महसूस करता हूँ' लेकिन मैं ऐसा कह नहीं सकता, क्योंकि मैं ऐसा महसूस नहीं करता। यदि मैं वास्तव में ऐसा महसूस करता होता तो उसे संदिग्ध बनाने के लिए उसके साथ 'आश्चर्य' शब्द का प्रयोग नहीं करता। अब देखिए, मैं महीने में पूरा एक दिन भी अपने बच्चों को नहीं दे पाता। शायद एक दिन का आधा, चौथाई, आठवाँ या दसवाँ भाग ही बमुश्किल अपने बच्चों को (एक महीने में) दे पाता हूँ। शायद पूरा औसत आधे से दसवें के घेरे में ही घटता-बढ़ता रहता है।"

"क्या मतलब?" मेरी आँखें ज़रूरत से ज़्यादा फैल गयीं, "महीने में आपको चार इतवार तो मिलते ही हैं?"

वह ज़ोर से हँसे. . .हँसते गये और जब रुके तो उसी गंभीर मूड में बोले, "आपने अभी बंबई के साँझ-सवेरे ही देखे हैं, दिन और रात नहीं देखे। आप लखनऊ जैसे ठंढे और ठहरे हुए शहर से नये-नये आये हैं। अभी पहले कुछ दिन रसिये-बसिये, मेरी तरह पूना में घर ले कर बंबई में काम कीजिए, उद्योगीकरण और औद्योगिक नगर के महत्व और परिणामों को कुछ परखिये, बीवी

बच्चों का जुगाड़ भिड़ाइये, उसके बाद बात कीजिए कि आपको बंबई कैसा लगा, आप क्या महसूस करते हैं।"

"वाह भाईजान !" मैंने हँसते हुए कहा, "इसका मतलब तो यह हुआ कि जब तक हम कहीं न कहीं से बीवी-बच्चों का जुगाड़ न भिड़ा लें और वह सब न कर लें, जो आपने कहा है, तब तक हमें कुछ भी महसूस करना बिल्कुल छोड़ देना चाहिए और धीरे-धीरे, प्राकृतिक अनिवार्यता के फलस्वरूप, महसूस करने की शक्ति से ही हाथ धो बैठना चाहिए।"

"हाँ, अब कुछ ढर्रे पर आये आप"—ठहाका लगाते हुए वह बोले, "जिस तरह महसूस करना छोड़ देने से धीरे-धीरे वह शक्ति ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार बहुत सी बातों को एक साथ बार-बार और बहुत समय तक महसूस करते रहने से किसी एक के संबंध में महसूस करना समाप्त और असंभव सा हो जाता है; या कह सकते हैं कि अलग-अलग हर चीज़ के बारे में महसूस करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। आपकी और मेरी बातों का परिणाम एक ही निकलता है।"

"इसका अर्थ तो संबंधों के अस्तित्व को नकारना और दायित्वों से भागना हुआ।" अब शायद मेरे चेहरे पर अँधेरा जम कर गाढ़ा होने लगा था।

"संबंध . . . दायित्व, संबंध . . . दायित्व—एक ही स्वर-लय, एक ही रूप और एक ही अर्थ में यह सब न जाने कब से सुनते आ रहे हैं, और अब तो हम इस सब के इतने आदी हो गये हैं कि इस सुनने को भी महसूस नहीं कर पाते। अब इसे आप यों लीजिए कि मैं अँधेरे में घर से चलता हूँ और अँधेरे में ही घर पहुँच जाता हूँ; यानी कि अँधेरे में घर से घर तक की यात्रा करता हूँ। 'घर से घर तक की यात्रा'—इसी से आप सोच सकते हैं कि यह दायित्वों से भागना नहीं है; या कह सकता हूँ कि हममें भागने की शक्ति ही नहीं है। इस बात से यह भी ज़ाहिर हो जाता है कि हमें कुछ भी महसूस नहीं होता। यदि महसूस होता तो घर को खूँटा बना कर गोलाई में उसके इर्द-गिर्द घूमने से हम चक्कर खा कर गिर पड़ते या नयी यात्राओं के संबंध में सोच-समझ और प्रयत्न कर सकते। पर हमें ऐसा कर पाने की फ़ुर्सत ही नहीं है।"

"ख़ैर संबंधों की बात तो आप गोल ही किये जा रहे हैं?" मैंने मज़ाकिया लहज़े में कहा।

वह मुस्कराते हुए बोले, "भाई मेरे, कुछ नयापन महसूस करने के लिए संबंध, संस्कार और उनके नियामक विधान हमने बनाये हैं। जब हम उनके भी आदी हो जाते हैं तब उनके बारे में भी कुछ महसूस नहीं कर पाते।"

"वाह, वाह।" मैंने तालियाँ बजायीं, "किस ख़ूबसूरती से आपने गढ़ी-गढ़ायी बातें दोहरा दी हैं। इस सिद्धांत को छोड़िए और कुछ प्रेक्टिकल बताइये।"

"अच्छा देखिए" उन्होंने अंधकार की मोटी-मोटी कई तहें अपने चेहरे पर जमा कर कहा, "अभी-अभी आपने महीने में चार इतवारों की और मैंने दिन के आधे से दसवें अंश तक की बात कही थी। मेरा मतलब सिर्फ़ यही था कि छह दिन काम करने के बाद एक दिन मुझे आराम के लिए मिलता है, जिस दिन मैं अपने बच्चों को जीता-जागता देखता हूँ और बस इससे ज्यादा देखने का मौक़ा उस दिन भी नहीं मिल पाता। उसी दिन अगले छह दिनों के खाने, पहनने और जीने के दूसरे साधन जुटाने पड़ते हैं। कपड़े धोना, ढंग से सफ़ाई करना, लोगों से मिलना-जुलना और अगले

छह दिनों काम कर पाने के लिए आराम करना भी ज़रूरी होता है। बच्चों के भी अपने काम, खेल-कूद होते हैं। इस तरह यदि देखूँ तो बच्चों को शायद दसवाँ अंश भी नहीं दे पाता। और फिर मैं कह रहा हूँ कि मैं इन सबका और 'दे पाने . . . न दे पाने' का आदी जो हूँ इसलिए मुझे उस तरह कुछ भी महसूस नहीं होता जैसे ठंडे और ठहरे हुए शहरों के लोगों को होता है; और मेरी अपनी भाषा में या बंबई की अचेतन चेतना या अतिचेतना के शब्दों में—मुझे कुछ भी महसूस नहीं होता। और अगर कुछ होता भी है तो सिर्फ़ यही कि अपने और अपनों के संबंधों के बीच कहीं कुछ टूट-फूट गया है जिससे उनके खँडहर और खँडहरों के आसपास पड़े ईंट-पत्थरों के टुकड़े तो महसूस होते हैं लेकिन जुड़ी हुई पूरी इमारत महसूस नहीं होती।"

और मैं सोच रहा हूँ —यही है वह शहर जिसकी याद आते ही मुझे परियों के क़िस्से याद आ जाते थे। परिस्तान के महमहाते बगीचे और उनमें मस्ती और एक ख़ास अंदाज़ से घूमते हुए परीज़ादों को महसूस करता था और उनमें एक परीज़ाद मैं भी था; या शायद जादुई घोड़े पर चढ़ कर मोतियों से ढके समुद्र-तट पर उसे सरपट दौड़ाता हुआ परिस्तान का शहज़ादा। और अब . . . अब शायद उन सज्जन की तरह मैं भी कुछ महसूस नहीं कर पा रहा हूँ और महसूस करना भी नहीं चाहता, और यदि करता भी हूँ तो शायद वही खँडहर, खँडहर के आसपास पड़े ईंट-पत्थरों के टुकड़े। और लगता है उद्योगीकरण के मज़बूत क़दम इन टुकड़ों को और बारीक कर देंगे, ये खँडहर और भी टूट जायेंगे और इनकी जगह नयी इमारतें बनेंगी—नये संबंधों और संस्कारों के रूप में। हम उनमें रह सकेंगे—गहरी, मुक्त साँस ले सकेंगे लेकिन तब भी शायद हम कुछ महसूस नहीं कर सकेंगे, पर शायद हमें कुछ भी महसूस करने की ज़रूरत ही महसूस नहीं होगी . . .।

गाड़ी रुक गयी। पूना स्टेशन आ गया था। उन सज्जन ने अपने घर चलने की लिए मुझे औपचारिक निमंत्रण दिया और मैंने औपचारिक धन्यवाद दे कर क्षमा माँग ली।

'सारिका',
टाइम्स आफ़ इंडिया,
बंबई—१।

ग्राहकों से निवेदन

है कि अपने पते के परिवर्तन की सूचना हमें तभी दें जब कि वह कम से कम तीन मास के लिए हो, अन्यथा स्थानीय डाकघर से ही इस विषय में व्यवस्था कर लें।

—व्यवस्थापक, 'माध्यम'

प्रभा ! मेरे मन के आईने में

उमा मिश्रा

बरसात की रात, घने काले बादलों का घिराव, छोटी-छोटी बूंदें। रह-रह कर बिजली की चमक में कौंध उठने वाली पीली, दुबली-सी सड़क और उसके दोनों ओर खपरैल और छप्पर वाले मकानों की क़तारें। झींगुरों और मेढकों की बीच-बीच में उठने वाली आवाज़ें।

मैं हूँ, तिमंज़िले की सूनी-सी यह अँधेरी कोठरी है। नींद नहीं आती। अक्सर ऐसे में नींद नहीं आती। घने अँधेरे में मन के विचार उलझ रहे हैं। सब ओर एक-सा अँधेरा जिसे बार-बार बिजली की कौंध चीर जाती है। मेरे मन के अँधेरे को भी इसी तरह प्रभा की याद चीर जाती है। कुछ आवाज़ें कान के पर्दे को थरथरा जाती हैं।

अब सभी सो गये हैं। थोड़ी देर पहले दूर किसी टोले से उठने वाली मल्हार की तान अब काली परतों में दब गयी है। ऐसे ही, समय की काली परतों में सब-कुछ दबता जायगा; रूप-नामहीन होता जायगा। पिछले खंड वाली टीन की छत पर पानी की बूंदें नीम की पत्तियों से सरक-सरक आती हैं—टिप्...टिप्....

सोचती हूँ, रात की भी एक ध्वनि होती है। बड़ी प्यारी-सी ध्वनि, जो मन की गाँठों को खोलने लगती है। इनके खुलने पर सब-कुछ जाने कैसा-कैसा लगने लगता है। मन अनेक संदर्भों में भटकने लगता है। भूले-बिसरे चित्र आँखों में तिरने लगते हैं।

हवा के झोंके आते हैं। कहीं शायद रातरानी के तमाम हरे-सफ़ेद फूल खिले हैं। ऊदी-ऊदी-सी महक सारे कमरे में भर गयी है। इस सुगंध के साथ प्रभा की याद ताज़ा हो आती है। वह कहती थी——रातरानी मुझे बहुत पसंद है। उसकी देह से बिलकुल वैसी ही गंध आती थी।

मैं कहती, "देखो प्रभा, कहीं रातरानी महक रही है।"

वह कहती, "रात की रानी है तो महकेगी ही।" और खिलखिला कर हँस पड़ती। उसकी हँसी, गुलाबपाश से छिड़के गये गुलाबजल-सी होती थी। मैं अंतर तक भीग जाती थी, सिहर उठती थी। कैसी तो हँसी थी उसकी ! आज याद करती हूँ तो कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। धूमिल-सी एक तसवीर उभरती है। लेकिन कोई रेखा साफ़ नहीं हो पाती; कोई आकृति स्पष्ट नहीं बनती। उसके हँसने की मुद्रा, ध्वनि और उसका उतार-चढ़ाव, सब-कुछ मैं भूल चुकी हूँ। जो

मेरे रोम-रोम में कभी रच-बस गयी थी, उसे इस तरह भूल गयी ! विस्मृति कितनी कठोर होती है ? गाढ़ी से गाढ़ी रेखा भी जिससे धुँधली हो कर मिट जाती है। फिर भी कुछ है जो याद है। शायद हमेशा याद रहेगा।

उसकी हँसी में एक जादू था, एक संमोहन था। मैं संमोहित-सी चुपचाप बैठी रहती, तंद्रिल-सी। वह हँसते ही हँसते कहती, "क्यों, बुरा मान गयी न !" मैं नहीं में सिर हिला देती थी। मन में एक आशंका-मिश्रित भय छा जाता। पता नहीं इसकी इस मुक्त हँसी का क्या होगा ? मैं मन ही मन दूर भविष्य में झाँकने का प्रयास करने लगती। इतनी संमोहक हँसी का भविष्य क्या होगा ? आज वर्षों बाद सोचती हूँ, क्या अब भी वह वैसे ही हँसती होगी ? क्या अब भी उसका गुलाबी रंग वैसा ही ताज़ा होगा ?

एक दिन हम दोनों गर्ल्स स्कूल के मैदान में बैठी थीं। वह कुछ चंचल सी थी, मैं खोयी-खोयी।

"भई, मुझे यह मूड पसंद नहीं।" कुछ इस तरह कहा था उसने कि मैं मुस्करा पड़ी थी। दूसरे ही क्षण मेरी मुस्कान दब गयी थी। मन के संत्रास ने मेरी ख़ुशी का गला दबा दिया था। एक बेचैन तिलमिलाहट व्याप्त हो गयी थी। इच्छा हुई थी उसी से पूछ लूँ——प्रभा, तुम्हारी इस हँसी का क्या होगा ? वह अवस्था भी ऐसी ही थी जब हर चीज़ पर शंका होती थी। लड़कियों को तितली-सी फुदकती देखती तो यह शंका मुझे झकझोर डालती। कभी-कभी मुझे स्वयं अपने इन विचारों से चिढ़ होती। सोचती——पता नहीं प्रभा मेरे विषय में क्या सोचती होगी ?

एक बार मैंने उससे पूछा भी था, "प्रभा, तुम मेरे बारे में क्या सोचती हो ?"

उसने कहा था, "मुझे किसी के बारे में ज़्यादा सोचना अच्छा नहीं लगता। सोचने की कोई बात भी तो हो। तुम तो पता नहीं क्या हमेशा बेसिर-पैर की सोचा करती हो।"

मेरी इच्छा हुई थी कि उससे कह दूँ कि मैं तो तुम्हारे बारे में बहुत सोचती हूँ। सोचती हूँ—तुम्हारी यह ताज़गी, सुगंध और सौंदर्य का भविष्य क्या होगा ? और तुम्हारे ही बारे में नहीं प्रत्येक सुंदर वस्तु के प्रति मेरे मन में ये ही प्रश्न उठते हैं। किंतु उससे कुछ कह न सकी थी। मन काँप उठा था और निराशा की एक काली परत मन पर जम गयी थी।

बारिश कुछ बढ़ गयी है। टीन पर बूँदों की टिमटिमाहट तेज़ हो गयी है। कहीं दूर वंशी बज रही है। बहुत हल्की-सी ध्वनि कभी उभरती है, कभी वर्षा की रिमझिम में डूब जाती है। ऐसे में एक बार प्रभा ने कहा था, "उम्मी, बरसात की रात में फुहारों में भीगती थकी-सी वंशी की ध्वनि कभी सुनो ! सच, लगता है, कोई पुकार रहा है।" तब मैं हँसी थी। मेरे हँसने में अविश्वास की झलक उसे मिल गयी थी और उसने कहा था, "तुम भी इन तमाम मूर्ख लड़कियों-सी हँस रही हो ! कभी कुछ ऐसा अनुभव नहीं हुआ तुम्हें क्या ?"

आज उसकी वह पुरानी बात बिल्कुल सच लगती है। लगता है, वंशी की तान पर सुधियों की गंध उड़ी आती है, और मैं उसमें खोती जाती हूँ। कितने पहले उसने इस सत्य को जान लिया था !

बादल भी घिरे हैं अभी। गाढ़ा अँधेरा अभी भी वैसा ही है। कहीं कुछ भी नहीं दिखता। लेकिन ऐसे में मन का कोना-कोना साफ़ दिखता है, और उसमें से एक ध्वनि निकलती है—पानी की रिमझिम-सी, वंशी की तान-सी, मल्हार के गीत-सी।

क्या ऐसी रात में वह भी जग रही होगी?——जाने कहाँ से यह प्रश्न मेरे दिमाग़ में कौंध गया है। मैं सोचती हूँ, यह तो मेरी कमज़ोरी है कि जिस परिस्थिति में, जिन अनभूतियों में मैं जी रही हूँ, चाहती हूँ, इन्हीं में मेरी प्रभा भी जिये।

अब तो पता नहीं कहाँ होगी वह, किन परिस्थितियों में? कैसा सुख होगा उसे? कितना दुख? और पता नहीं उन सुख-दुख के क्षणों में कभी मैं भी उसे याद आती हूँगी या नहीं? जाने अब भी उसे रातें अच्छी लगती होंगी या नहीं? एक बार तो स्कूल के वार्षिकोत्सव से लौटते हुए उसने कहा था, "मुझे रात बहुत प्यारी लगती है। रात में, और अधिकतर बरसात की रात में जब ख़ूब गाढ़ा अँधेरा हो, इच्छा होती है चुपचाप बैठी रहूँ।"

लगता है, यदि वह बात सच थी तो वह ज़रूर आज कहीं बैठी होगी, चुपचाप। शायद मेरा भी ख़्याल उसे आया हो। अगर मेरा ख़्याल उसे आया होगा तो वह ज़रूर हँसी होगी, ख़ूब खिलखिला कर।

लगता है, बारिश रुक गयी है। बूंदें फिर नीम की पत्तियों से सरक-सरक कर टीन पर गिर रही हैं। गिर कर टूट रही हैं। टूट कर बिखर रही हैं। शायद मेरी स्मृतियाँ भी ऐसे ही एक दिन सबके दिमाग़ से सरक जायँगी; समय के साथ टूट जायँगी; टूट-टूट कर बिखर जायँगी। तब शायद, प्रभा भी मुझे भूल जायगी, कालेज की और तमाम लड़कियों की तरह वह भी अजनबी निगाहों से मुझे देखेगी। लेकिन मैं अपनी प्रभा को खोना नहीं चाहती। वर्षों बीत गये पर प्रभा की याद अभी भी ताज़ा है। उसका वह सौंदर्य मेरे मन के आईने में अभी भी उतना ही साफ़ है। उसकी रातरानी-सी महक अब भी वैसी ही है। उसकी हँसी, वह खिलखिलाहट जिसमें गुलाब-पाश के गुलाबजल की तरह मन को भिगो देने की शक्ति है, अब भी मेरे कानों में गूँजती है।

प्रभा, तुम अपनी सुंदरता, सुगंध और बेपरवाह हँसी के साथ मेरे मन में हमेशा-हमेशा ताज़ा बनी रहोगी। तुम चाहे मुझे भुला दो पर मैं.....मैं नींद की ख़ुमारी में भी तुम्हें नहीं भल सकती!

मिश्र-भवन,
बलरामपुर, गोंडा।

सहवर्ती साहित्य

•

कश्मीरी

कश्मीरी भाषा और साहित्य

शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'

भारत के संविधान में जिन चौदह भाषाओं को राष्ट्रीय मान्यता दी गयी है, उनमें कश्मीरी भी एक है। इस भाषा के अधिकांश बोलने वाले जम्मू तथा कश्मीर राज्य की कश्मीर घाटी, किश्तवाड़, रामबन आदि जगहों के निवासी हैं। इनकी संख्या तीस लाख के लगभग है।

कश्मीरी भाषा के उद्‌गम के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इसको हिंदू-आर्य कुल की भाषाओं में संस्कृत-संभवा मानते हैं। इधर कुछ लोग यह कहने लग गये हैं कि कश्मीरी इब्रानी[1] से निकली हुई एक शाखा है। परंतु अधिकतर भाषावैज्ञानिक इसको दरद-आर्य कुल की एक शाखा स्वीकार कर चुके हैं। इन मान्यताओं में विवाद की बड़ी गुंजाइश है जो इस लेख का विषय नहीं, परंतु इतना सर्वमान्य है कि कश्मीरी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व सदियों से चला आ रहा है। कश्मीर के जगद्विख्यात इतिहास ग्रंथ 'राजतरंगिणी'[2] में इसका उल्लेख जन-भाषा के रूप में आया है। इससे पूर्व के कश्मीरी विद्वानों—महाकवि बिल्हण आदि की संस्कृत रचनाओं में भी कश्मीरी भाषा का उल्लेख और यत्र-तत्र कश्मीरी शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये सब प्रमाण इस भाषा के अस्तित्व की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

परंतु इस भाषा की कोई साहित्यिक कृति हमें तेरहवीं शती ईसवी से पूर्व की नहीं मिल सकी है। तेरहवीं शती की भी जिस रचना को कश्मीरी का आदि रूप माना जा रहा है वह काश्मीर शैव सिद्धांत के विद्वान शतिकंठ राजांक की 'महानय-प्रकाश' है, जिसकी भाषा वर्तमान कश्मीरी से ही नहीं अपितु चौदहवीं शती की उस भाषा से भी पूरी तरह मेल नहीं खाती, जो वर्तमान कश्मीरी साहित्य का सर्वमान्य पूर्व रूप है। फिर भी यदि ध्यान से देखा जाय तो 'महानय-प्रकाश'

---

[1]**यहूदियों की भाषा।**

[2]**कल्हण की बारहवीं शती की रचना।**

में कश्मीरी के पूर्व रूप का स्पष्ट आभास मिलता है। इससे यह मत निराधार नहीं माना जा सकता कि कश्मीरी भाषा का आदि रूप 'महानय-प्रकाश' का अपभ्रंश है, जो निश्चय ही तत्सामयिक सभी प्राकृतों से भिन्न है।

चौदहवीं शती से कश्मीरी भाषा के साहित्य का वह रूप मिलता है, जिसको आधुनिक कश्मीरी का आदि रूप कहने-मानने पर कोई मतभेद नहीं। विश्व की अन्य भाषाओं की तरह कश्मीरी का यह आदि साहित्य भी पद्य में ही उपलब्ध है और हिंदी साहित्य की भाँति कश्मीरी का आदि काव्य दार्शनिक रहस्यवाद, धार्मिक मानवतावाद और समन्वय पर आधारित है। वास्तव में तेरहवीं शती कश्मीर के इतिहास का एक संक्रांति काल रहा है। इस युग में हिंदू शासकों का दौर समाप्त हो चुका था और उसका स्थान मुसलमान सुलतानों का शासन ले रहा था। इस्लाम के प्राचारक सूफ़ियों और सैयदों के रूप में धर्म-प्रचार करने लगे थे। कट्टरपंथी ब्राह्मण अपनी मान्यताओं की परिधि को सीमित बनाते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में सामंजस्य उत्पन्न करने और धर्मांधता को रोक कर ऐसा मार्ग प्रशस्त करने की आवश्यकता थी जो सर्वग्राह्य होने के अतिरिक्त कश्मीरी परंपरा और पद्धति को बनाये रखता––जो परंपरा धार्मिक सहिष्णुता, गुणग्राहकता और उदारता की थी।

यही हैं वे तत्व, जो कश्मीरी साहित्य के आदिकाल का मुख्य स्वर रहे हैं। इसका प्रतिपादन दार्शनिक कवयित्री लल्लेश्वरी और शेख़ नूरुद्दीन वली ने अपनी वाणी में किया है। इन दोनों संतों को कश्मीर के सभी हिंदू व मुसलमान धार्मिक भेद-भाव के बिना पूज्य मानते हैं और वे इन्हें क्रमशः ललद्यद (लल माता) और नुंद ऋषि कह कर श्रद्धा अर्पित करते हैं। ललवाणी 'वाख' (वाक्य) कहलाती है और नुंद ऋषि के वचन 'ऊख' (श्लोक)। इनकी लोकप्रियता का यह हाल है कि वर्तमान कश्मीरी में ये वचनामृत सूक्तियाँ और मुहावरे बन गये हैं। कदाचित जनता का श्रद्धाभाव ही इस वाणी को सुरक्षित रख सका है, अन्यथा यह साहित्य भी उसी तरह कालकवलित हो जाता जिस प्रकार इस युग की अन्य साहित्य-सामग्री नष्ट हो गयी, जिसकी सूचना इतिहास से मिलती है। ललवाणी और नुंद बावा के ऊखों के अतिरिक्त जिन रचनाओं का उल्लेख 'ज़ैन राजतरंगिनी' व अन्य इतिहासों में आया है, उनके अनुसार सुलतान शहाब-उ-द्दीन, सुलतान ज़ैन-उल-आबदीन (लोकविख्यात बड़शाह) और सुलतान हसन के शासन-काल में फ़ारसी के साथ-साथ कश्मीरी भाषा तथा साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहा। स्वयं ये सुलतान भी कश्मीरी में काव्य-रचना करते रहे हैं। बड़शाह के तो दो दरबारी विद्वानों—सोम भट्ट और योध भट्ट ने 'ज़ैन-विलास' और 'जैन-चरित' नाम की कश्मीरी रचनाएँ बादशाह को भेंट कीं। परंतु ये सब रचनाएँ इतिहास की सूचनाएँ मात्र रह गयी हैं। जो कुछ बचा है, वह कश्मीरी साहित्य के आदिकाल की संपत्ति है।

काल-विभाजन की दृष्टि से कश्मीरी साहित्य को इन चार भागों में बाँटा जा सकता है:

(१) आदिकाल [१३वीं शती से १५वीं शती ईसवी तक]—इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(२) पूर्व मध्यकाल अथवा गीत-काव्य काल [१६वीं शती से १८वीं शती ईसवी तक]
(३) उत्तर मध्यकाल अथवा भक्ति व आख्यान-काव्य काल [१९वीं शती]
(४) आधुनिक काल अथवा देशभक्ति काव्य तथा प्रयोगवाद काल [२०वीं शती के आरंभ से अब तक]

जैसा ऊपर कहा गया है, आदिकाल के कश्मीरी साहित्य का प्रतिनिधित्व लल्लेश्वरी (ज०, १३३५ ई०) और नुंद ऋषि (ज०, १३७७ ई०) करते हैं। ललमाता एक शैव भक्त योगिनी थीं। कश्मीर घाटी में बेपरवाह घूमती-फिरती थीं। नुंद ऋषि उनके समकालीन रहे हैं। इन दोनों संतों की वाणी का मूलमंत्र हिंदू-मुस्लिम एकता रहा है। ललद्यद का एक वाख यों है:

शिव छुय थलि-थलि रोज़ान।
मव ज़ान ह्योंद त मुसलमान॥

अर्थात—**'शिव सर्वव्यापक है। हिंदू और मुसलमान में भेदभाव न जान।'** कश्मीर के सांस्कृतिक विकास में इससे स्वस्थ परंपरा का सूत्रपात हुआ।

पूर्व मध्यकाल के कश्मीरी काव्य में हब्बा ख़ातून और अरणीमाल के गीतों का स्वर मुखर हो उठा है। यह वह युग है जब कश्मीर मुग़ल साम्राज्य में शामिल किया गया। हब्बा ख़ातून चक वंश के अंतिम सुलतान यूसुफ़ शाह की एक रानी थी। कहा जाता है कि वह एक साधारण किसान कन्या थी। नाम उसका 'ज़ून' (चाँद) था। जवानी में उसके सौंदर्य, काव्य-प्रतिभा और संगीतप्रियता की चर्चा फैलते-फैलते जब यूसुफ़ शाह तक पहुँची तब वह उसको ब्याह लाया। काव्य-साधना के अलावा मलिका हब्बा ख़ातून ने कश्मीरी संगीत को भी बढ़ावा दिया। कश्मीरी में 'रास्त' मक़ाम (राग) उन्हीं की देन है।

ऐसा लगता है कि यूसुफ़ शाह चक के मुग़लों द्वारा बंदी बनाये जाने और कश्मीर से निर्वासित किये जाने पर उसकी रानी हब्बा ख़ातून के हृदय को जो ठेस लगी, वह वेदनाभरे गीतों में फूट पड़ी। और वही गीत आधुनिक कश्मीरी काव्य की आधारशिला बन गये। हब्बा ख़ातून की ही लय और स्वर को उसके बाद अरणीमाल ने और भी मुखर किया। इतना ही नहीं, बल्कि उस स्वर में और दर्द, सोज़ और भावना का पुट दे कर कश्मीरी काव्य को 'क्लासिकी' बना दिया।

'लोल'[३] काव्य की प्रतिपादक इन कवयित्रियों को कश्मीरी साहित्य में आधुनिकता के आरंभकों में इसलिए गिना जाता है, क्योंकि इनसे पूर्व जो वाणी काव्य रूप में मिलती है, वह प्रधानतः उपदे-

---

[३] **'लोल' शब्द कश्मीरी में प्रीत, भक्ति, वात्सल्य, स्नेह, उत्सुकता और प्रणय का पर्याय है। अनुवाद में कोई एक पर्याय पूर्णतः इसका अर्थ वहन नहीं कर सकता।**

शात्मक तथा दार्शनिक है, भावनात्मक कम है। हाड़-मांस के संसारी जन जिस विरह-मिलन, दुख-सुख, स्नेह-प्यार और भावनामय जगत से दो-चार होते हैं, हब्बा ख़ातून और अरणीमाल ने उन्हीं के गीत गाये हैं।

यहाँ पर यह कहना ज़रूरी है कि प्राचीन काल में कश्मीरी साहित्य संस्कृत से पराभूत रहा। इस्लाम के आगमन पर उसका स्थान फ़ारसी, और बाद में उर्दू ने लिया। स्पष्ट है कि इन भाषाओं को राज्याश्रय मिलता रहा और कश्मीरी दब कर ही रह गयी, मगर सुलतानों के शासन काल में जो कश्मीरी उभरी—जितनी भी उभरी, फ़ारसी और संस्कृत के अनुचित भार से मुक्त थी। इसका प्रमाण हब्बा ख़ातून और अरणीमाल की ठेठ कश्मीरी रचनाएँ हैं, जिन्हें लोकगीतों और शास्त्रीय गीतों में सहज ही प्रयोग किया जाता है। आज भी जब कश्मीरी के कानों में हब्बा ख़ातून के गीतों की आवाज़ पड़ती है तब उसका हृदय द्रवित और भावनाविभोर हुए बिना नहीं रहता।

"चे कम्यू सोनि म्यानि. . . ."(किस मेरी सौत ने तुम्हें भरमाया।)

और अरणीमाल के—**"अरिणि रंग गोय श्रावणि हिये. . . . ."(श्रावण की मुझ चँबेली का रंग अरणी-सा (पीला) पड़ गया।)**

किंतु मुग़ल-शासन के बाद फ़ारसी का प्रभुत्व अधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। यह भी हो सकता है कि कश्मीरी के साहित्यिकों को इस काल में कश्मीरी काव्य का क्षेत्र विशद बनाने की धुन समायी हो और उसके लिए उन्होंने विषयों के चयन के साथ ही साथ फ़ारसी तथा संस्कृत के अधिक शब्दों-मुहावरों को अपनाना उचित समझा हो। कुछ भी हो, इतना निर्विवाद है कि उत्तर मध्यकाल का कश्मीरी साहित्य जहाँ विषय-वस्तु की दृष्टि से बहुत संपन्न बन गया है, वहाँ फ़ारसी और हिंदुस्तानी शब्दों की प्रचुरता भी उसमें दिखती है। कइयों का मत है कि यह प्रवृत्ति कश्मीरी के लिए वांछनीय नहीं रही, किंतु कुछ लोग इस मत के समर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि कश्मीरी साहित्य में विविधता, विस्तार और विकास के लिए यह अनिवार्य था। जो भी हो, उत्तर मध्यकाल की एक शती में कश्मीरी काव्य-सरिता दो प्रमुख धाराओं में बही। एक थी भक्ति और 'नातिया कलाम' की धारा, दूसरी थी तसव्वुफ़ और प्रेमाख्यानों (मसनवियों) की काव्य-धारा। इन दोनों धाराओं के कवियों को विषयों के अनुरूप शब्द-रचना करना पड़ा। इसके लिए भक्त कवियों को शिव-विष्णु, राम-कृष्ण आदि की लीलाओं के लिए संस्कृत व हिंदी शब्दों का आश्रय लेना पड़ा, जबकि नातों (हमद और पैग़ंबर-प्रशस्ति) और मसनवियों के लिए विषयानुरूप फ़ारसी व अरबी शब्दावली का सहारा लिया गया। इस प्रवृत्ति की सही पृष्ठभूमि न समझते हुए कई विद्वानों ने इस युग के साहित्य को हिंदू तथा मुसलमान कश्मीरी में बाँटने की ग़लती की, जो निराधार है।

भक्ति तथा नातिया काव्य के इस युग के प्रतिनिधि कवि परमानंद मट्टन, कृष्ण राज़दान वनपूह, मीर सना-उल्लाह क्रीरी, अब्दुल अहद 'नादिम' बांडीपुर हुए हैं। प्रेमाख्यान (मसनवी)

लिखने वाले कवियों में महमूद गामी, अब्दुल अहद 'नाज़िम', प्रकाशराम कुरीगाम, लक्ष्मणजू बुलबुल नागाम, वली उल्लाह मत्तू, मक़बूल शाह और वहाब परे बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

उन्नीसवीं शती के इन कवियों की जो रचनाएँ अत्यंत लोकप्रिय हो गयी हैं और जो कश्मीरी काव्य साहित्य की अनमोल निधि बन गयी हैं, उनके नाम ये हैं :

महाकवि परमानंद रचित 'सुदामाचरित', 'दीनक्रंदन', 'राधास्वयंवर', 'शिवपरिणय'।
कृष्ण राज़दान रचित 'शिवलग्न' तथा 'भक्ति लीलाएँ'।
मीर सना-उल्लाह क्रीरी की नातें—पैग़ंबर इस्लाम की प्रशस्तियाँ।
अब्दुल अहद नादिम की नातें—पैग़ंबर इस्लाम की प्रशस्तियाँ।
महमूद गामी रचित 'यूसुफ़-जुलेख़ा', 'लैला-मजनूं', 'शीरीं-फ़रहाद'।
वली उल्लाह मत्तू रचित 'हीमाल नागराय' (कश्मीरी लोककथा पर आधारित काव्य)।
मक़बूल शाह कृत 'गुलरेज़', 'ग्रीसनामा', 'परीनामा'।
वहाब परे कृत 'शाहनामा' (फ़िरदौसी के फ़ारसी 'शाहनामा' का कश्मीरी रूप), 'अकबरनामा'।
प्रकाशराम कुरीगाम कृत 'रामावतारचरित', 'लवकुशचरित'।
लक्ष्मणजू बुलबुल नागाम रचित 'नलदमयंती', 'सामनामा'।

कश्मीरी गीतों, ग़ज़लों, लीलाओं तथा लोकप्रिय धुनों की ऐसी परंपरा इन काव्यों से चल पड़ी है, जो कश्मीरी काव्य के विभिन्न अंगों और रीतियों का रूप धारण कर चुकी है। उदाहरणतः, महमूद गामी का 'रोह' (रोफ़) कश्मीरी लोकगीतों और लोकनाच का आधार बन गया है। परमानंद का 'च्यध', 'गुलरेज़' की लय और छंद, 'ग्रीसनामा' का व्यंग्य, 'शाहनामा' का ओजपूर्ण वर्णन अब कश्मीरी काव्य की विभिन्न शैलियाँ बन गये हैं। इस प्रकार उन्नासवीं शती ने कश्मीरी साहित्य का आँचल भर दिया है। इस युग में आदिकाल और पूर्व मध्यकाल की परंपराओं को न केवल आगे बढ़ा दिया गया है, बल्कि उनका क्षेत्र भी विस्तृत किया गया है। साथ ही, आधुनिक काल की ग़ज़लों की दाग़बेल भी इसी युग में डाल दी गयी। ऐसे कवियों में रसूल मीर का नाम प्रमुख है। यह आधुनिकता का पहला कवि है जिसने कश्मीरी भाषा में भावप्रवण काव्य को वह रूप दिया, जिसका अनुकरण बाद के कवियों ने भी करना गौरवमय समझा। और तो और, आधुनिक युग के एक प्रतिनिधि कवि श्री गुलाम अहमद 'महजूर' ने भी रसूल मीर की लोकप्रियता और कलाकारिता को इस प्रकार स्मरण किया है, **'जो हाला 'मीर' बाँट कर गया है, महजूर उसी हाला को नये प्यालों में भर-भर कर बाँट रहा है।'** एक और जगह 'महजूर' कहता है, **'दर्द और सोज़ (वेदना और भावुकता) के जिन आवरणों को रसूल मीर उघाड़ कर चला गया, महजूर उन्हीं पर्दों को फिर ओढ़ कर आ गया।'**

यद्यपि बीसवीं शती के आरंभ में उत्तर मध्यकाल के कुछ प्रसिद्ध कवि जीवित थे, जो अपनी परंपरा के अनुरूप काव्य-साधना करते रहे, तथापि आधुनिक युग के कश्मीरी साहित्य का नया

मोड़ कवि 'महजूर' की रचनाओं से आरंभ होता है। इनका जन्म १८८८ ईसवी में कश्मीर के एक गाँव 'मित्रगोम' में हुआ। फ़ारसी और अरबी की साधारण शिक्षा पा कर 'महजूर' कई वर्ष कश्मीर से बाहर रहे, जहाँ वे मौलाना शिबली जैसे विद्वानों के संपर्क में आये। प्रारंभ में वे उर्दू शायरी करने लगे थे, किंतु शीघ्र ही कश्मीरी की ओर प्रवृत्त हुए। सन १९२० से १९४७ तक का काल 'महजूर' की कविताओं का दौर रहा। यदि आधुनिक काल को मुख्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से बाँटना पड़े तो शती के आरंभ से १९४७ तक का काल 'पूर्व भाग' कहा जा सकता है, जिसका प्रतिनिधित्व निश्चय ही 'महजूर' और 'आज़ाद' करते हैं।

'महजूर' हमारे पहले कवि हैं जिनके बारे में यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि उन्होंने कश्मीरी काव्य को तसव्वुफ़ की भूलभुलैयों से बाहर निकाल लाने, और रसूल मीर की परंपरा को बढ़ावा दे कर प्रकृति के निकट लाने की कोशिशें कीं। कश्मीर के प्रसिद्ध कवि 'नादिम' का कहना है कि, **'महजूर' वह शायर हैं, जिन्होंने काव्य को परंपरागत भोंडी उपमाओं और मुहावरों से मुक्त कर के वास्तविक कश्मीरी भावों से सजाया और जो आध्यात्मिकता हमारे काव्य में फ़ारसी काव्य की नक़ल से पैदा हुई थी, वह दूर की। 'महजूर' की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता स्वस्थ आशावाद है।'**

'महजूर' के दौर में कश्मीर देश के अन्य भागों के साथ-साथ राजनीतिक संघर्ष के बीच से गुज़र रहा था। 'महजूर' युग की पुकार को भाँप गये। संवेदनशील हृदय था ही, झट उन्होंने ऐसा अनुभव किया, मानों पिंजरे में बुलबुल पर काट कर रखी गयी है और वह स्वाधीनता के लिए छटपटा रही है। उनके भीतर का कवि मर्माहत हो उठा। ऐसी स्थिति में जो उद्गार उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हुए, वे ग़ज़लों के रूप में थे या नज़्मों में। उनसे कश्मीर की राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नवचेतना का प्रतिपादन हुआ। उन्होंने कविता-कामिनी को अपने पूर्वगामी सूफ़ी कवियों की संकीर्ण कंदराओं से निकाल कर कश्मीर की शस्य-श्यामला वाटिकाओं और सुरभिमय फुलवारियों में पहुँचा कर जनसाधारण से परिचित कराया और उसे उनका ही सुर-ताल सिखाया। यही कारण है कि लोकप्रियता की दृष्टि से जो स्थान 'महजूर' को मिला, उसकी मिसाल नहीं मिलती।

अब्दुल अहद 'आज़ाद' वास्तव में कश्मीरी शायरी के पहले विद्रोही कवि हुए हैं, जिन्होंने विषयों की परंपरा और अतीत की चिरपरिचित शैली से हट कर और उलझे हुए जीवन की समस्याओं को आधार बना कर ऊँचे स्वर से क्रांति का उद्घोष किया। सामाजिक विषमता, धर्मांधता और राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध उनका ओजपूर्ण स्वर इतना मुखर रहा कि कई लोग उस स्वर को समय से बहुत पहले की आवाज़ तक कह गये। 'आज़ाद' कश्मीरी साहित्य के प्रथम समालोचक भी हुए हैं। उनकी ऐतिहासिक रचना 'कश्मीरी जबान और शायरी' बहुत ही महत्वपूर्ण और गवेषणायुक्त कृति है, जिसकी प्रशंसा सभी एक स्वर से करते हैं।

'आज़ाद' से कश्मीरी साहित्य को बहुत आशाएँ थीं, किंतु निर्दयी काल ने सन् १९४८ में ही उन्हें हमसे छीन लिया।

सन १९४७ के बात कश्मीरी साहित्य का वर्तमान दौर आरंभ होता है। इस दौर का

आरंभ युद्ध की ललकार, देश-रक्षा और 'क़दम-क़दम बढ़ेंगे हम' के जयघोष से हुआ। यद्यपि इन्हीं दिनों देश स्वाधीन हुआ था तथापि ऐसी समस्याएँ सामने आयी थीं, जो देश और समाज की चूक से सारे भवन की चूलें ढीली कर देतीं। कश्मीर के नये कवि और साहित्यिक ने समय की नज़ाकत को महसूस किया और राष्ट्रीयता व देशप्रेम का वह स्वर मुखर किया जिससे जन-जन के जीवन में नवस्फूर्ति और चेतना की लहर दौड़ गयी।

इस युग का प्रतिनिधित्व कविवर दीनानाथ 'नादिम' ने किया। उनके साथ उदीयमान कलाकारों का दल-का-दल आगे आया और सभी ने साहित्य के मोर्चे पर अपना-अपना स्थान अत्यंत जागरूकता से सम्हाल लिया।

संक्रांति का समय बीता। हलचल शांत हुई। तूफ़ान टल गया तो कश्मीरी का भाव-शिल्पी (कवि तथा साहित्यकार) प्रयोगवाद के दौर में पदार्पण करने लगा। नयी धाराओं से परिचित होने, नये तक़ाज़ों को पूरा करने और नये प्रयोगों को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। गत १०-१५ वर्षों का कश्मीरी साहित्य इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। कश्मीरी कविता के क्षेत्र में 'नादिम' ने जहाँ गीतिरूपक (opera) और सॉनेट की विधा आरंभ की, वहाँ रुबाइयों, नज़्मों और ग़ज़लों का क्षितिज भी बहुत विस्तृत किया गया।

इस दौर को यदि गद्यकाल भी कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि वास्तव में कहानी, उपन्यास, निबंध, रूपक, नाटक, प्रहसन और पत्रकारिता के लिए गद्य की भूमिका इसी दौर में तैयार हो सकी है। यद्यपि कश्मीरी में गद्य की राशि अभी थोड़ी है, तथापि जितनी भी है, विषय-वस्तु, शैली, अर्थात कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से श्रेष्ठ साहित्य की बराबरी करती है। इस क्षेत्र में अख़्तर मुहीउद्दीन, अलीमुहम्मद लोन, कामिल, बंसी निर्दोष आदि सफल प्रयास कर चुके हैं।

कश्मीरी पहले शारदा लिपि में लिखी जाती थी, जो देवनागरी से मिलती-जुलती थी। परंतु फ़ारसी लिपि के प्रचलित होने से शारदा का चलन रुक गया। इधर अब फ़ारसी लिपि (नस्ख़) में ही कुछ परिवर्तन कर के कश्मीरी लिपि बनायी गयी है, जिससे लिपि की अड़चन बहुत कुछ दूर हो गयी है।

अभी तक कश्मीरी में कोई दैनिक या साप्ताहिक नहीं निकला है। मासिक पत्र 'कुंग-पोश', 'गुलरेज़' और 'पंपोश' निकल कर बंद भी हो चुके हैं। साहित्य अकादेमी, कश्मीर कल्चरल अकादेमी और कश्मीर रेडियो (आकाशवाणी). कश्मीरी साहित्य को बढ़ावा देने में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। अब तक साहित्य अकादेमी की ओर से तीन पुरस्कार कश्मीरी साहित्यिकों को दिये जा चुके हैं जिनके नाम और रचनाएँ इस प्रकार हैं:

(१) मास्टर जिंदा कौल—'स्मरण' (कविता संग्रह)।
(२) अख़्तर मुही-उ-द्दीन—'सतसंगर' (कहानी संग्रह)।
(३) रहमान राही—'नौरोज़-सबा' (काव्य संग्रह)।

वर्तमान प्रगति को देखते हुए कश्मीरी साहित्य का भविष्य उज्वल है और यह आशा की जा सकती है कि भारतीय भाषा-उपवन का यह पुष्प भी पूर्णतः विकसित हो कर संपूर्ण उद्यान की शोभा में अभिवृद्धि करेगा।

इस स्तंभ के अंतर्गत दीनानाथ 'नादिम' और अख़्तर मुही-उद्-दीन की रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

दीनानाथ 'नादिम' का जन्म सन १९१६ में श्रीनगर (कश्मीर) में हुआ और उन्होंने बी० ए०, बी० टी० तक शिक्षा प्राप्त की। सन १९३५ से कश्मीरी में कविता करने लगे। इससे पहले उर्दू में शायरी करते थे। कविता के अतिरिक्त इन्होंने निबंध, कहानियाँ और नाटक भी लिखे हैं। कश्मीरी काव्य को इन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा से जितना बढ़ावा दिया है और जिस प्रकार साहित्य क्षेत्र में युग की गतिविधि का नेतृत्व किया है, उसको ध्यान में रखते हुए साहित्य के क्षेत्र में 'नादिम' आज की कश्मीरी के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

उनकी लोकप्रिय और सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में उनकी नज़्मों के अतिरिक्त 'बंबूर-यंबर्ज़ल' (नरगिस-भौंरा) का गीतिरूपक, उनके सॉनेट और रवींद्र ठाकुर के गीतों का रूपांतर है।

'म्य छेम आश पगहॅंच्य्' की जो कविता यहाँ दी गयी है, वह उनकी श्रेष्ठ कविताओं में गिनी जाती है।

'नादिम' प्रगतिशील वामपक्षी विचारधारा के समर्थक हैं। कश्मीरी अध्यापकों को संगठित करने और उनकी एक संस्था बनाने में उन्हें संस्थापक का श्रेय प्राप्त है। वर्षों कश्मीर की विधान-परिषद (लेजिस्लेटिव कौंसिल) में अध्यापकों के निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते रहे। इस समय, ललद्यद मेमोरियल हायर सेकेंडरी स्कूल, श्रीनगर, के आचार्य (प्रिंसिपल) हैं।

अख़्तर मुही-उद्-दीन का जन्म श्रीनगर (कश्मीर) में सन १९२८ में हुआ। उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। पहले उर्दू में कहानियाँ लिखते रहे। 'पौंड्रिच' शीर्षक कहानी पर एक बार अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता में दूसरा पुरस्कार प्राप्त किया। वर्षों से अब कश्मीरी में ही साहित्य-साधना कर रहे हैं। अब तक उनके दो कहानी-संग्रह 'सतसंगर' (सप्तशिखर) और 'सोंज़ल' (स्वर्णतरी) तथा 'दोद-दग' (पीड़ा-व्यथा) शीर्षक उपन्यास छप चुके हैं। 'सतसंगर' पर साहित्य अकादेमी का पाँच हज़ार रुपये का पुरस्कार मिल चुका है।

इस समय कश्मीर कल्चरल अकादेमी में कश्मीरी शब्दकोश के मुख्य संपादक हैं।

कश्मीरी यूनिट,
आकाशवाणी,
नयी दिल्ली।

कल मेरी आशा का दिन है

दीनानाथ 'नादिम'

●

कल मेरी आशा का दिन है,
कल संसार सँवर जायेगा !

जग-उजियारा निखरेगा औ' फुलवारी खिल-खिल जायेगी,
हुमक उठेगी धरती सारी, हरी चदरिया लहरायेगी,
'उन' के मन में प्रीत-प्यार की धारा उमड़-उमड़ आयेगी,
कल संसार सँवर जायेगा !

बिन काजल के हो जायेंगी कजरारी दो अखियाँ मेरी,
छाती में अमृत उतरेगा, होगी उर की छाँह घनेरी,
वर्षों बाद हमारे घर भी लग जाये 'दशहार'[1] की फेरी,
कल संसार सँवर जायेगा !

शिशु-रोदन की ध्वनि कानों में पड़ मिट जायेंगे ग़म सारे,
नृत्य करेंगे वक्षस्थल पर स्तन-पान के मंद इशारे,
चमक उठेंगी प्रसव-कक्ष की दीवारें स्वर्णाभा धारे,
कल संसार सँवर जायेगा !

सटे द्वार से धीमे-धीमे 'वे' सुन पायेंगे स्वर-लहरी,
गर्वित हो निज सीस उठा कर लौट चलेंगे मेरे प्रहरी,
मंद-मंद तब मैं गाऊँगी नन्हें के अब्बा की लोरी,
कल संसार सँवर जायेगा !

दौड़ी आयेंगी सब सखियाँ उत्सुक मुझे बधाई देने,
पूतों वाली छाँव चनार की हूँ ! खुल कर कह दूँगी उनसे,
एक न मानूँगी लेलूँगी गोद-उठाई एक-एक से,
कल संसार सँवर जायेगा !

कहते हैं कल जंग छिड़ेगी !
काश, छिड़े ना जंग कभी भी !
कल संसार सँवर जायेगा,
निश्चय ही कल जंग न होगी ॥१॥

---

[1] कश्मीरी हिंदुओं का एक प्रसिद्ध त्योहार जो, कुंभ की तरह, दस वर्षों के बाद मनाया जाता है।

कल मेरी आशा का दिन है,
कल साजन हैं आने वाले!

साँझ ढले ही लताकुंज की ओट निहारूँ बाट मैं उनकी,
प्रेम-प्यार की मतवाली 'हीमाल'[२] उन्हींकी राह तकूँगी,
चिंता नहीं अगर आने में उनके कुछ देरी भी होगी,
कल साजन हैं आने वाले!

प्रेम-दिवाना छिपता-छिपता आ जायेगा मटक-मटक कर,
तब मैं उनकी माला के हित चुनती हूँगी फूल मनोहर,
बात करेंगे, मैं रूठूँगी, मुखरित होगा सांकेतिक स्वर,
कल साजन हैं आने वाले!

लाख मनायें, मुखड़ा अपना रखूँगी तब तक लटकाये,
थामेंगे जब आँचल मेरा, तब देखूँगी आँख मिलाये,
गले लगाते ही आँसू की धारा रोके ना रुक पाये,
कल साजन हैं आने वाले!

सीस धरे गोदी में उनके व्यक्त करूँगी मनोवेदना,
भेटूँगी वे दाग़ रूपहले सीने पर जो बने अल्पना,
पूछूँगी, किस कारण भाया प्रेम-पाश में यों उलझाना!
कल साजन हैं आने वाले!

कह देंगे अब आने वाले दिन हैं, मचल उठेगा यौवन,
प्रीत हमारी मुक्त भाव से बहलेगी, हुलसेगा जीवन,
बीती पीछे छोड़, सजाना-सहलाना होगा अब नूतन,
कल साजन हैं आने वाले!

कहते हैं कल जंग छिड़ेगी!
काश, छिड़े ना जंग कभी भी!
कल साजन हैं आने वाले,
कल निश्चय ही जंग न होगी॥२॥

कल मेरी आशा का दिन है,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

बोल मधुर सुनते ही निकलूँगी मैं उनकी अगवानी को,
बरबस गले लगूँगी उनसे, जीवन वारूँगी मानी को,
नवल घास की सेज सजा कर बिठलाऊँगी वरदानी को,

---

[२]कश्मीरी लोककथा 'हीमाल-नागराय' की नायिका!

बच्चों के अब्बा आयेंगे!

थके हुए आयेंगे, पहले कोमल चरण पखारूँगी मैं,
पैर दबा कर, सहला कर तन, मीठी नींद सुलाऊँगी मैं,
गाढ़े श्रम की गठरी उसके संमुख ही रखवाऊँगी मैं,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

गठरी में होंगे गुलबूटे नये-नवेले सुंदर-सुंदर,
छींट मेरी औ' कर्ण-फूल जानी के झूमर स्वर्णिम मनहर,
होगा नन्हें के ख़तने का खर्चा भी गठरी के अंदर,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

आने वाली ईद के लिए नूतन वस्त्र सिलवायेंगे,
क़ुर्बानी के हित दो छोटी भेड़ें भी लेते आयेंगे,
हब्बे[3] की श्रेणी के बच्चों में रसगुल्ले बँटवायेंगे,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

पतझड़ को फिर जाना चाहें तब मैं एक नहीं मानूँगी,
नववसंत को नीड़ यहीं बनवाने का अनुरोध करूँगी,
भख, नंग और नादारी का मान बढ़ाने को कह दूँगी,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

कहते हैं कल जंग छिड़ेगी!
काश, छिड़े ना जंग कभी भी!
बच्चों के अब्बा आयेंगे,
कल निश्चय ही जंग न होगी।।३।।

●

अनुवादक : शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'

---

[3] हबीव का संक्षिप्त (प्यार का) नाम।

भावचित्र

दो आँखें

अख़्तर मुही-उ-द्दीन

एक व्यक्ति इधर से आया, दूसरा उधर से। दोनों आपस में मिले।

एक ने कहा, "अस्सलाम-अलैकुम!"

दूसरे ने ठंढी आह भरी। पहले व्यक्ति ने पूछा, "कारण? आप उदास से क्यों दीखते हैं?"

"अमुक आज मर गया!" दूसरा बोला।

"हाय-हाय!" पहले व्यक्ति के मुख से हठात शोकभरी आवाज़ निकल पड़ी। उसके बाद ख़ामोशी छा गयी। बस, कहानी समाप्त हो गयी। दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

पर कहानी बीच में लटकती रही; काली-कराली सी कहानी—'अमुक मर गया। एक इंसान मिट गया। अब न वह कभी देखा जायगा, नाही उसकी बातें कभी सुनने को मिलेंगी।' यह कड़वी कहानी मेरे सामने नाचती रही, अपने चारों ओर धूल-मिट्टी उड़ाती, बढ़ती, पुष्ट होती और ऊँचे-ही-ऊँचे उठती, बबूले[1] की तरह आँखों में रेत-मिट्टी झोंकती, मुख पर कालिमा पोतती और कपड़े-लत्ते उलझाती हुई!

बबूले-जैसी यह कहानी ऊपर उठी, बढ़ी, पुष्ट हुई और एक आकृति में परिणत हो गयी—खल्वाट पर मकई के सूखे डंठलों जैसे लटकते केश, कानों के पित्ते फटे हुए, पतली भस्मवर्ण सिल-पट्टी जैसी नाक, बढ़ी-फैली हुई आँखों के कीच के गढ़े—कीच के गढ़े, मानो पोखरों में पानी सूख कर काला कीचड़ शेष रह गया हो।

मैं डर गया। भाग जाता, पर भाग न सका। बबूले ने मेरा गरेबान पकड़ लिया। मैं हक्का-बक्का रह गया। और मैं जो कुछ सुन पाया उससे लगा मानो अंतर्मन के चोरद्वार की कुंडी खुल गयी हो...

कौन इस बात पर विश्वास करे कि एक दिन मैं पैदा हुआ—लता पर शबनम से धुला फूल-जैसा, टोकरी पर बेदमुश्क-वत चूज़े जैसा और गोशाला में जीवन-स्नात अर्धमुग्ध हंस जैसा। इस बात पर कौन भरोसा करे कि तभी मुझे नील सरोवरों की एक जोड़ी दिखी—दयापूर्ण, शीतल तथा रोगनिवारक जल से भरी हुई। मेरी आत्मा ने उन सरोवरों में स्नान किया, उनका ध्यान किया और जैसे उसकी थकन मिट गयी, जैसे उसी पवित्र स्नान से उसके अन्तर-अभ्यंतर

---

[1] बबूला—उर्दू (गिर्दबाद) अंग्रेज़ी Spiral के अर्थों में प्रयोग किया गया है। कश्मीरी में इसके लिए 'शैतानवाव' शब्द आता है जिसका शब्दानुवाद 'शैतानी हवा' हो सकता है।

के पापों का मल धुल गया। कहते हैं, मेरे अधरों पर बहार-सी खिल उठी ! पर मुझे क्या मालूम, खिली होगी। मुझे सुध ही कहाँ थी। मैं तो उन नील-सरों में अपने भविष्य के सपने देखता और झूम उठता था।

कौन माने कि नील सरोवरों की यह जोड़ी मेरी माँ की अखियाँ थीं। पैदा होते ही मेरे 'स्वत्व' पर इन आँखों की ही कृपा-वृष्टि हुई। मुझे यक़ीन हुआ कि ख़ुदा आसमान पर बठा हुआ मेरी जीवन-सामग्री जुटा रहा है। एक बीज को माटी में से उपजाने, धूप-वर्षा में पल्लवित हो कर पुष्पित होने की हिम्मत देता है। ख़ुदा माँ है, अपनी माँ—जिसकी आँखें नीलनाग जैसी हैं, कृपापूर्ण, शीतल और रोगनिवारक जल-भरी।

क्या बताऊँ उन नयनों में मैंने क्या देखा—जैसे मेरे पंख लग गये हैं और मैं नील गगन के विस्तार में एक विशाल संगत के साथ हिमधवल कपोत-सा उड़ रहा हूँ . . .उड़ रहा हूँ चहुँ ओर नाचते हुए, और बीच-बीच में पंख समेट कर गेंद की तरह नीचे उतर रहा हूँ . . .उतरते-उतरते झट अपने आप को पलटता हूँ और पुनः पर तोल कर ऊपर-ही-ऊपर चढ़ते हुए नाचता जाता हूँ।

धरती पर रहने वालो, तुम क्या जानो अंबर पर नाचना-थिरकना कितना मधुर है ! रक्त उबलता है, साँस के उतार-चढ़ाव से संपूर्ण फिज़ा डोल उठती है और नज़रें सूर्य की प्रचंडता और विस्तार पाती हैं। नाली के कीड़े पर दृष्टि ही नहीं पड़ती। यह सृष्टि की गणना में ही नहीं आता—यह उज्झड़-पागल कीड़ा, जो अपने आप को व्यर्थ ही दुनिया के जीवों का एक अंग गिनता है। मुझे इस पर हँसी आती है ! क्या यह कभी नक्षत्र बन कर ज्योति फैला सकेगा ? क्या यह नाली से बाहर आ कर भी गतिशील रह सकेगा ? हँसने वाली बात है। यह भी मोटे-तगड़ेपन के कारण अपने आप को कुछ समझता है, यह कीड़ा जो ऊपर-से-नीचे तक बस आमाशय ही आमाशय है।

अरे ! मेरा गरेबान जकड़ा हुआ है। कीच के गढ़ों-जैसी दो आँखों वाली आकृति मेरे सामने है। मगर इन कीच के गढ़ों में से भी मैं देख सकता हूँ—दूर अति दूर—वह दिन, जब मैं कहीं से आया हुआ कहीं जा रहा था। एक गली से गुज़रा कि राह कुछ नज़दीक थी। गली के नुक्कड़ पर बायीं ओर एक आस्तान (धर्मस्थान) है और दायीं ओर एक दर्ज़ी की दुकान। समय था, मध्याह्नोत्तर। सूर्य वृक्षों के पीछे छिपा था और धूप दायीं ओर के एक मकान पर पड़ रही थी। आस्तान के समीप पेड़ पर मैनाएँ शोर मचा रहीं थीं।

दर्ज़ी की दुकान पर कोई हारमोनियम पर गाना गा रहा था। हारमोनियम की ही तरह उसकी आवाज़ भी भद्दी-बेढंगी थी। जाने कौन-सा गीत गा रहा था। मैंने सुना नहीं, क्योंकि हारमोनियम की बेसुरी धुन उसकी भद्दी आवाज़ को दबा कर भिखमंगी बुढ़िया के भग्न चर्खे की-सी आवाज़ लग रही थी। साथ था, आस्तान वाले वृक्ष पर मैनाओं का शोर—जाने लोग ऐसा गाना क्यों सुनते हैं ?

मैंने अपने कान बंद किये। आसपास का सारा वातावरण मानो यह विलाप सुन कर दुख मना रहा था, और उस मकान की दीवार पर धूप थी जैसें अकिंचन कुटिया की घास की छत की आग चमकी हो। मैं कहीं जाने वाला था। हाय ख़ुदा, मैं इस गली से गुज़रा ही क्यों ?

किंतु खुदाया, मैंने अच्छा किया जो इस गली से निकला। ज्यों ही मैं उस दुकान के पास पहुँचा, उस कूचे के सिरे से जैसे एक परी पैदा हो गयी—यही कोई अट्ठारह वर्ष की आयु, लंबा छरहरा क़द, प्यालियों जैसे नयन और यौवनपूर्ण वक्ष ! फटे-पुराने कपड़े पहने, नंगे पाँव चल रही थी वह। उसकी आँखों में सारा विश्व प्रतिबिंबित था। उसके पदचाप में कथकलि थी, और उसकी भाव-भंगिमा पर कुसुम खिल-खिल जाते थे।

पास आते ही वह चिल्लायी; जाने मुझ पर या गायक पर। संबोधन था, "अरे ! क्या हो गया तुझे ? यह किस समय का राग गा रहा है ?"

उस चीख ने जैसे मुझे निर्जन स्थानों में से एकबारगी उठा कर 'शालामार' में डाल दिया। मैंने ठहर कर उसकी ओर देखा, मगर वह मेरी ओर नहीं देख रही थी; उस गायक पर बिगड़ रही थी, "अंधा है क्या ! देखता नहीं समय कौन सा है ?"

"अरी पगली ज़रा इधर आ।" दर्ज़ी ऊँची आवाज़ में बोला। गायक चुप हो गया। वह आने, दो-आने के निमित्त गाता था। उसे स्पष्ट ही यह दुख था कि पगली ने उसे आने, दो-आने से वंचित किया। पर मैं संतुष्ट था। उसका गाना बंद होने से जैसे दुनिया रोना-विलापना भुला बैठी। परंतु दर्ज़ी से चुप न रहा गया। वह दुकान से उठा, पगली के पीछे दौड़ा और उसको दुकान पर ले आया।

"अरी ! तुझे क्या हो गया है ? आ, तंबाकू के दो कश तो लगाती जा।" वह उसको मना रहा था।

पगली ने हुक्क़ा गुड़गुड़ाया। मुँह से इतना धुआँ उगला मानों छाती के भीतर की घास की झोपड़ियाँ जल गयी हों। मुख पर ऊष्मा की लाली उभर आयी और तव वह निश्शंक और निस्संकोच हो गायक से बोली, "सम्हाल रे साज़ !"

हारमोनियम रो रहा था, मगर अब नहीं। अब जैसे नींद की माती माँ अपने पहलौठे लाल को सुलाने के निमित्त लोरी गा रही थी। मैं उजाड़ों में से निकल कर 'शालामारों' की सैर कर रहा था। इतने में पगली गाने लगी—ऊँचे स्वर में, रसीले स्वर में, और फिर—क्या कहूँ, मैं क्या कहूँ—मेरे खुदा ! बुलबुलें भी ऐसी स्वरलहरी कहाँ से लायें ! कोयल भी हकला गयी, पपीहरा वैसा कंठ कहाँ से लाये ! मैं क्या कहूँ—न कुछ सुन पाया न सोच पाया—बस, अप्सराओं का सा हँसना सुनायी देता। मेरे भीतर कहीं से परियों की गीत-धुन उभरती हुई प्रतीत होती ! मैं वर्णन करता मगर शब्द कहाँ से लाऊँ—मैं भी मूक हो गया, हाँ, अवाक रह गया।

उस मकान की दीवार को रश्मिरथी अपनी स्वर्णकिरणों से स्पर्श कर रहा था। आस्तान की गौरव-गरिमा अभिभूत कर रही थी। हाट-बाज़ार के कंकरों की चोंचें आकाश की ओर तकते हुए करामात देखती थीं। और मैं ? जाने मैं कहाँ-कहाँ घूमता रहा !

गाना बंद हुआ। सारा देश-काल रुक गया। उड़ते-उड़ते जैसे मैं एक ऊँचे पर्वत पर सुस्ताने बैठ गया। जीवनोत्साह मेरे हृदय में तेज़ी से धड़क रहा था। दायें-बायें हिमशिखर मानो सूर्य को दर्पण दिखा रहे थे। अचानक पगली हँस पड़ी जैसे शीशभवन में मोती

१०

की डिबिया बिखर गयी अथवा जैसे किसी कारीगर ने संतूर के तारों पर झट से क़लम फेर दी !

अचानक अट्टहास हुआ मानो शीशमहलों में मोतियों की डिबियाँ बिखर गयीं या जैसे कारीगरों ने संतूरों के तारों पर क़लमें फेर दीं––मेरा दिल धक-धक कर रहा था। मैं महिलाओं का 'वनवुन' (गायन) नहीं सुन रहा था। मैं बूढ़े दादा की यह सीख नहीं सुन रहा था––'सुन लिया बेटे मेरे ! एक दिन मेरा भी व्याह किया गया, पर यह दुनिया झंझट है, मुसीबत है. . . ।' मेरे कानों को मानो स्वर-लहरी छू रही थी, मीठी और रसीली, और मेरी आँखें द्वार की ओर एकटक लगी थीं। मैं पल-क्षण गिन रहा था, मेरा दिल धक-धक कर रहा था।

यह हाथों पर से फूलों-भरा टोकरा चढ़ाया गया। लोक-परलोक में सुरभि रच-बस गयी। फूलों की इसी राह से मैं स्वर्ग को गया—'सुन लिया मेरे बेटे ! एक दिन की · · · · · !' बकवास ! सब लोग बक रहे हैं। जो मैं देख पाया, किसने देखा ? किसे देखना आयगा ? और किसके भाग्य में ऐसा दृश्य हो सकता था ?

यह जन्नत ! ये रंगबिरंगे फूल और फूलों की ओट में जोड़ा अनार का। झुटपुटे की डाली पर सेब और शीतल द्राक्षलता की छाँह तले दो सरोवर––गहरे, विशाल, शीतल, कृपामय और अंबरवर्ण ! मैं करूँ तो क्या करूँ ? हुस्न (रूप) की वासंती धूप में लेट जाऊँ कि शीतल छाँह में बैठ कर चौसर खेलूँ, या कि अंगूर की डालों के पास ताल-तटों पर बैठ कर अपनी छाया देखता रहूँ. . .आदम को 'स्व' कितना प्रिय है। मानव को अपना प्रतिबिंब कितना भला लगता है ! सौंदर्य छाया को अस्तित्व प्रदान करता है और बहार सत्ता को जन्म देती है।

मैंने हर रंग में सौंदर्य देखा—हर प्रकार सुंदरता का अनुभव किया। सुंदरता के रत्नाकर से मैंने लाल जवाहर निकाले—अरे, ये तो मेरी ही सूरत के हैं ! मेरी ज़ैसी ही इनकी ख़ू-बू है ! यह मेरा ही वजूद (अस्तित्व) दुहरा-चौगुना हो गया है—

"प्यारे ! मैं गेंद से खेलूँ"—हुस्न की मिहर !
"प्यारे ! मैं पाठशाला जाऊँ"—हुस्न की मिहर !
"प्यारे ! मैं गगन मापूँ"—हुस्न की मिहर !
"प्यारे ! मैं गीत गाऊँ"—हुस्न की मिहर !

—क्या अभी मैं काफ़िर हूँ ? क्या अभी बेईमान हूँ ? देखते नहीं, ज्योति-जीवन से मैं कैसे तन-बदन धो कर आया और अब किस उत्साह से पुष्प-चरण चूम रहा हूँ, गुलदस्तों के बोसे ले रहा हूँ और सरो (मयूरपंख) की मतवाली चाल के गले लग रहा हूँ। आसान नहीं है सागर में पैठना और गोता लगा कर फिर रत्न निकाल लाना। इसके लिए पहले जिंदा रहना आवश्यक है। यह देखो, मैं ज़िंदा हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, तरसता हूँ, पाता हूँ और बौरा जाता हूँ—हूँ न जीवित ?

अब छोड़ दे गरेबान ! मरा वही, जो मर गया। मैं कैसे मरूँ ! मैं, जो तुहारे कीच के गढ़ों में से भी देख सकता हूँ।

अनुवादक : शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'

विवेचना

विद्यानिवास मिश्र

भाषा और समाज

रामविलास शर्मा की भाषाविज्ञान संबंधी कृति। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, नयी दिल्ली। सन १९६१। मूल्य : १५.००।

हिंदी के प्रखर आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने **'साहित्यकारों से मूलतः प्रेरणा'** ग्रहण कर के भाषाविज्ञान पर यह विचारोत्तेजक और चर्चनीय ग्रंथ लिखा है। न्याय की बात यह होगी कि इस ग्रंथ का विवेचन साहित्यकार की कृति के रूप में किया जाय। मैं भाषाविज्ञान का (भाषा के नाम पर कल्पनाविलास का नहीं) अध्यापक होने के कारण शायद कुछ पूर्वाग्रह रख सकता था, परंतु 'भाषा और समाज' की भावात्मक परिधि हिंदी भाषा और हिंदीभाषी जन को ही केंद्र बनाये हुए है, इसलिए हिंदी के एक पक्षधर तथा हिंदी के एक विनीत लेखक की हैसियत में ही अपने को रखूंगा और डॉ० रामविलास शर्मा की उपलब्धियों का मूल्यांकन भी उसी दृष्टि से करने का यत्न करूँगा। इतना ज़रूर पहले ही जोड़ दूं कि वहुत सी प्रचलित भ्रांतियों का खंडन जो डॉ० शर्मा ने अपने मौलिक ढंग पर या पावलोव जैसे रूसी सहधर्मियों के प्रमाण के आधार पर किया है, वह खंडन भाषाविज्ञान की नयी संघटनात्मक धारा बड़े सहज ढंग से कर चुकी है; उससे भी लाभ उठाना कुछ कुफ़्र न होता।

डॉ० शर्मा ने इस ग्रंथ में मुख्य रूप से तीन मान्यतायें सामने रखी हैं : एक तो यह कि **'भाषा का अध्ययन उनकी ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और मूल शब्दभंडार को दृष्टि में रख कर करना चाहिए'**, दूसरी यह कि **'भाषा के रूप और उसकी विषयवस्तु पर उन अंतर्विरोधों का प्रभाव पड़ता है जो सामाजिक विकास के कारण होते हैं, चाहे वे उस समाज के बाहर से उद्भूत हों या उसके भीतर से'** और अंतिम यह कि **नस्ल (रक्त, रेस) और भाषा का समवाय संबंध नहीं है।** पहली और दूसरी मान्यताओं में स्पष्टतः विरोध है। अगर भाषा के अध्ययन का आधार उसकी ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और मूल शब्दभंडार है तो फिर सामाजिक प्रभाव को प्रमुखता कैसे दी

जा सकती है ? लिखित साक्ष्य पर आधृत ऊहात्मक भाषाशास्त्र की जो धारा १९ वीं शती तक पश्चिम में चलती रही, उसकी कमज़ोरी तो तभी सामने आ गयी जब बोली जाने वाली भाषा के रूप को ही भाषा का जीवंत रूप माना जाने लगा। इसीलिए **फिलॉलजी** (अर्थात लेख-परीक्षा शास्त्र) के स्थान पर **लिंग्विस्टिक्स** (भाषा—बोली जाने वाली—विज्ञान) नाम की प्रतिष्ठा हुई। इस नये बोध ने भाषा को अपने आप में एक परस्पर संबद्ध और सामाजिक स्वीकृति प्राप्त व्यवहार-साधन के रूप में स्थापित किया। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का पारिवारिक वंशवृक्ष वाला हिसाब-किताब अपने आप ढह गया; संस्कृत की बेटी न तो प्राकृत है, न प्राकृत की बेटी या पोती हिंदी ही है। हाँ, संस्कृत या भाषा के लिखित सांक्ष्य अवस्थांतर की प्रक्रिया को समझने के लिए सहायक हैं। संस्कृत और प्राकृत का, प्राकृत और अपभ्रंश का, अपभ्रंश और संस्कृत का, अपभ्रंश और हिंदी का, हिंदी का और संस्कृत का एक समकालीन स्तर पर व्यवहार हुआ है और आगे भी इस प्रकार का सहजीवन संभव है। संस्कृत या प्राकृत या अपभ्रंश के जो साहित्यिक रूप हमें प्राप्त हैं, वे एक जाति की भाषा की ऐतिहासिक यात्रा के मील के पत्थर हैं। वे स्वयं गति नहीं हैं, मात्र गति के मापक हैं। दूसरे शब्दों में, हर एक समुदाय भाषा की एक विरासत ले कर जब आगे बढ़ता है तब वह विरासत हर क्षण परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रती है और यह परिवर्तन भाषा के किसी एक अवयव में न हो कर उसकी समग्र रचना में होता है, भाषा की एक ईंट अलग से खिसकायी नहीं जाती, ईंटों का पूरा विन्यास ही बदल जाता है; तभी कहा जाता है, अमुक भाषा अमुक से भिन्न हो गयी है। अपनी पहली मान्यता का प्रतिपादन करते समय डॉ० शर्मा स्वयं उसी प्राचीन तुलनात्मक भाषाविज्ञान की संकुचित और साथ ही विभक्त दृष्टि के शिकार हो गये हैं जिसके विरुद्ध उनका इतना सही आक्रोश है। भाषा की ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और शब्दभंडार—क्या ये तीनों चीज़ें अलग की जा सकती हैं ? जैसे किसी एक नस्ल से किसी एक भाषा का कोई सहजात संबंध नहीं हो सकता, उसी तरह किसी एक भाषा या एक भाषाभाषी जन की कोई एक स्थिर प्रकृति भी नियतभावी नहीं है। चाहे मार्क्सवाद की दुहाई दी जाय या भौतिक विज्ञानवाद की या आध्यात्मिक चिंतन की, वाक् और अर्थ अविभाज्य हैं, संपृक्त हैं, और उनमें अकेले-अकेले परिवर्तन नहीं हो सकता। भावप्रकृति ध्वनिप्रकृति के साथ-साथ बदलती है, इसका एक प्रमाण यह है कि विभक्तियों की ध्वनियों के घिसाव के साथ-साथ हिंदी में संश्लिष्टता समाप्त हो कर विश्लिष्टता आयी है और रूप की अभिव्यक्ति विभक्ति के योग से न हो कर पूरे पद के योग से होने लगी है। केवल विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से वर्ण, रूप और वाक्य एक ओर और अर्थ दूसरी ओर रखा जाता है, नहीं तो भाषा की अनुभाव्य वास्तविक इकाई उक्ति के रूप में वाक्य और ग्रहण के रूप में उसका एक अखंडार्थ है। इसीलिए जब बच्चा भाषा सीखता है तब सबसे पहला संस्कार वाक्य के काकु का होता है और काकु का संस्कार ही सबसे दृढ़ होता है। दूसरी भाषा की शब्द-रचना और वाक्य-रचना सीख कर भी प्रायः उस भाषा की काकु-रचना यदि भिन्न है तो अपनी भाषा की काकु-रचना के अनुसार ही वह दूसरी भाषा बोलेगा।

सामाजिक अंतर्विरोध या समन्वय या सतह पाने की कोशिश से अर्थ जब प्रभावित होता है तब एकांश में नहीं पूरी की पूरी भाषा की विभेदक रेखायें नयी हो जाती हैं। यहाँ तक कि उधार

लिये हुए शब्द एक भिन्न निश्चित संदर्भ में स्थापित हो जाते हैं, पूर्ण पर्याय नहीं बन पाते। जिन संदर्भों में 'ख़ास' का व्यवहार होता है उनमें कुछ में 'विशेष' का भी व्यवहार हो सकता है, पर कुछ ऐसे संदर्भ ज़रूर होंगे जहाँ 'ख़ास' और 'विशेष' का विनिमय नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, 'ख़ास-ख़ास जगहों' की जगह 'विशेष विशेष स्थानों' को यदि रखा जाय तो पहली उक्ति में जो आत्मीयता का बोध है, वह नहीं आ पाता। इसलिए मैं डॉ० शर्मा की पहली मान्यता में असंगति पाता हूँ।

जहाँ तक दूसरी मान्यता का प्रश्न है, उससे इस अंश तक तो प्रायः सभी की सहमति है—वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के भारतीय विद्यार्थियों की भी है, (आगरा वालों की बात निराली है)—कि सामाजिक घात-प्रतिघात भी एक कारण है भाषा के विकास में। पर वह कारण उतना मुख्य नहीं है क्योंकि यद्यपि समदाय के संकेत या समय ही में भाषा का प्रामाण्य निहित है, तथापि परिवर्तन की प्रक्रिया की शुरुआत व्यक्ति से होती है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ भिन्न रूप में भाषा को ग्रहण करता है और इसीलिए बोलते समय वह कुछ न कुछ भेद कर ही देता है। पर एक परिधि के भीतर ये भेद ऐसे मालूम होते हैं जैसे कोई ख़ास बात न हुई हो। पारिभाषिक शब्दावली में ये भेद सार्थकता नहीं रखते। उस परिधि के बाहर जाते ही (यह बात भौगोलिक सीमा के कारण हो सकती है, ऐतिहासिक सीमा के कारण भी हो सकती है, सामाजिक सीमा के कारण भी हो सकती है) भेद की प्रतीति होने लगती है; तब हम कहते हैं कि दो भाषाएँ हो गयीं। अगर एक भाषा और दूसरी भाषा में भेद की प्रतीति के बावजूद काफ़ी हद तक संप्रेषणीयता और व्यवहारसाम्य है और दोनों एक तीसरी अपेक्षाकृत अधिक परिधि वाली भाषा से जुड़ी हुई हैं तो पहली दोनों उस तीसरी की बोलियाँ भी कही जा सकती हैं। वैसे, भाषा और बोली का भेद बड़ा ही अवस्तुपरक है। राजतंत्र में या प्राचीन भारत की जैसी बौद्धिक प्रभुत्व वाली व्यवस्था में व्यक्ति या विशिष्ट व्यक्तियों का भाषा के विकास में योगदान होना तो स्वाभाविक था ही, जनतंत्र में भी, जहाँ व्यक्ति के सम्मान की सुरक्षा है, भाषा के परिवर्तन का प्रवर्तक व्यक्ति है; समुदाय परिवर्तन को मर्यादित करने वाला यंत्र है। समुदाय परिवर्तन की तीव्रता और एकोन्मुखता पर नियंत्रण रखता है, परिवर्तन की प्रक्रिया को एकदम रोक नहीं सकता। स्तालिन और कोस्मिस्की के सामाजिक विकास वाले जिस सिद्धांत को भाषा के क्षेत्र में डॉ० शर्मा ने लागू किया है, वह सिद्धांत स्वयं तर्कशुद्ध नहीं है। आदिम क़बीलों से लघु जातियाँ और लघु जातियों से महाजाति उद्भूत हुई यह बात कम से कम भारत के इतिहास पर घटित नहीं है। भारत में सामंतवादी संगठन क़बीलों के बाद नहीं, महाजाति के बाद है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ग-संघर्ष नहीं, व्यक्ति और समाज के बीच सामरस्य स्थापित करने का यत्न है। संघर्ष एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच नहीं था, संघर्ष यदि था तो व्यक्ति और समाज के बीच। इसीलिए चार ऋणों की व्यवस्था कर के व्यक्ति को समाजपरायण और समाज को संन्यासी व्यक्ति के प्रति प्रणत बनाया गया; इसीलिए समाजवाद या समाजनिरपेक्ष आंदोलन, जो व्यक्ति और समाज के बीच एक दरार डालते थे, निरंतर विफल हुए। जिन लोगों ने वेद का अप्रामाण्य स्वीकार करते हुए नयी 'सका निरुत्ति' (स्वका भाषा) या नयी आर्ष भाषा (अर्ध मागधी) की पवित्रता पर बल

दिया, उन्हीं लोगों ने सामंजस्य की व्यापक धारा के बहाव में विवश हो कर अपने धर्म को बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य बनाने के लिए संस्कृत भाषा का आश्रय लिया। जो नहीं ले सके, वे ही अनुदार बने, हीनयानी कहलाये। पाश्चात्य नृतत्व और समाजशास्त्र के पंडितों ने ग्राम्य संस्कृति की नागर संस्कृति में परिणति का सादृश्य ढूँढ़ कर लघु समुदाय और महान समुदाय का जो भेद भारत में भी आरोपित करना चाहा है, वह ठीक नहीं है। भारत की सांस्कृतिक स्थापना नागर संस्कृति को देख-सुन कर तिरस्कृत करने वाली ग्राम्य संस्कृति की नींव पर हुई है। इसलिए भारत के सामाजिक इतिहास की प्रक्रिया भी एक ही डंडे से हाँकी जाय, यह उचित नहीं है। डॉ० शर्मा की समाजशास्त्रीय स्थापनाएँ (जो उनकी अपनी नहीं हैं) रोचक हैं, उनका प्रयोग और अधिक रोचक है, पर उनका निष्कर्ष ग्राह्य नहीं हो सकता।

मैं उनकी मान्यताओं से असहमति रखते हुए इतना बलपूर्वक कहूँगा कि डॉ० शर्मा ने साहसपूर्वक उन लचर तर्कों का खंडन किया है, जो भारत के द्वारा एकजातीय भाषा स्वींकार न किये जाने के पक्ष में दिये जाते हैं, या जो भारत को भाषावार खंडों में विभक्त करते हैं। भाषाओं की पारिवारिक एकता या एकरक्तीय एकता के सत्याभास का खंडन शक्तिशाली ढंग से किया गया है। वस्तुतः पारिवारिक एकता की बात विशुद्ध वैदुषिक स्तर पर करनी चाहिए। व्यावहारिक स्तर पर यह कहना कि ब्राहुई (बिलोचिस्तान के एक हिस्से में बोली जाने वाली भाषा) द्रविड़ परिवार की है इसलिए ब्राहुईभाषी तमिलभाषियों के समीप होंगे, विशुद्ध गजनिमीलिका है। उसी तरह, रक्त के आधार पर आर्य, द्रविड़, कोल और किरात परिवार, ये नाम भी भ्रामक हैं। विश्व में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ ये मध्ययुगीन अस्थि-अवशेष धारणाएँ मेल नहीं रखतीं। वस्तुतः जैसा कि अमरीका के एक विश्रुत पंडित प्रो० एमेन्यू ने प्रतिपादित किया है, भाषा-परिवार की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक और अनुभाव्य संबंध की इकाई है भाषा-क्षेत्र, और उन्होंने यह सुझाया है कि भारत एक भाषा-क्षेत्र है जिसमें बोली जाने वाली भाषाएँ संगठन की अभिव्यक्ति और अर्थवत्ता दोनों ही स्तरों पर व्यापक समानताएँ रखती हैं और निरंतर एक दूसरे को प्रभावित कर रही हैं। यही कारण है कि विभिन्नता रखते हुए भी तमिलभाषी हिंदीभाषी तक जितनी आसानी से अपनी बात पहुँचा सकते हैं, उतनी आसानी से फ़्रेंचभाषी जर्मनभाषी तक नहीं पहुँचा सकते, रूसी यूगोस्लाव तक नहीं पहुँचा सकते। इस समय स्थिति यह है कि वाक्य-संघटना, स्वरध्वनि-संघटना, मुहावरों की रचना तथा अर्थच्छटा में समस्त आधुनिक भारतीय भाषाएँ एक तार पर बज जाती हैं।

हिंदी जितनी तेलुगु के समीप है उतनी संस्कृत के नहीं। वस्तुतः संस्कृत नहीं, संस्कृत में निहित बौद्धिक संपदा योजक सूत्र है। देश के स्वतंत्र बौद्धिक विकास में उस संपदा का उपयोग होना स्वाभाविक है। उस संपदा का वाहन जितनी संस्कृत है, उतनी ही ब्रज, अवधी, मराठी, बँगला, तेलुगु, तमिल और पालि-प्राकृत भी हैं। हमारी चिंतन-प्रक्रिया में इसीलिए सूक्ष्म रूप से एकजातीय स्रोत का प्रवाह है। हिंदी उस प्रवाह की केंद्रीभूत शक्ति है; न किसी से छोटी, न किसी से बड़ी। यह उसका भौगोलिक और ऐतिहासिक दाय है। डॉ० शर्मा ने हिंदी-उर्दू विवाद की निस्सारता सही तरीक़े से परखी है और भारतेंदु-युग की सहज भाषानीति का महत्व भी

ठीक-ठीक समझा है। जो लोग साहित्यिक हिंदी के ऊपर संस्कृतनिष्ठता का आरोप करते हैं, वे भूल जाते हैं कि विद्यापति से ले कर भारतेंदु तक प्रत्येक हिंदी कवि ने 'भदेस की भनिति' में सौंदर्य की बारीक़ी पहचानी थी, पर विचार की समृद्धि उन्हें विवश करती थी कि नये सिरे से प्राचीन स्रोत से शब्द लें, उन्हें अपने 'देसिल बैना' के साँचे में ढालें। तभी तो **'पुनीत'** जैसे शब्द आ गये और **'परम पुनीत'** बन गये। यह संस्कृत के प्रति निष्ठा नहीं है, यह है अपनी भाषा की समृद्धि के प्रति निष्ठा। आज जो लोग **'जाने'** के बजाय **'गमन'** कर के अपनी संस्कृत निष्ठा का इज़हार करते हैं, वे 'शिवद्रोही मम दास कहावा' की तरह संस्कृत के भी उतने ही दुश्मन हैं, जितने हिंदी के। भारतेंदु से ले कर राहुल सांकृत्यायन की हिंदी-निष्ठा संस्कृताश्रित न हो कर संस्कृतानुरागिणी है। हिंदी की स्वतंत्र सत्ता के प्रति निष्ठा जाग्रत करने में 'भाषा और समाज' सफल है। यह दूसरी बात है कि 'हिंदी शब्दानुशासन' की दुहाई देते-देते, हिंदी के मौलिक व्याकरण का दावा करते हुए भी, डॉ० शर्मा भी संस्कृत व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों के जाल में फँस जाते हैं, क्योंकि तुलनात्मक पूर्वाग्रह से वे मुक्त नहीं हो सके हैं। हिंदी व्याकरण में कर्ता, कर्म, करण आदि की बात उठानी उतनी संगत नहीं, जितनी क्रिया रचना से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार के संबंध रखने वाली क्रियेतर रचना की बात संगत है। उदाहरण के लिए, **मैं** देखता हूँ, **पहाड़** दिखता है, मैंने **रोटी** खायी, इन तीन वाक्यों में **मैं, पहाड़** और **रोटी** क्रिया रचना से प्रत्यक्ष संबद्ध हैं, जब कि **मुझे** जाना है, **मुझसे** न होगा, **मैंने** खाया, में **मुझे, मुझसे** और **मैंने** क्रिया रचना से प्रत्यक्ष संबद्ध नहीं हैं, इसीलिए लिंग वचन में वे क्रिया से समनुहार नहीं रखते। इसी प्रकार सकर्मक और अकर्मक भेद न कर के **ने--क्रिया** और **ग़ैर-ने क्रिया** इस प्रकार भेद करना चाहिए। **'लाया'** क्रिया सकर्मक हो कर भी **'ने'** नहीं लेती। पर डॉ० शर्मा संघनात्मक भाषाविज्ञान से जाने क्यों घबराते हैं। इसी घबराहट के कारण उन्होंने अधुनातन प्रवृतियों का (जो रूस और अमरीका दोनों जगह एक सी अमूर्त्तोंमुख हैं) लाभ नहीं उठाया और उन्हें निरस्त सिद्धांतों का (हिंदी की सस्ती पाठ्यपुस्तकों में उन्हें स्थान मिला हुआ है, यह दूसरी बात है। यह तो पाहन पूजा का परिणाम है) व्यर्थ खंडन करने का श्रम उठाना पड़ा है।

कदाचित खंडन के उत्साह के अतिरेक ने ही डॉ० शर्मा की सचेत दृष्टि पर भी यह पर्दा डाल दिया कि वे यह नहीं देख सके कि भारोपीय भाषा की कल्पना की बात करते समय किसी वास्तविक भाषा के अस्तित्व की बात आज कोई समझदार आदमी नहीं करता। प्रत्येक भाषा में उसके भीतर ही प्राक् रूप के आकलन के लिए आधार मौजूद है, उसी का विस्तार कर के एक से अधिक व्यवस्थित रूप से संबद्ध भाषाओं के प्राक् रूप की वास्तविकता का नहीं, बल्कि उसकी संघटना के सीमांतों का आकलन किया जाता है। उदाहरण के लिए, प्राक् भारोपीय भाषा में क् की तीन श्रेणियों या दो श्रेणियों की बात करते समय जिन **क्, क्य्, क्व्**, विभेदकों को स्थापित किया जाता है, वे क्या थे यह पता नहीं, पर उनमें दो-दो विभेदक-राशियों का सम्मिश्रण था, जिसके कारण एक से तालव्य, दूसरे से ओष्ठ्य भेद होने की संभावना निहित थी। संघटना में परिवर्तन एक ध्वनि में नहीं होता और परिवर्तन इसीलिए नयी संघटना को जन्म देता है। **र। ल** का भेद **र** के एकीकरण में आ कर पुनः **र। ल** की अभिन्नता में परिणत हो सकता है, और यही

वैदिकोत्तर भाषा में हुआ है, और यह अभिन्नता पुनः भिन्नता में परिणत हो सकती है। यह भी जरूरी नहीं कि परिवर्तन की वही प्रक्रिया सदियों तक चले; वह प्रक्रिया रुक सकती है, वह प्रक्रिया विपरीत दिशा में मुड़ भी सकती है। एक संघटना को दूसरी संघटना काटती है और नयी संघटना जन्म लेती है। हिंदी में **ड़** ध्वनि दो स्वरों के बीच में या अक्षरांत में आती थी, शेष स्थितियों में **ड** आती थी। रेडियो जैसे अंग्रेज़ी शब्दों के आने पर अब **ड । ड़** दोनों दो स्वरों के बीच आते हैं और वे अब पूर्ण विसदृश ध्वनियाँ हैं। डॉ० शर्मा ने भारोपीय भाषाओं को असंबद्ध स्थापित करने के लिए या प्रा० भा० आर्यभाषा, मध्य भा० आर्यभाषा और आधुनिक भा० आर्यभाषा की मंज़िलों को व्यर्थ सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं, वे अधिकतर तर्काभास हैं। मूल शब्दभंडार की बात करते समय वे चीनी, सुमेरियन और अरबी से दूराकृष्ट समीकरण स्थापित कर सकते हैं, पर प्रत्येक अपवाद ध्यान रखने वाले सुस्थापित भारोपीय समीकरण उन्हें ग्राह्य नहीं हैं।

वे जब धातु से धातु का उद्‌भव दिखलाना चाहते हैं तब भूल जाते हैं कि धातु भाषा की चीज़ वस्तु नहीं, भाषा के विश्लेषण की एक काल्पनिक इकाई है; वह एक मानसिक सत्ता है। भाषा बोलने वाला सिर्फ़ उसका आभास पाता है। **मैं सोता हूँ, मैं सोया, सोना हराम हो गया है** में एक इकाई की समानता का उसे आभास है, भाषाविद उसमें से चाहे **'सो'** इकाई कल्पित करे चाहे **'सोय'**, बोलने वाले को इससे कोई प्रयोजन नहीं। वस्तुतः पालि क्रिया की पूरी रचना से नयी धातु की इकाई बनती है, संस्कृत की इकाई से पालि की इकाई नहीं निकलती। **सुनना 'श्रु'** से नहीं निकला, **श्रृणोति** से **सुणोति, सुणेइ** आये और तब **'सुनइ'** आया और तब **'सुनना'** निकाला गया। इसी प्रकार कृदंत प्रत्यय भी निरपेक्ष रूप में नहीं आये; वे पूरी संघटना के अंग हो कर आये। **गत** का **गया** हुआ, पर **गता** का **गयी** जो हुआ वह इसलिए कि लिंग की संघटना संस्कृत से हिंदी में भिन्न थी। डॉ० शर्मा इस हद तक तो बिल्कुल सही दृष्टि रखते हैं कि **'संस्कृत को परिनिष्ठित भाषा बनाया गया था, उसकी समानांतर जनपदीय भाषाओं के बीच में, न** कि प्राकृतों से भिन्नता दिखाने **के लिए उसके संस्कार किये गये थे'** पर जहाँ वे यह कहते हैं कि **'धन, जन, वन** जैसे तत्सम रूपों **को हम सदा संस्कृत से आया नहीं मान सकते, उसी प्रकार तद्‌भव रूप भी इस सामान्य संपत्ति से बड़े होंगे, यह अनुमान तर्कसंगत है'**, वे अपने ही प्रवाहवाद का खंडन करने लगते हैं। **कमल । कँवल, गाभिन । गर्भिणी** जैसे युग्म शुरू से ही युग्म नहीं रहे होंगे, ये दो विभिन्न कालिक संघटनाओं के संश्लेष को सूचित करते हैं। प्राचीन भाषा की सांस्कृतिक संपदा बार-बार नये अर्थ देने जब आती है तब नये शब्द भी देती है, उन शब्दों से नये शब्द बनाने की प्रेरणा भी देती है। 'प्रतिनिधि' किस मूल संपदा का शब्द है जो आज सर्वत्र गृहीत हो गया। लगता है डॉ० शर्मा कुछ ज़्यादा मात्रा में साहित्यिक हो गये हैं।

इसी प्रकार डॉ० उदयनारायण तिवारी के इस मत के खंडन में कि भोजपुरी संघटना में पश्चिमी हिंदी की अपेक्षा बँगला के समीप है, डॉ० शर्मा ने भावुकता का ही अधिक परिचय दिया है। शुद्ध व्यवहार के स्तर पर तो बात यह है कि पंजाब से ले कर बिहार तक प्रायः औसत व्यक्ति दो भाषाएँ बोलता है, एक हिंदी और दूसरी अपनी स्थानीय भाषा—जिसे बोली कहिए मुझे कोई आपत्ति नहीं—पर वह भाषाभाषी के माध्यम से संबद्ध होते हुए अपनी संघटना में स्वतंत्र है।

यह मान लेने पर भोजपुरी बँगला के समीप हो, इससे हिंदी की क्षति नहीं होती है, हिंदी की समृद्धि का विस्तार होता है। समीप होने का अर्थ परस्पर संप्रेषणीयता नहीं है। हिंदी क्षेत्र की बोली भोजपुरी है, पर खड़ी बोली की वह बोली नहीं। स्वयं खड़ी बोली हिंदी क्षेत्र की बोली है, हिंदी नहीं है। डॉ० तिवारी हिंदी की व्यापक सत्ता को खड़ी बोली, ब्रज और अवधी की सत्ता से पृथक कर के देखते हैं। भोजपुरी को वे बँगला के समीप दिखलाते हैं, इसलिए कि संघटना की दृष्टि से दोनों एक हद तक समान विकासक्रम को द्योतित करती हैं। और डॉ० तिवारी यह भी समझते हैं कि बँगला अब भोजपुरी को प्रभावित करे, इसकी संभावना नहीं है। संभावना क्या वास्तविकता भी यही है कि हिंदी भोजपुरी को प्रभावित करे और भोजपुरी हिंदी को प्रभावित करे। कालांतर में जो भाषा संघटित हो, उसे हम आज की बँगला से एकदम अछूती कह सकें, पर तब भी इस नयी भाषा का इतिहास रचते समय बँगला से मध्ययुग में संबद्ध होने की बात उपेक्षित नहीं कर सकते।

मैं डॉ० शर्मा के उदाहरणों के विश्लेषण के ब्योरे में नहीं पड़ना चाहता, क्योंकि वह भाषाविज्ञान के अध्यापक की बात होगी, पर भाषा के सामाजिक समीक्षक की हैसियत से विचार करते समय मुझे लगा कि उनके ग्रंथ में जहाँ उत्साह के साथ मत को रखने का खुलापन है, वहाँ दूसरों के मत को न समझने की संकीर्णता भी है और उनके तर्क जितने विस्तृत हैं, उतने पैने और परिच्छिन्न नहीं। डॉ० शर्मा ने परिनिष्ठित भाषा के प्रश्न पर जो विचार किये हैं, वे अवश्य सुलझे हुए विचार हैं। उनमें न तो ग्रंथिलता है, न उनके समानधर्माओं का मताग्रह ही। अधिक अच्छा होता कि इस ग्रंथ को उन्होंने इस समस्या तक केंद्रित रखा होता और इसका नाम भी रखा होता—हिंदी भाषा और हिंदीभाषी समाज। तब उनके साहित्यिक संस्कारों का भी अच्छा उपयोग हुआ होता और वे व्यर्थ के बाहरी विवादों से बच भी गये होते। अंत में मैं डॉ० शर्मा को उनके इस ग्रंथ के लिए साधुवाद देता हूँ कि उन्होंने भाषा संबंधी हमारे जड़ीयमान चिंतन को एक गति दी है और भाषा के बारे में बौद्धिक सचेतपन लाने का सफल प्रयास किया है।

संस्कृत-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर।

'विवेचना' में 'भाषा और समाज'

पिछली १६ जुलाई को सायंकाल एनीबेसेंट मेमोरियल हॉल में 'विवेचना' गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें डा० रामविलास शर्मा के 'भाषा और समाज' नामक ग्रंथ पर विचार-विमर्श किया गया। विवेचनात्मक निबंध श्री विद्यानिवास मिश्र ने प्रस्तुत किया और गोष्ठी की अध्यक्षता की डा० हरदेव बाहरी ने।

निबंध-पाठ के बाद हुए विचार-विमर्श में प्रमुख रूप से सर्वश्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, उपेंद्रनाथ अश्क तथा वेदप्रकाश ने भाग लिया।

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि पुस्तक में सामाजिक विकास वाली बात ठीक ही कही गयी है। प्रश्न उठता है कि हिंदी का रूप क्या है, अर्थात हिंदी आज क्या है? डा० ग्रियर्सन और डा० उदयनारायण तिवारी दोनों का मत है कि भोजपुरी एक स्वतंत्र बोली है। पूर्वी हिंदी का पश्चिमी हिंदी से कोई संबंध व्याकरण की दृष्टि से नहीं है। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग में शर्मा जी का चिंतन बहुत संतुलित और स्पष्ट है। सामाजिक विकास के अतिरिक्त उन्होंने हिंदी-उर्दू, भोजपुरी आदि से संबद्ध कुछ बातें भी कही हैं, जिनसे हिंदी का वास्तविक स्वरूप समझने में सहायता मिल सकती है। पर यदि इस समस्या को काव्य-भाषा की दृष्टि से भी देखा गया होता तो विवेचन में और स्पष्टता आ सकती थी। यों भाषा के विकास और प्रसार के संबंध में उनका जातीयता संबंधी अध्ययन प्रचलित भ्रमों का कुछ दूर तक निराकरण करता है। संघटनात्मक तत्व पर बल देने से भाषा की समस्या सुलझ नहीं सकती। उर्दू और हिंदी दोनों का साहित्य अलग-अलग है; बोलचाल के स्तर पर उनका रूप भले ही एक हो। आज तक हिंदी साहित्य के इतिहास में इसीलिए मीर और ग़ालिब को नहीं रखा गया। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि निबंध में मिश्र जी ने भाषा और बोली के विभाजन में बोधगम्यता के तत्व पर अधिक बल दिया है। लेकिन यदि इनके आधार पर भाषाओं का विवेचन किया जाय तो स्वयं ग्रियर्सन के अनुसार बँगला, असमिया, उड़िया आदि भाषाओं का अलग-अलग विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि हम बोधगम्यता अथवा संप्रेषणीयता को मूल आधार मान लें तो बँगला, असमिया, उड़िया की समस्या उपस्थित हो जायगी। तीनों भाषाओं की तीन जातियाँ हैं; तीनों का अपना साहित्य है। यहाँ विभाजन में स्पष्ट ही संप्रेषणीयता को आधार नहीं माना जा सकता।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि मैंने पुस्तक को बहुत ध्यान से पढ़ा है। शब्द-भंडार वाली बात पर सब जगह बल दिया गया है। ध्वनि, शब्द आदि भाषा के विभिन्न रूपों पर विचार किया गया है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में संघटनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रयोग गत बीस वर्षों से किया जाने लगा है। किंतु शब्द-भंडार भाषा का उतना आवश्यक

अंग नहीं है। यदि भाषा के संबंध की बात की जाय तो निश्चय ही ग़लत अर्थ निकाले जायँगे। भाषा का पारिवारिक संबंध अखंड काल तक के लिए नहीं होता। उदाहरण के लिए, उर्दू और हिंदी दोनों अलग-अलग भाषाएँ न मानी जा कर वे एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानी जाती हैं। संप्रेषणीयता की दृष्टि से वे एक दूसरे के लिए कठिन भी नहीं हैं। कालांतर में वे एक दूसरे में परिनिष्ठित हो जायँगी।

श्री वेदप्रकाश ने प्रश्न किया कि यदि हिंदी और उर्दू दोनों अलग-अलग भाषाएँ न हो कर एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं तो फिर उर्दू के कवियों को हिंदी का कवि क्यों नहीं समझा जाता। संघटनात्मक तत्व के आधार पर यह समस्या नहीं सुलझ सकती। यदि उर्दू के संबंध में निहित स्वार्थ वाली बात कही जाती है तो आज यही बात हिंदी के लिए भी लागू हो सकती है।

श्री उपेंद्रनाथ अश्क ने कहा कि उर्दू के शायर हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में नहीं आये यह बात तो ठीक है किंतु जहाँ तक जनता की भाषा का सवाल है, इसका निर्धारण राजनीतिक कारणों से होता है। इसे सरकार निर्धारित करती है।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने इस संबंध में अपना निजी मत व्यक्त करते हुए कहा कि सामाजिक चिंतन और शब्द-भंडार का संबंध प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष है। हिंदी की विभिन्न बोलियों को न ले कर उसके व्यापक रूप को लीजिए। प्रत्येक व्यक्ति दो बोलियाँ बोलता है—एक उसकी अपनी क्षेत्रीय बोली और दूसरी व्यापक स्तर पर बोली जाने वाली हिंदी। आज साधारण जन तक भाषा का प्रयोग बढ़ गया है और दो भाषाओं की यह स्थिति अब धीरे-धीरे घटती जा रही है। व्यापक स्तर पर हिंदीभाषी होने के कारण भोजपुरीभाषी व्यक्ति हिंदीभाषी है। हिंदी का क्षेत्र व्यापक है। भोजपुरी उससे बाहर नहीं है बल्कि यह स्वाभाविक है कि भोजपुरी उसमें मिल जाय। यह धारणा आज डा० उदयनारायण तिवारी की भी है।

उन्होंने यह भी कहा कि समाज के उन्नति की मूल जड़ गाँवों में थी। गाँव की माटी से ही शहरों का निर्माण हुआ। एक प्रकार की विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था कुछ लोगों पर लागू हो सकती है किंतु यह ज़रूरी नहीं कि वह सब जगह और सदैव लागू हो।

उर्दू और हिंदी के प्रश्न पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि साहित्य में स्वीकृति का आधार भिन्न होता है। तुलसी को हिंदी का कवि माना जाता है, मीर और ग़ालिब आदि को नहीं। उर्दू एक सीमित वर्ग के लोगों की भाषा के रूप में मान्य हुई। डा० शर्मा ने इस संबंध में सही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। निहित स्वार्थों के कारण तथा सीमित वर्ग के लोगों की भाषा होने के कारण ही स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उर्दू के प्रति आक्रोश और विद्रोह होना स्वाभाविक था। ठीक इसी रूप में अंग्रेज़ी के प्रति भारतेंदु जी का विद्रोह था। हिंदी का प्रयोग आज ग्राम पंचायतों की कार्यवाइयों में होता है। व्यापक स्तर पर लोग हिंदी ही बोलते हैं। एक प्रदेश का रहने वाला दूसरे प्रदेश के रहने वाले के साथ हिंदी के माध्यम से ही बातचीत करता है। इस प्रकार व्यापक और सर्वग्राही स्तर पर जो भाषा स्वीकृत होती है उसे हम निहित स्वार्थों की भाषा नहीं कह सकते। यह बात आज हिंदी के लिए लागू होती है। इस समय हिंदी-उर्दू दोनों चल रही हैं और दोनों ही चलेंगी, किंतु कालांतर में दोनों का एक परिनिष्ठित रूप बन जायगा। व्यापक स्तर पर व्यापक रूप में

बोली जाने वाली हिंदी ही है और यही व्यापक रूप हिंदी का रूप है। सरकार द्वारा बनायी गयी हिंदी कोई हिंदी नहीं है। भोजपुरी बोलने वाला भी हिंदी पढ़ता है और बाहर किसी ब्रजभाषी के साथ वह भोजपुरी में न बोल कर व्यापक रूप में बोली जाने वाली हिंदी में बात करता है। और यही है व्यापक हिंदी का रूप।

डा० रघुवंश ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि परंपरित भाषाशास्त्र से बहुत सी समस्याओं का हल नहीं होता। यदि ऐतिहासिक और संघटनात्मक भाषा-विज्ञान की पद्धतियों का उपयोग करके विवेचन किया जाय तो इससे संपूर्ण देश की भाषा समस्या को हल करने में सुगमता हो सकती है। हमें ऐतिहासिक-सामाजिक क्रम को भी स्वीकार करना चाहिए।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने कहा कि भाषा पर सामाजिक प्रभाव को मैं स्वीकार करता हूँ, किंतु भाषा पर समाज का प्रभाव मुख्य कारण नहीं है, बल्कि यह परोक्ष कारण है। यह परिवर्तन सदैव अप्रत्यक्ष रूप में होता है। लोक ही भाषा का प्रमाण है। आज भी यही प्रमाण है——जनता की भाषा व्यापक स्तर पर क्या है इसे मानना ही पड़ेगा।

अंत में अध्यक्ष पद से बोलते हुए डा० बाहरी ने कहा कि डा० शर्मा की यह पुस्तक अपनी पद्धति के विवेचन में हिंदी के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। समाज और संघटनात्मक भाषा-विज्ञान में कोई ऐतिहासिक संबंध निकल सके, यह संभव नहीं है। शब्दतत्व, भाषातत्व और समाजतत्व सब अलग-अलग होते हैं। ध्वनि के विश्लेषण में उन्होंने कोई मान्यता नहीं स्वीकृत की है। डा० शर्मा ने शब्दों पर अधिक बल दिया है। मैं समझता हूँ कि उनके कुछ पूर्वाग्रह हैं। उन्होंने जानबूझ कर अपने पक्ष के समर्थन में सहायक होने वाले उदाहरणों को ही चुना है।

उन्होंने यह भी कहा कि यदि डा० शर्मा की इस पुस्तक का अनुवाद कुछ समय पूर्व अंग्रेज़ी में हो गया होता तो जवाहरलाल जी की आँखें खुल जातीं। लेखक ने बहुत ही सुंदर और युक्तिसंगत ढंग से यह निर्धारित किया है कि हिंदी ही आज इस देश की आवश्यकता है; हिंदी ही इस देश की भाषा हो सकती है, अंग्रेज़ी नहीं। विद्यानिवास जी ने भी यह बात ठीक ही कही है, इसकी आलोचना नहीं की जा सकती। लेखक के प्रति समीक्षक की सहानुभूति होनी चाहिए। भाषा के लिए प्रेषणीयता और बोधगम्यता एकमात्र कसौटी नहीं है। जहाँ तक हिंदी और उर्दू का प्रश्न है उसके बारे में अश्क जी ने ठीक ही कहा है कि यह सब उलटफेर राजनीतिक कारणों से होता है। हिंदी को पूर्वी-हिंदी और पश्चिमी-हिंदी के रूप में विभाजित करना साम्राज्यवादी दृष्टिकोण है। इस पर स्वतंत्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है, और डा० शर्मा की यह पुस्तक इसके लिए प्रेरित करती है।

——विवेचक

समीक्षाएँ

नरेश मेहता की
दो नयी काव्य कृतियाँ:

संशय की एक रात
बोलने दो चीड़ को

हिंदी ग्रंथ रत्नाकर प्रा० लि०, बंबई। १९६२; १९६१। मूल्य ५·००; ३·०० ।

नरेश मेहता हिंदी की नयी कविता के समर्थ एवं प्रतिष्ठित कवि हैं। आधुनिक हिंदी कविता में सर्वथा विलग हो कर काव्य के नवीन मूल्यों की स्थापना एवं सहजाभिव्यक्ति के माध्यम से कुछ अचीन्हे क्षितिज को यदि नयी कविता के बीच लाने का श्रेय किसी को दिया जायगा तो उनमें नरेश मेहता का स्थान सर्वोपरि माना जायगा। नरेश मेहता की कविता का संस्कार पुरातन है जो परंपरित काव्य के वैभव का पुष्ट रसपान कर नवीनता के परिप्रेक्ष्य में नव्य काव्य-चेतना को जन्म देता है। उनकी नयी कविता शायद इसी कारण नयी कविता के 'लेबिल' की कविता से उतना साम्य नहीं स्थापित कर पाती जितना अपेक्षित है। फल यह हुआ है कि नयी कविता के बीच नरेश मेहता की कविता श्वेत स्फटिक-शिला-सी दृढ़ एवं पारदर्शी हो कर अपने व्यक्तित्व का विलग हो कर प्रतिष्ठापन करने में समर्थ हुई है। 'समय देवता' जैसी एक कविता लिख कर ही काव्य की पुष्कल उपलब्धियों का जो भंडार नरेश मेहता ने हिंदी की आधुनिक कविता को दिया है, उसी के आधार पर उनको भुलाया नहीं जा सकता है। पिछले दिनों 'कृति' के प्रकाशन के बंद हो जाने के बाद उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में दिखायी नहीं पड़ रही थीं। पर अभी हाल में तीन कविता संग्रहों का प्रकाशन जैसे इस बात को प्रमाणित करता है कि कवि सृजनावस्था के बीच ही मौन धारण कर चुप बैठा था। यहाँ मैं इनकी दो विशिष्ट काव्य कृतियों पर ही मंतव्य निर्धारण करने का प्रयत्न करूँगा।

आलोच्य कविता पुस्तकों में प्रथमतः 'संशय की एक रात' को ही देखना चाहिए। इसके पूर्व कि 'संशय की एक रात' की समीक्षा प्रस्तुत की जाय, यह बात भी जान लेने की है कि आधुनिक नयी कविता में इन दिनों प्रबंधत्व की ओर रुझान ज़्यादा देखने में आ रहा है। भारती की 'कनुप्रिया', दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विषपायी' जहाँ प्रकाशित हो कर आ गयी हैं, वहाँ कुँवर नारायण एवं डॉ० देवराज की कुछ काव्य-कृतियाँ भी शीघ्र प्रकाश्य हैं, जो नयी कविता के प्रबंधत्व की मर्यादा का निर्धारण करने में समर्थ होंगी। आधुनिक युगबोध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या—मानव-जीवन के विकास के लिए युद्ध की अनिवार्यता है या नहीं—एक शाश्वत प्रश्न हो कर नयी कविता के अनेक काव्य-ग्रंथों में उभरी है। लँगड़ी संस्कृति और कृत्रिम सभ्यता के वैषम्य को वाणी देने का प्रयास धर्मवीर भारती, दुष्यंत कुमार, डॉ० देवराज, सभी में समान दिखायी पड़ता है। शायद यही कारण

भी है कि नयी कविता के अधिकांश प्रतीक एवं काल-बिंब महाभारतकालीन हैं, क्योंकि आधुनिक युग की संत्रस्तता की पृष्ठभूमि भी महाभारत युग से साम्य स्थापित करती दिखायी पड़ती है। नरेश मेहता की 'संशय की एक रात', इसी परंपरा में, विषम जीवन की संत्रस्त मनःस्थिति का परिचायक काव्य है जो राम के जीवन से संबंधित है। निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' के बाद उसी कथा के साम्य को प्राप्त करते हुए नयी कविता की भाषा में राम के सहज मानव-मन की प्रतिक्रियाओं का निदर्शन करने वाला यह काव्य हिंदी कविता की एक महत्तम उपलब्धि है, इसमें संदेह नहीं।

रामेश्वरम में सेतु-बंधन के समय जब युद्ध की संपूर्ण तैयारी हो गयी है, राम के मन में एक अनिश्चय और तर्क का तूफ़ान उठ खड़ा होता है। वे सोचते हैं : जिसमें भविष्यत युद्ध की पृष्ठभूमि का प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है, वह क्या अपेक्षित है, वांछनीय है ? तभी उनको स्वयं अपनी जीवन-यात्रा की समस्याएँ याद आती हैं, जिनसे हो कर वे गुज़रे हैं और भटक भी गये हैं :

वहाँ उस साँझ तारे को नहीं
मुझको विलोको।
पश्चात्ताप में
इस झुके मेरे माथ को
नील फूलों की
शुभाशंसा प्रदत्तो।
मेरी यात्रा
छोटे शंख सी
यहीं बालू में कहीं गिर
खो गयी है।

निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' में राम की मानवोचित दुर्बलताएँ प्रथम बार प्रकट हुई हैं, जिसमें एक तरलता है, विषम घोर मानव-मन की यत्रणा का मृदुल उच्छ्वास दिखलायी पड़ता है। नरेश मेहता-कृत 'संशय की एक रात' के राम में शंकाओं एवं उच्छ्वासों का वह समन्वित धुंध है जो राम के मन में मोहाकुल परिवेश की रचना करता है; जिसमें उनका मन सत्य-असत्य के बीच सेतुबंध करने में असमर्थ दिखायी पड़ता है। पुरुषोत्तम राम के मन की यह विकल्पना जो संशय की एक संध्या में प्रकट होती है और रात भर राम एवं उनके परिवेश को तापित करती है, उनके मानव-मन के संचारी भावों की प्रक्रिया का ही यात्रा-चिन्ह है। राम के मन का यह प्रश्न :

इतिहास के हाथों
बाण बनने से अधिक अच्छा है
स्वयं हम
अँधेरों में यात्रा करते हुए
खो जायें।

आज की संपूर्ण मानव-पीढ़ी के मन की शंका ही राम के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। आज की मानवता के समक्ष द्वंद्व एवं अनिश्चित लक्ष्य का जो संक्रमण उपस्थित है, उसका यह बड़ा ही मार्मिक चित्र स्थापित करता है। राम की अनिश्चित मनःस्थिति के बीच लक्ष्मण का चरित्र अटूट एवं संपृक्त लगता है—कारण वे प्रभु न हो कर सेवक हैं। प्रभु का दायित्व ही राम को बाधित कर रहा है—पर लक्ष्मण में जो है वह मात्र भाव-निष्पेषण ही है, अतः जैसे राम के आँसू को देख कर 'राम की शक्ति-पूजा' के हनुमान सीता को मुक्त करने के लिए

विराट-स्वरूप हो जाते हैं, वैसे ही, ओज यहाँ लक्ष्मण में भी आता है :

आप रुकें रामेश्वर
जायेगा लक्ष्मण ले अभीयान।
यदि नितांत एकाकी भी जाना पड़े
जाऊँगा
बंधु! जाऊँगा
सीता को लाऊँगा
अपने पुरुषार्थ से।
विश्वासें
प्रभु! विश्वासें
अपने बंधु-मित्रों के
पौरुष को।
मन-जन के द्वारा निर्मित होते
सेतुबंध को।

यहाँ लक्ष्मण के चरित्र की जो निष्ठा है, वह जन-निष्ठा है, जो संश्लेषित हो कर रावण को पराजित करने में विश्वास रखती है। राम में विकल्प है क्योंकि वे इकाई हैं; लक्ष्मण में विकल्प का अभाव है क्योंकि वे जन-निष्ठा के एक बिंदु मात्र हैं, जो सेतुबंध को बाँधने से ले कर असत्य को पराजित करने के लिए कटिबद्ध है।

दशरथ एवं जटायु को भी नरेश मेहता ने अतिभौतिक प्राणात्मा के रूप में उपस्थित कर राम के संकल्प को वैश्वानर की स्थिति में लाने का प्रयास किया है। यद्यपि नाटकीयता एवं काव्य-संघटन की दृष्टि से यह प्रसंग बहुत अर्थवत्ता से पूर्ण नहीं लगता तथापि राम के मन का साक्ष्य दे कर सबल करने का लक्ष्य सफल हो जाता है :

यही तो है बात
लक्ष्मण!
राम ने कभी नहीं किया अविश्वास।

ऐसी स्थिति वाले राम को दशरथ की यह उक्ति :

ओ, विकल्पित पुत्र मेरे!
परिस्थितियाँ धेनु हैं।
दुहो इनको
निष्ठुर अँगुलियों से दुहो इनको।

समीचीन नहीं लगती है, किंतु आधुनिक युगबोध की समस्या के लिए यह दाशरथी उक्ति अधिक व्यावहारिक है—इसमें भी संदेह नहीं। नरेश मेहता का राम बहुत अधिक मानवीय है, संतुलित है, मोहयुक्त एवं शीलपूर्ण है, यही दुनिया है। फलतः वह जनवाणी की समग्रात्मक चेतना 'सेतुबंध' को अपेक्षित नहीं मानता है। रावण एवं लंकाविजय के पीछे जनता की समग्र चेतना की आकांक्षा को ध्वनित नहीं पाता—वह मात्र सीता को वैयक्तिक परिवेश में ही देखता है। पर लक्ष्मण, नल, नील, हनुमान, विभीषण, दशरथ तथा जटायु आदि पात्रों के समक्ष रावण असत्य का प्रतीक है। सेतुबंध की रचना आवश्यक है—फलतः युद्ध की योजना भी वांछनीय है। दो ध्रुवों की यवनिका के बीच ही वास्तविकता की वह चेतना है जिसे पाने के लिए 'संशय की एक रात' का राम तापित है। राम, रावण, नल, नील, हनुमान और लक्ष्मण सभी को कवि ने प्रतीकार्थ में रखा है—किंतु कथा की सार्थकता एवं इतिहास की पुष्टि भी वे करते हैं। नरेश मेहता के राम पर एवं 'संशय की एक रात' की समस्या पर निराला के 'राम की शक्ति-पूजा' के राम के चरित्र का प्रभाव है, साथ ही, सुमित्रानंदन पंत के 'अशोक वन' की सीता और राम संबंधी समस्या का पालन भी है। 'अशोक

वन' में पंत ने सीता को स्वातंत्र्य-चेतना का स्वरूप दिया है—जो लंका में वंदिनी हो गयी है। यहाँ भी नरेश मेहता यह कह कर कि—

रावण अशोक वन की सीता
हम साधारण जन की अपहृत स्वतंत्रता।

पंत की भावना का ही रूपायित स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न उठता है—नरेश मेहता के इस काव्य की समासतः उपलब्धियाँ क्या हैं ? मेरी दृष्टि में नरेश मेहता के इस काव्य को कथाकाव्य की सरणि में न ले जा कर भावात्मक स्थिति का एक भावपूर्ण काव्य मानना चाहिए जिसमें आधुनिक युगबोध को प्राचीन सेतुबंध की कथा के साथ आश्लेषित कर उपस्थित किया गया है। भाषा नयी कविता की अपनी है; और नरेश मेहता की इस कृति में उनकी भाषा की सक्षमता दिखायी पड़ती है। राम की मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से काव्यात्मक विश्लेषण करते हुए कवि कहीं भी पराजित नहीं हुआ है। कुछ पंक्तियाँ तो सूक्तियाँ वन गयी हैं। यथा :

(क) संभव है प्रथम हो
किंतु अंतिम तो नहीं है।
(ख) क्या हो
क्या न हो के प्रश्न ही प्रश्न हैं।
(ग) यहाँ कुछ नहीं समाप्त हुआ
क्योंकि कभी भी
कुछ नहीं आरंभ हुआ।
(घ) युद्ध केवल फेन ही नहीं
निर्णय है
जिससे इतिहास बना करता है।

इसके साथ ही 'संदिग्ध मन का संकल्प और सवेरा' खंड में राम के मन के विकल्प को संकल्पित एवं ज्योतित करने का जो श्रेय भी कवि ने लिया है, वह अभूतपूर्व है। लगता है, राम संशय की रात के बाद की आलोक-किरण को, साक्षातकृत समग्रात्मक चेतना की अंतःप्रेरणा को आत्मसात कर लेते हैं। आधुनिक भारतीय युग-बोध के बीच की दुविधाग्रस्त स्थिति में इस संदर्भ का मूल्यांकन विशिष्ट अर्थ में किया जाना चाहिए। युद्ध की समस्या भौतिक समस्या न हो कर हमारी समस्त चेतना की वांछनीय समस्या है, जिसका संबंध जीवन-जगत के मूल्यों एवं स्थापनाओं से वेष्टित है। नरेश मेहता के काव्य 'संशय की एक रात' में हमारी उस शंका को ऋतत्व प्रदान कर संकल्पित सूर्य की भास्वरता प्रदान की गयी है जो ध्यातव्य है। राम द्वारा कही गयी इन पंक्तियों में—

ओ मेरी अपारम्भिता !
अपने पाथर को आकाश करो
वही सूर्योदय है
वहीं ऋतंभरा है, वैश्वानर है।

मानवता के लिए फिर एक आकांक्षित आलोक है, जो प्रणम्य है। कवि की इस कृति के संदर्भ में नयी कविता की अन्यान्य उपलब्धियाँ सहज ही आ गयी हैं, तथा उनसे हिंदी कविता को एक बल मिला है, इसमें संदेह नहीं।

दूसरी आलोच्य कृति 'बोलने दो चीड़ को' नरेश मेहता की स्फुट कविताओं का संग्रह है, जिसमें 'सप्तक' के कवि नरेश मेहता की अनेकानेक भावप्रवण कविताओं को संग्रहीत किया गया है। नरेश मेहता की कविता शैवाल-

जाल रच कर मन को उलझाती नहीं है वरन तीखी एवं नुकीली स्पर्शिता से मन को कुरेदती है, यह उनकी विशेषता है। संपूर्ण नयी कविता के बीच नरेश मेहता मुझे कैक्टसवादी कवि नहीं लगते वरन उनकी कविता घोंघे, सीपियों की कविता न हो कर शंखों एवं मोतियों की रचना है, जिससे काव्य-कोष संपुष्ट हुआ है। आधुनिक नयी कविता में जो अधिकांश आया है वह अपरिचित हो कर ही चौंकाता रहा है। नरेश मेहता के इस संग्रह की अधिकांश रचनाएँ परिचित हो कर मन को सहलाती हैं, यही इनकी विशेषता है। 'चाहता मन', 'कमल-वन', 'भेंट', 'बोलने दो चीड़ को', 'एक क्षमा-याचना', 'अनुनय' इत्यादि कविताएँ इस संग्रह की ही नहीं, नयी कविता की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं, यह मानना पड़ेगा।

'बोलने दो चीड़ को' के कवि की इन छोटी कविताओं में भाषागत सौंदर्य की एक वंकिमा एवं काव्य-मुक्ता की एक विशिष्ट परिचिति है, जो स्तुत्य है। आधुनिक जीवन की अनास्था-मूलक विषम परिस्थिति के बीच इन कविताओं का स्वरूप टूटी-सी किसी पर्णकुटी में जलायी गयी तुलसी-चौरे की दीपशिखा सी उज्वल एवं मांगलिक है जो भारतीयता की देन है। कवि ने नवीनता के आकर्षण में अपनी विशिष्टता को नहीं छोड़ा है, तथा अपनी निष्ठा को आहत नहीं होने दिया है। फलतः इस संग्रह की कविताओं का संपूर्ण हिंदी कविता के बीच एक अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, जो वरेण्य माना जायगा। शायद तभी इसी आस्थापूर्ण स्वर से कवि कहता है :

यहाँ वहाँ लोग ही लोग हैं
मैं कहाँ हूँ ?
तुम्हारे पैरों के नीचे
मेरा नाम कहीं दब गया है
उठा लेने दो—
मेरे लिए वह मूल्य है।

काव्य के नये मूल्यों की स्थापना और सत्य की खोज की पीड़ा से व्यथित कवि की इन छोटी कविताओं का महत्व असंदिग्ध है। नरेश मेहता का कविता-संग्रह 'बोलने दो चीड़ को' का मैं नयी कविता के महत्वपूर्ण संग्रहों के बीच स्वागत करता हूँ।

—कृष्णनंदन पीयूष,
हिंदी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर–७।

किनारे से किनारे तक

राजेंद्र यादव का कहानी संग्रह। राजपाल एंड संस, दिल्ली। सन १९६३। मूल्य : ४.००।

प्रस्तुत संग्रह में लेखक की दस कहानियाँ और 'आज की कहानी : परिभाषा के नये सूत्र' नाम से एक भूमिका है। जहाँ तक भूमिका का प्रश्न है, उससे बहुत उलझ कर मैं इस संग्रह की कहानियों के प्रति अन्याय न करूँगा। फिर भी, भूमिका में कुछ बातें ऐसे विवादास्पद ढंग से और ऐसी गर्वोक्तियों के रूप में कही गयी हैं कि उनके संबंध में विचार-विमर्श करना भी आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक लेखक में एक आत्मविश्वास होता है कि वह एक नयी दिशा दे रहा है, और साथ ही ऐसा कुछ दे रहा है जैसा उसके पहले किसी ने नहीं दिया था। यही भावना होती है जो उसे लिखने अथवा कला की उपासना के लिए विवश

करती है। लेकिन आज की तरह पिछले सारे कृतित्व को न तो कभी झुठलाया गया था, न इस प्रकार की गर्वोक्तियाँ कर के ही अपनी कृतियों के मूल्य को बढ़ाने का प्रयास किया गया था। आज की कहानी के संबंध में बतलाते हुए राजेंद्र यादव ने जिस प्रकार परंपरा-बद्ध कहानी और नयी कहानी को अपनी मान्यताओं के अनुसार स्पष्ट करने का प्रयास किया है, वह इस प्रकार है—'**पिछली पीढ़ी वाले या कहिए परंपराबद्ध कथाकार की तरह अपनी निर्वैयक्तिक (ऑब्जेक्टिव) दृष्टि और प्रतिभा के तेज़ चाकू से कसाई जैसी तटस्थता के साथ एक साफ़-सुथरे, कटे-छटे आइडिया वाली कसी-कसाई (एब्जेक्ट) कहानी काट कर निकाल लेना आज के भी कहानीकार के लिए कठिन नहीं है। लेकिन क्या सचमुच कोई भी भाव या भावना ऐसी अलग-अलग, स्वयं-संपूर्ण और सीधी-सपाट होती है?**' अन्यत्र उन्होंने लिखा है '**इन दस वर्षों की कोई भी अच्छी कहानी उठा लीजिए—उसका प्रभाव या परिणति एक झटके के साथ देखा या पाया हुआ सत्य नहीं होता। न वह हथौड़े की चोट की तरह सारे अस्तित्व को झनझनाती है, न चुभे तीर की तरह टीसती है। वह तो कुहासे या अगरु गंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है—स्वयं उसका अंग बन जाती। इस प्रकार अनजाने ही आत्मा को संस्कार और दृष्टि देती है। यहीं यह कहना बहुत बड़ी गर्वोक्ति न होगी कि मानव-आत्मा का शिल्पी आज की कहानी में ही पहली बार अपनी भूमिका का सही निर्वाह करने का प्रयत्न करता है।**' यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि राजेंद्र यादव इसे कोई बहुत बड़ी गर्वोक्ति नहीं समझते हैं। मेरा यह विचार है कि एक बार उन्हें नयी कहानी के संबंध में बहुत बड़ी गर्वोक्ति करने की छूट दे कर यह देखना चाहिए कि वह नयी कहानी को कितना ऊँचा चढ़ा देते हैं और उनके अनुसार जो परंपराबद्ध कहानी है उसे किस गड्ढे में ले जा कर डालते हैं।

राजेंद्र यादव का यह संग्रह और नई कहानी का लेबिल लगा कर इधर जो कहानियाँ निकली हैं, उनमें से कुछ को पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। ऐसा नहीं है कि उनमें मुझे अच्छी कहानियाँ नहीं मिलीं, और न ऐसा ही है कि मुझे यह लगा हो कि मैं ऐसा कुछ पढ़ रहा हूँ जो कला की दृष्टि से महान और जीवन का सही और सच्चा चित्र उपस्थित करने की दृष्टि से पिछले साहित्य से अधिक सामर्थ्यवान हो। इन कहानियों की एक विशेष देन मुझे समझ में आयी है कि ये मनुष्य के विचारों का जैसा का तैसा पूर्ण विशृंखल चित्र उपस्थित करती हैं। पिछले कहानीकारों की भाँति किसी केंद्रीय विचार से संबद्ध विचार-धारा को ही चित्रित किया जाय, यह इनमें नहीं दिखलायी देता। इन कहानियों में व्यक्ति प्रधान है, और प्रधान है उसकी कुंठा। जहाँ तक, जिस समाज में, जिस वातावरण में और जिस परिवेश में ये पात्र रह रहे हैं उसके चित्रण की बात है, उस संबंध में कोई विशेष उपलब्धि राजेंद्र यादव की हो, ऐसा मुझे नहीं दिखलायी देता। राजेंद्र यादव ने पिछले कहानीकारों पर यह दोष लगाया कि वे अपनी कहानी को आसपास के वातावरण और परिवेश से अलग काट कर एक चित्र उपस्थित कर देते थे। मुझे उनका यह कथन सारहीन प्रतीत होता है। इधर की कहानियाँ जिस प्रकार केवल मानसिक ऊहा-पोहों में उलझ कर रह जाती हैं, उनमें तो मैंने

यहाँ तक देखा है कि लेखक अक्सर इस बात को भी भूल जाता है कि वह इसका भी कुछ संकेत कर दे कि उसके पात्र किस युग में साँस ले रहे हैं।

प्रस्तुत कहानी संग्रह में दस कहानियाँ हैं। इन कहानियों की विशेषता, जैसा मैंने पहले भी संकेत किया है, मुख्यतया अपने पात्रों की मनःस्थिति का एक पूरा चित्र देना है। इस दृष्टि से इस संग्रह की कहानियाँ सफल हैं; इसमें कोई संदेह नहीं। 'प्रतीक्षा' में गीता के अभावग्रस्त जीवन ने उनकी मनोदशा कैसी कर दी है, इसका विस्तृत वर्णन है। पुरुष के प्रेम के लिए तरसी हुई गीता नंदा पर अपना स्नेह किस प्रकार लुटाती है और भावावेश में उसका और नंदा का संबंध किस प्रकार औचित्य की परिधि को लाँघता चला जाता है, इसका चित्रण लेखक ने सफलतापूर्वक किया है। गीता को समय पर किसी ने नहीं अपनाया, न वह किसी की हो पायी, परंतु उसकी वासना तो तृप्त हो न सकी। नंदा को पा कर वह किस प्रकार संतोष करने का प्रयास करती है, यह क्षेत्र ऐसा था जिस पर अब तक कहानियाँ हिंदी में कम ही दिखलायी दीं। राजेंद्र यादव ने यह एक नया क्षेत्र अपनी कहानी के लिए अवश्य ही ढूँढ़ा है। नंदा से प्रेम करने वाले के प्रति गीता के मन में कैसी ईर्ष्या होती है, किस प्रकार यह भय—कि कोई नंदा को उससे छीन न ले जाय—उसे सताया करता है, इसका चित्रण भी बड़ा स्वाभाविक हुआ है। चित्रण की दृष्टि से इतनी ही सफल दूसरी कहानी है, 'किनारे से किनारे तक'। मानिक के मन में जो संदेह उत्पन्न हो गया था वह कितना भयानक तथा विकृत आकार धारण करता गया, इसका चित्रण बड़ा विस्तृत हुआ है। किसी बात पर, चाहे वह कल्पित ही क्यों न हो, यदि बार-बार विचार किया जाता है तो वह कैसे बिल्कुल सत्य ही प्रतीत होने लगती है, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेखक ने बड़े कौशल से चित्रित किया है।

संकेतात्मक भाषा और वर्णनों से वह बात कह दी जाय जिसको लेखक अपने शब्दों में कहीं नहीं कहता, इस शैली में भी इस संग्रह में कुछ कहानियाँ हैं। चाहें तो इसे संकेतात्मक शैली कहा जा सकता है। वैसे तो सभी कहानियों में इसी शैली का प्रयोग है लेकिन कहीं-कहीं संकेत से बात कहने में बड़ी सफलता मिली है। उदाहरणार्थ, 'आत्मा की आवाज़', 'शहर के बीच का वृक्ष', 'बिरादरी बाहर', 'माध्यम का विद्रोह' में।

इधर एक प्रथा यह भी चल पड़ी है कि कहानियों के शीर्षक ऐसे दिये जाते हैं जिनसे कहानी का कोई संबंध नहीं जुड़ पाता। मुझे यह देख कर प्रसन्नता हुई कि राजेंद्र यादव के संग्रह में ऐसे शीर्षक नहीं हैं। कुछ कहानियों के शीर्षक बहुत ही उपयुक्त और आकर्षक हैं जैसे, 'बिरादरी बाहर', 'माध्यम का विद्रोह' और 'किनारे से किनारे तक'।

इन कहानियों को पढ़ कर एक बात मेरे ध्यान में यह भी आयी कि इनमें कहानी कहने का आग्रह तो है नहीं। कहानी का पाठक, कहानी के संबंध में अपनी मान्यताएँ ले कर, जब इन्हें पढ़ने बैठेगा तब उसे वह नहीं मिलेगा जो वह चाहता है। एक नयी चीज मिलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। अपने इस रूप में यह उन सभी पाठकों को रोचक प्रतीत होगी जिनके गले का हार कहानी रही है, इसमें भी मुझे पूर्ण संदेह है। क्या यह उचित नहीं होगा कि साहित्य के इस माध्यम के लिए हम कोई नयी संज्ञा ढूँढ़ लें। कहानी नाम से इसे चलाना निश्चय ही भ्रम उत्पन्न करना है।

संग्रह की भूमिका में नयी कहानी के प्रभाव का वर्णन करते हुए राजेंद्र यादव ने लिखा है कि वह तो कुहासे या अगरु गंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है। मैंने इस संग्रह की कहानियों को पूर्ण सहानुभूति के साथ पढ़ा है। सब कहानियाँ मैं पढ़ गया पर उस अगरु गंध से कहीं भेंट न हुई। अधिकांश कहानियों को पढ़ कर एक प्रकार की छटपटाहट, परेशानी और कुंठा चाहे मन में व्याप्त हो गयी हो, अच्छी स्वस्थ साहित्यिक कृति को पढ़ कर मन में जो आनंद उत्पन्न होता है, वह कहीं नहीं मिला। जीवन के जो चित्र इन कहानियों में उपस्थित हुए हैं उनमें प्रकाश अथवा सत के दर्शन भी कहीं नहीं होते। एक निराशा-सी मन पर छा जाती है। मानव का भविष्य बड़ा अंधकारमय है, ऐसा ही लगता है।

यों तो हर नयी धारा को ग्रहण करने में कुछ समय लगता है, लेकिन नयी कहानी की प्रतिनिधि रचनाओं के रूप में यदि इन कहानियों को मैं देखता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए कहानी के इस रूप को अभी कई जन्म धारण करने होंगे।

—गंगाप्रसाद मिश्र,
प्रधानाचार्य,
राजकीय इंटरमीडिएट कॉलेज,
सुल्तानपुर।

गाँव

मुल्कराज आनंद का उपन्यास। अनुवादक : शिवदान सिंह चौहान तथा विजय चौहान। राजपाल एंड संस, दिल्ली। सन १९६३। मूल्य : ५.५०।

मुल्कराज आनंद विशेषतः अंग्रेजी उपन्यासकार के रूप में देशदेशांतर में विख्यात हो चुके हैं। लंबे समय तक विदेशों में रहने के बावजूद जिन लेखकों ने भारतीय संस्कृति, कला एवं वाङ्मय को बहुत हद तक अपनी रचनाओं में स्थान दिया, उनमें मुल्कराज आनंद का भी स्मरणीय योगदान रहा है। लेखक की अन्य उत्कृष्ट कृतियों में एक कृति 'कुली' अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त कर चुकी है। प्रसन्नता की बात है कि लेखक की अनेक रचनाएँ हिंदी, हिंदीतर तथा अन्य विदेशी भाषाओं में बराबर अनूदित हो कर आ रही हैं। समीक्ष्य पुस्तक भी लेखक की मूल अंग्रेज़ी कृति 'दि विलेज' का हिंदी अनुवाद है। अनुवादक है हिंदी के माने हुए आलोचक शिवदानसिंह चौहान तथा बहुभाषाविद प्रतिभा लेखिका विजय चौहान।

'गाँव' की कथा निहालसिंह, लालू, चंडी, महंत नंदगीर, हवलदार लछमनसिंह, मेजर अरब्रेल सिंह, चाचा किरपू, ईसरी तथा मिस्टर लाँग आदि पात्रों के माध्यम से इस प्रकार संग्रथित है जिससे कहीं भी अस्वाभिकता और कृत्रिमता का आभास नहीं मिलता। सचमुच 'गाँव' में मानवीय संवेदनाओं और लोकोन्मुखी भावनाओं का जीवनमूर्त संयोजन हो पाया है। यह भारत के एक प्रांत विशेष के ग्राम्य जीवन का रंग, बहुत गहरा और सजीव रूप में उपस्थित करता है। यानी संपूर्ण उपन्यास में पंजाब के ग्राम्य जीवन का स्वाभाविक अंकन किया गया है। नंदपुर से मानाबाद और मानाबाद से शेरकोट तक बहने वाली पात्रों की गाथाएँ इसकी औपन्यासिकता को मौलिक धरातल देती हैं। ग्राम्य जीवन का सहजानंद, गाँव के खेतों में किसानों के कार्य, हँसती-गाती

जिंदगी के क्षण, भूत-प्रेत के प्रति ग्रामीणों की अंध आस्था, जमींदारों द्वारा निर्दोष लोगों को सताये जाने की भावना तथा मठों में एकत्र महंतों की तीव्र वासना के बोलते चित्र इस उपन्यास में साफ़-साफ़ आभासित हैं। सचमुच लेखक की दृष्टि यथार्थ के उन पारदर्शी संगमों तक गयी है जहाँ शंका की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। चूंकि यह उपन्यास पंजाब के ग्राम्य जीवन पर आधारित है, अतः मूल के अनुरूप वैसी ही आंचलिक भाषाओं का प्रयोग कर अनुवादकों ने लेखक के साथ न्याय करने के अतिरिक्त अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय भी दिया है। और तथ्य तो यह है कि ये सब ऐसे भी नहीं लगते जैसे ऐस्प्रेसो कप में किसी ने नमक घोल रखा हो। पंजाब क्षेत्र में ये आंचलिक भाषाएँ—'बल्ले-बल्ले,ओए, नई, सदके जाऊँ, खसमानूंखानी' आदि आमफ़हम बोली जाती हैं। अतः इन भाषाओं के प्रयोग से उपन्यास की लोकोन्मुखी भावना तथा सारग्राहिता और भी उजागर हो गयी है। इसके पात्रों द्वारा पंजाबी गालियाँ भी अनुवादकीय भाषा में ज्यों की त्यों रखी गयी हैं। देखिए—'माई कुत्तेयाँवाली, मरजानी बच्छिए, मरजा औत्री' आदि। कुछ ठेठ ग्राम्य शब्दों के प्रयोग भी इसे प्राणवान करने में योग देते हैं, जैसे—डागदर, जनरनैल, पैना, कड़छी, सोंटी' इत्यादि-इत्यादि। कथोपकथन भी प्रवाहपूर्ण बन पड़े हैं यथा—'कभी कबूतरों को गेहूँ उठाने के लिए नहीं भेजना चाहिए, न ही किसी वकील या रंडी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आना चाहिए' (पृष्ठ-२८) तथा 'इमानदारी और मुनाफ़ा एक ही थाली में कभी नहीं मिलते' (पृष्ठ २९) जैसे अनेक स्वाभाविक कथोपकथन हैं जिनमें जीवन की कटु सत्यता अंतर्निहित है।

उपन्यास की कथावस्तु हृदयग्राही है और सबसे बीज बात तो यह है कि इसे पढ़ने के समय कहीं भी ऐसा आभास नहीं होता कि अनुवाद पढ़ा जा रहा है। घटनाएँ तथा पात्र हू-ब-हू आँखों के आगे उभरने लगते हैं। मूल लेखक की मौलिक अभिव्यक्तियों को सही-सही अनूदित रूप देना कोई सहज कार्य नहीं। इस निकष पर भी अनुवादकों को अच्छी सफलता मिल सकी है।

—देवप्रकाश गुप्त,
ग्राउंड कॉटेज,
१८।३१७ लोदी रोड,
नयी दिल्ली–३।

प्रतिपत्तिका

सृजन-प्रक्रिया और प्रेषणीयता की समस्या

मैं संभवत: यह प्रश्न रख कर एक ख़तरा उठा रहा हूँ। क्योंकि एक तरफ़ वे लोग हैं जो प्रेषणीयता की कोई समस्या नहीं मानते और कहते हैं कि यदि कृतिकार में क्षमता है तो उसकी रचना, उसकी काव्यवस्तु स्वत: संप्रेषणीय होगी, उसके लिए बीच-बचाव या व्याख्याता की आवश्यकता नहीं; और दूसरी तरफ़ वे लोग हैं जो अस्पष्टता को बहुत बड़ा कौशल समझते हैं और उसके आतंक का ग़लत फ़ायदा उठाते हैं। मुझे 'टाइम्स' की एक टिप्पणी याद आती है जिसमें कहा गया था कि इससे बड़ा साहित्यिक छल हो नहीं सकता कि आसानी से समझ में आने वाली रचना साधारण, और कठिनाई से समझ में आने वाली या न समझ में आने वाली रचना विशिष्ट रूप से महत्वपूर्ण समझ ली जाय। मैं व्याख्याता या समीक्षक की हैसियत से नहीं, रचनाकर की हैसियत से ही यहाँ नयी सृजन-प्रक्रिया की कुछेक समस्याओं को सामने रख कर 'रचना' की प्रेषणीयता के प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ। मैं व्याख्या करना ही चाहता हूँ तो सबसे पहले अपने लिए, क्योंकि हर दूसरे कृतिकार की तरह मैं भी एक पाठक हूँ। मुझ पर यह आरोप न लगाया जाय कि मैं कठोर अस्पष्टता की तह में छिपी हुई किसी सृजनात्मक सचाई का पक्ष इसलिए ले रहा हूँ कि साधारण पाठक को हीन और अक्षम समझता हूँ। निवेदन करूँ कि मैं ऐसा कोई भेद नहीं मानता। इतना अवश्य है कि मैं पाठक से यह अपेक्षा रखता हूँ कि वह रचना के अर्थग्रहण में रचनाकार के साथ हो, हिस्सा ले, 'पार्टिसिपेट' करे; तटस्थ और तमाशबीन न हो। पर्सी ल्यूबक की यह शर्त कहानी-उपन्यास के पाठक के लिए ही नहीं, कविता के पाठक के लिए भी उतनी ही सही है। आज की कविता को पढ़ते हुए शब्द, अर्थ, लय, 'रेटारिक' को ही आयत्त कर लेना काफ़ी नहीं है—इन सबके वैशिष्ट्य पर ध्यान देने से पहले रचनाकार की सृजन-संवेदना (क्रिएटिव सेंसिबिलिटी) से परिचित होना, अभिज्ञ होना भी आवश्यक है। बिना इस सहानुभूतिपूर्ण प्रयास के नयी सृजन-प्रक्रिया को समझना और उसके अर्थ-परिणाम तक पहुँचना संभव नहीं है। फ़तवे देने से कोई लाभ नहीं है। उनका मूल्य, जैसा किसी पाश्चात्य समीक्षक ने लिखा है, उस अखबारी बयान (जर्नलिस्टिक स्टेटमेंट) के बराबर है जो आज ठीक और कल वाहियात मालूम हो सकता है। मैं एक कविता यहाँ सामने रखता हूँ कविता का एक अंश :

ये पेड़
भीड़ में छिपे जासूस की तरह
तुम्हारा पीछा करेंगे
तुम जहाँ भी जाओगे
जैसे ली पो की कविता में
समुद्र की लहर
तट की गंध का पीछा करती है
वह जिधर भी जाती है......
एक हरी-भरी डाल के नीचे से गुज़रते हुए
तुम्हें पता भी नहीं चलेगा, कि तुम
अब तुम नहीं हो
महज़ खुरदरी छाल और
सख्त तने के बीच में
एक धुँधली-सी स्मृति है
जिसे पेड़ कभी महसूस नहीं करते......

शब्द कोई कठिन नहीं, शैली सीधी और संलाप की, लय स्पष्ट—फ़तवा देने वाले लोग ज़रा इसका तात्पर्य मुझे समझायें या यही फ़तवा दें कि 'तात्पर्य वृत्ति-शून्य' कविता है, यानी निरर्थ है। इस कविता पर ध्यान दें तो देखेंगे कि भय का एक इंप्रेशन है। कैसा भय! किससे भय! पेड़ों से! क्यों पेड़ों से ही! क्यों नहीं अपने से—आत्म-भय? एक बार देखने में मुश्किल कविता है। इतनी मुश्किल तो है ही कि व्याख्या न की जा सके, व्याख्या करते हुए कठिनाई महसूस हो, यह डर बना रहे कि पूरी बात हम व्याख्या करते हुए कह नहीं पा रहे हैं क्योंकि कुछ न कुछ बराबर रचना में घट जाता है जिसे हम अनुभव तो करते हैं पर व्याख्या की भाषा में नहीं कह सकते। जहाँ इस तरह की कठिनाई का अनुभव हो वहाँ रचना की प्रक्रिया को सावधानी से समझने की या परखने की आवश्यकता है। नामवर सिंह ने बहुत पहले एक गोष्ठी में यह प्रश्न उठाया था कि क्या कविता पढ़ायी जा सकती है? और निराला की इन पंक्तियों को सामने रख कर प्रमाणित किया था कि नहीं पढ़ायी जा सकती :

मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में
मन सरलता की बाढ़ में
जल विंदु-सा बह जाय

'मौन' का 'मधु' हो जाना, या भाषा का मूकता की ओट हो जाना—भाषा का केवल बारीक

हो जाना नहीं है (क्योंकि बारीकी तो कौशल से भी आती है) बल्कि एक निश्चित मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए मार्मिक सांकेतिकता से संपृक्त हो उठना है। यहाँ जोड़ दिया जाय, कि ऐसे सांकेतिक अर्थ से परिचित होने के लिए थोड़े से खरोंच की आवश्यकता है, यानी प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

पहले उद्धृत की हुई कविता केदारनाथ सिंह की एक नयी कविता है जो एक ख़ास आधुनिक मनःस्थिति को सामने रखती है। 'भीड़ में अकेले हो जाना' हमारे समय का, अर्थात आधुनिक मुहावरा है और कम से कम सत्तर फ़ीसदी नयी कविताओं में हम इसका प्रयोग देखते हैं। कम कविताएँ ही दिखा पाती हैं कि भीड़ में अकेले हो जाने का अनुभव एक दहशतभरा अनुभव है और समकालीन नियति का दंश उससे व्यक्त होता है। केदारनाथ सिंह इस कविता में इस नियति-दंश को किन्हीं 'कैच वर्ड्स' के ज़रिए व्यक्त नहीं करते, एक गहरी यातना, एक बड़े भय (हॉरर) के स्तर पर इसे महसूस करना और कराना चाहते हैं। इसीलिए वे 'पेड़' को 'भीड़ में छिपे जासूस' की तरह पीछा करते हुए पाते हैं। इस कविता की चिंतन-प्रक्रिया जब उनके कवि-मानस में चल रही थी, वे अपनी बात यहाँ से शुरू करना चाहते थे ——

मैं पेड़ों की व्याख्या से डरता हूँ।

बाद में देखा गया कि यह पंक्ति कविता में कहीं नहीं आती, यद्यपि कविता का उत्स अब भी लगता है इस एक पंक्ति के पीछे छिपा है।

नयी सृजन-प्रक्रिया की विशिष्टता यह है कि एक कविता अपने आप में पूरी नहीं होती: एक चिंतन-प्रक्रिया जो कवि के मन में एक लंबे अर्से तक चलती रहती है, कई कविताओं में अलग-अलग पहलुओं के रूप में प्रतिफलित होती है। जिस कवि की सृजनात्मक चिंता जितनी ही तीखी होती है, उसके साथ यह कठिनाई प्रायः आती है कि वह कई रचनाओं में क्रमशः एक वृहत्तर अर्थ-संवेदना को व्यक्त करता है। जिस संकट-बोध की बात केदार ने पहले दी हुई कविता में की है, कुछ पहले इसी के लिए पेड़ों को ही साझीदार बनाने की भावना उन्होंने अपनी कविता 'वसंत' (१९६४) में व्यक्त की थी।

मैं चाहता हूँ कि पेड़ जगें
और महसूस करें
इस संकट को......।

अतः सच तो यह है कि पाठक यदि धैर्य और उत्सुकता से प्रतीक्षा करे तो वह पायगा कि कृतिकार स्वयं ही अपनी एक रचना की व्याख्या दूसरी रचना में करता है। 'परिवेश: हम तुम' संग्रह की बहुत सी कविताओं का अर्थ कुँवरनारायण की हाल में प्रकाशित 'अपरिचिता' शीर्षक कविता में खुलता है। ये पंक्तियाँ, लगता है, पहले प्रकाशित उनकी कविताओं के उन अंशों की व्याख्या हैं जो तब स्पष्ट नहीं थे ——

एक चेहरा जो मेरे लिए चाँद हो सकता था
भीड़ हो जाता है,
और एक अन्यतम स्वागत-गान होंठों तक आते-जाते
झिझक जाता है;
लगता है, वह जो अभी-अभी झलक कर
उस मोड़ पर ओझल हुआ—
अपरिचित था
जिसको भूल से मैंने
अपनी अत्यंत निजी अनुभूतियों से छुआ।

कृतिकार अपनी रचना से अलग होता है तो उसे हमेशा के लिए भूल जाने के लिए नहीं, बल्कि उसे अधिक बेलाग अर्थ तक पहुँचाने के लिए, और ऐसा वह दूसरी, आगामी रचना में करता है। इस प्रकार रचना की प्रक्रिया रचना से पहले, रचना के भीतर और रचना के बाद तक निरंतर चलती रहती है। जो लोग प्रक्रिया को रचना से पहले ही समाप्त मानते हैं (या वह कच्ची सामग्री, कच्चा माल मानते हैं जिससे कोई रचनात्मक वस्तु बन कर तैयार होती है) उनके लिए रचना-प्रक्रिया का अपने में कोई मूल्य न हो, शेष सबके लिए है; जागरूक पाठक और कृतिकार दोनों के लिए ही है।

यहाँ इतनी बात जोड़ने की आवश्यकता है कि यह प्रक्रिया केवल बिखरी हुई चीज़ों को जोड़ने और तालमेल बिठाने की क्रिया नहीं है (जैसा अक्सर 'नयी' के नाम पर छपने वाली अधिसंख्य कविताओं में होता है); यह प्रक्रिया इससे भिन्न तात्कालिक और गोचर वास्तविकता का अतिक्रमण करने की प्रक्रिया है; वक़ौल निर्मल वर्मा—वास्तविक यथार्थ के पर्दे पर अपनी अनुभूत वास्तविकता को प्रक्षेपित करने की प्रक्रिया है; और असंदिग्ध रूप से सरल प्रक्रिया नहीं है। ऐसी प्रक्रिया से गुज़रने के लिए अपनी समकालीन वास्तविकता से प्रतिबद्धता का प्रमाण देना ज़रूरी है पर साथ ही, कहीं न कहीं एक प्रकार की कालातीत दृष्टि-चेतना को आत्मसात करना भी ज़रूरी है। आधुनिकता का संकल्प यहाँ आ कर पूरा होता है और यहीं आ कर हम अनुभव करते हैं कि बहुत सी रचनाएँ छद्म-आधुनिकता को अतिरिक्त कौशल या छल के साथ ओढ़े हुए हैं। इसीलिए ऐसी रचनाएँ 'भीड़ में अकेले होने' के मुहावरे को एक 'कैच वर्ड' की तरह दुहराती तो हैं,पर वे उस दहशत का एहसास नहीं करातीं जो केदारनाथ सिंह की कविता को पढ़ते हुए हम महसूस करते हैं। केदार की पहले उद्धृत कविता यहाँ आ कर पूरी होती है—

और तुम कभी नहीं जान पाओगे
कि तुम्हारा सारा दिन गुजर जाता है
एक बीते हुए पेड़ से
एक खोये हुए घर की दूरी तय करने में

और मद्धिम रोशनी में
तुम्हारी मेज़ पर रखी हुई हर पुस्तक
उसी की व्याख्या करती है
जिसे पेड़
अलग-अलग
तुम्हारे बारे में सोचते हैं।

बिना इस समूची प्रक्रिया से गुज़रे हुए नयी सृजन-प्रक्रिया को समझना और बहुत-सी श्रेष्ठ नयी कविताओं के अर्थ तक पहुँचना संभव नहीं है। बहुत-सी बिखरी हुई चीज़ें जो सैकड़ों कविताओं में आये दिन दिखायी देती हैं वे अप्रासंगिक हैं, यदि किसी दूरगामी संदर्भ से जुड़ी नहीं हैं। कविता कोई 'शो केस' नहीं है कि उसमें ढेर सारी चीज़ें या उनके चित्र इकट्ठा कर के सजा दिये जायँ। हम इस स्तर पर विचार करेंगे तो सच्ची और नक़ली नयी कविता में भेद करना कठिन नहीं होगा।

—परमानंद श्रीवास्तव,
हिंदी विभाग, सेंट एंड्रूज़, कालेज,
गोरखपुर।

त्रैभाषिक तिभाषिये

बहुत दिन हुए, प्रयाग के 'पायोनियर' के एक अंग्रेज़ संपादक ने 'By-glot' (दो भाषाएं जानने वाला) शीर्षक अपने संपादकीय में, घृणा से नाक-भौं सिकोड़ते हुए, यह व्यंग्यात्मक भविष्य-वाणी की थी कि भारतीय अब 'Big-lot' हो जायेंगे। मज़ाक भोंडा था। पर इन संपादक महोदय की राय थी कि हिंदुस्तानी आसानी से 'Poly-glot' (बहुभाषा-भाषी) बन सकते हैं; जिसे वह महापाप समझते थे। विक्टोरिया क्रास सरीखी निम्नश्रेणी की उपन्यास-कर्त्री ने भी लिखा है कि भारतीय 'इंडियन सिविल सर्विस' की परीक्षा पास करने से लगा कर चटनी बनाने तक का सब काम कर सकता है। क्या किसी ऐसी ही भावना से प्रेरित हो कर हमारे एक राज्यपाल ने इस प्रदेश पर तिभाषियेपन का शाप लाद दिया है, जो समस्त देश पर अपना फण फुफकार रहा है? हमारे शिक्षा मंत्रियों को यदि सचमुच शिक्षा का मंत्र देना है तो उन्हें अपने शत्रु-मित्र की नीर-क्षीर विवेचना करनी चाहिए।

ये तीन भाषाएँ हैं : (१) अंग्रेज़ी, (२) प्रांतीय भाषा तथा (३) एक अन्य प्रांतीय भाषा (अधिकांश दाक्षिणात्य)।

यह मंत्र नहीं है; अभिशाप है। और इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए।

(१) क्या अंग्रेज़ी अनंतकाल तक भारतीयों को पढ़नी पड़ेगी? प्रत्येक भारतीय को? महाशोक! किसी भी देश ने किसी विदेशी भाषा को न इस तरह अपनाया है, और न अपना सकता है। मनुष्य की ऐसी प्रकृति ही नहीं है।

प्रत्येक भारतीय को शिक्षा का अधिकार है, परंतु अंग्रेज़ी शिक्षा पाने की विवशता तो नहीं। ४५ करोड़ अंग्रेज़ी गिटपिट करने वाले तैयार कर के हम भारत में अंग्रेज़ी बोलने वालों की बहुसंख्या कर सकते हैं, पर अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। (अ) अगर कोई और अंग्रेज़ी बोलने वाले इस पृथ्वी पर न रहे तो अकेला भारत अंग्रेज़ी को ज़िंदा नहीं रख सकेगा। (ब) कोई जन्मजात अंग्रेज़ी बोलने वाला अंग्रेज़ी के किसी भी मामले में भारत की बहुसंख्या को कभी कोई भी अधिकार न देगा कि वह अंग्रेज़ी की कोई समस्या हल करे। उल्टे वह भारतीयों पर नाक-भौं ही नहीं सिकोड़ेगा, बल्कि बूट-घूंसे तक चलायेगा। (स) जब भारत का बच्चा-बच्चा कैट-रैट-फ़ैट-मैट का महामंत्र अलापेगा तब भारत की अंग्रेज़ी चीनियों की Pidgin अंग्रेज़ी से भी गयीबीती हो जायगी। हम 'पिंग-पोंग' को 'टेबिल टेनिस' कहने लगे हैं तो 'इंग्लिस' की क्या मिट्टी-पलीद करेंगे। स्कॉटलैंड के लोग 'इंग्लिश' केवल 'लो-लैंडर्स' की भाषा को कहते थे। आइरिश और वेल्श लोगों के लिए अंग्रेज़ी मातृ-भाषा नहीं है।

भारत यदि अंग्रेज़ी को चाहता ही है तो कुछ प्रदेशों में ऐसे आठ-दस केंद्र स्थापित कर दिये जाने चाहिए जहाँ अंग्रेज़ी शुद्ध रीति से पढ़ायी जाय। तभी भारतीय उसके उपयुक्त कुछ काम कर सकेंगे। ४५ करोड़ अधकचरे ज्ञान वाले अंग्रेज़ी-दाँ लोग भारत की संसार में नाक ही नीची करेंगे, और कुछ नहीं।

जो कोई वाणिज्य आदि के लिए अंग्रेज़ी सीखना चाहता है तो, जैसा योरपवासी करते हैं, उसे चाहिए कि साल-छह महीने उसे लिखना-पढ़ना सीख ले। सारा योरप अंग्रेज़ी सीखने नहीं दौड़ा जाता। हाँ, हमारी यही बीसवीं सदी की पीढ़ी और अंग्रेज़ी के अख़बार वाले अंग्रेज़ी का पक्षपात करते हैं। निस्संदेह, ये लोग दूसरों की नहीं सुनेंगे—बिना पुनर्जन्म के। परंतु इन मुट्ठी भर लोगों के लिए सारे देश की गर्दन पर अशुद्ध अंग्रेज़ी की छुरी क्यों फेरी जाय?

(२) अंग्रेज़ी के स्थान पर संस्कृत पढ़ायी जानी चाहिए। मुसलमानों को अरबी। ये धर्मभाषाएँ हैं। संस्कृत में अपार भंडार है। बिना उसके ज्ञान के भारतीय जनता भारत की आत्मा से परिचित नहीं है, भारत की बुद्धि से वंचित है और नये-पुराने स्वर मिला कर भारत का संदेश उच्चारण नहीं कर सकती। यह बात निर्विवाद है।

(३) अपनी प्रांतीय भाषा तो सब को पढ़नी पड़ती है, यह तीसरी भाषा क्या हो; कहाँ की हो? यह हमारे किस काम आ सकेगी?

परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी ऐसी सरल भाषा ही ढूंढ़ते हैं जिसमें साधारण परिश्रम से ही सफलता प्राप्त हो सके। जिस प्रदेश में अधिकांश विद्यार्थी मुसलमान होंगे वहाँ वे उर्दू ले लेंगे; न हुए, तो गुजराती ले लेंगे, और कुछ केवल बँगला। तेलुगु-तमिल के पढ़ने वालों की संख्या अधिक न होगी। उनसे उन्हें कोई अनुराग नहीं हो सकता; लोभ भी नहीं। अतः दाक्षिणात्य भाषाओं की थोड़ी सी पाठशालाएँ पर्याप्त होंगी।

थोड़े से हिंदी-भाषियों के तमिल-तेलुगु पढ़ने से भारती हिंदी में इतने दक्षिणी शब्द नहीं आ पायेंगे जितने दक्षिणवासियों के हिंदी पढ़ने से आ जायेंगे। पहली हिंदी से दूसरी हिंदी अधिक रोचक हो सकती है। हिंदी वाले अहिंदी शब्द प्रयोग करने से हिचकेंगे। अहिंदी-भाषी अपनी मातृभाषा के शब्द अदबदा कर लिखेंगे तथा सम्मिलित करने की चेष्टा करेंगे। 'दियासलाई' को 'अंगारपेटी' भी कहेंगे। 'माचिस' कहते हैं तो बुरा नहीं करते। भाषा इसी प्रकार बढ़ती है। रघुवीरी हिंदी स्वाभाविक नहीं है। अप्राकृतिक है। किसी भाषा का इतिहास डाक्टर रघुवीर के पथ को नहीं अपनाता। कपोलकल्पित संस्कृत ढपोरशंख की आवाज ही कही जायगी।

सारांश यह है कि तिभाषिया बनना समय नष्ट करना है।

—शिवाधार पाण्डेय,
भूतपूर्व अध्यक्ष, अंग्रेज़ी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय,
म्योर रोड, इलाहाबाद।

सार्वदेशिक हिंदी के निर्माण में कश्मीरी भाषा का योगदान

कश्मीरी भाषा और साहित्य के संबंध में विचार करते समय लिपि का प्रश्न सहज ही सामने आ जाता है। मेरे विचार में कश्मीरी शब्दों का सही उच्चारण देने में केवल शारदा लिपि ही समर्थ है, और शारदा लिपि को ठुकराने का ही यह प्रभाव है कि आजकल भी लिखी हुई कश्मीरी तथा बोलचाल की कश्मीरी में ज़मीन-आसमान का अंतर है। कश्मीरी में लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ और ही जाता है। वास्तव में फ़ारसी-अरबी लिपि में कश्मीरी भाषा अनुमान की ही भाषा रह गयी है। साधारणतः कश्मीरी लोग भी लिखित कश्मीरी पढ़ नहीं पाते हैं—लिखने की तो बात ही दूर। इसलिए कश्मीर सरकार से भी हमारा सुझाव है कि अखंड देश की एकता को ध्यान में रखते हुए वह कश्मीरी भाषा के लिए फ़ारसी-अरबी तथा शारदा लिपि के बदले केवल देवनागरी लिपि का ही आधार अपनायें। देवनागरी लिपि के अभाव में कश्मीरी शेष भारतीय भाषाओं से पृथक सी लगती है।

कश्मीर में कश्मीरी भाषा के ही दो रूप हैं। एक वह जो कश्मीरी पंडित बोलते या लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों का ही सर्वाधिक प्रभाव है। और दूसरी वह, जो कश्मीरी मुसलमान लिखते या बोलते हैं जिसमें अरबी और फ़ारसी का ही अधिकतम प्रभाव है। वास्तविक कश्मीरी का ठेठ रूप कश्मीर के सुदूर गाँवों में ही सुनने को मिलता है जो शहर की हिंदू-मुस्लिम कश्मीरी से सर्वथा अप्रभावित हैं। यों तो भाषाओं के इतिहास में ही यह मान्यता है कि हर दस मील के अंतर पर उसके उच्चारण अथवा अभिव्यक्ति में अंतर आता है; किंतु वर्तमान कश्मीरी, वैज्ञानिक

लिपि के अभाव में, कुंठित-सी हो कर केवल एक बोली तक ही सीमित रह गयी है जो कश्मीरी भाषा के लिए बड़े ही दुर्भाग्य की बात है।

यह सत्य है कि कश्मीरी भाषा की धरोहर चौदहवीं शती के आरंभ से लल्लेश्वरी के वाक्यों तथा उसी शताब्दी के अंत में नुंद ऋषि के श्लोकों में अब भी हमारे पास सुरक्षित है तथा समय-समय पर इसमें अभिवृद्धि होती रही है। पर यह एक आश्चर्य की बात है कि पंद्रहवीं शताब्दी में ज़ैन-उल-आब्दीन के राजकवि श्री महावतार लिखित 'बानासुर कथा' (जो एक महाकाव्य है) तथा गणका प्रसाद लिखित 'सुख-दुख चरित' अधिक प्रचलित नहीं हो पाये हैं, जब कि लल्लेश्वरी का शैव दर्शन तथा नुंद ऋषि का सूफ़ीवाद काफ़ी प्रचलित है।

ज़ैन-उल-आब्दीन को कश्मीरी में महान राजा का सम्मान मिला है, लेकिन उसने भी कश्मीरी के बदले फ़ारसी को ही राज्य भाषा का सम्मान दिया था। हालाँकि कहा जाता है कि कश्मीरी भाषा के विकास तथा साहित्य-निर्माण के लिए उसने विशेष प्रोत्साहन दिया था।

आगे चल कर सोलहवीं शताब्दी में हब्बा ख़ातून का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कश्मीरी भाषा को शृंगार रस से ओतप्रोत कर दिया। १७५० में अरण्यिमाल का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने कश्मीरी भाषा में विरह रस का प्रतिपादन किया। उनके काव्य में विरह ही विरह व्याप्त है। इसके बाद दिवाकर प्रकाश भट्ट की कश्मीरी रामायण उपलब्ध होती है।

जिन दिनों कश्मीर में अफ़ग़ानों का आतंक छाया रहा है वह काल वास्तव में कश्मीरी इतिहास का सर्वांगीण अंधकारपूर्ण काल रहा है। उसी काल में कश्मीर का साहित्य-भंडार ख़ाली हो गया। वह सारी सामग्री जला कर डल झील पर बनाये गये सेतु के नीचे दबा दी गयी और इस प्रकार कश्मीर की वैभवशाली साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सामग्री संसार से लोप हो गयी। आज हम कश्मीर के महानतम अतीत के सूचना-स्रोतों से वंचित हैं। एकमात्र 'राजतरंगिणी' भी कश्मीर के उज्वलतम अतीत का विस्तृत विवरण देने में आज भी असमर्थ है।

सोलहवीं शताब्दी में कश्मीर ने एक अमर साहित्यकार, मातंड के पंडित परमानंद को जन्म दिया जिनके 'राधा स्वयंवर', 'सुदामा चरित' आदि कश्मीर के जन-मानस में अपना स्थान बना पाये हैं। उपर्युक्त ग्रंथों से स्पष्ट है कि किस प्रकार भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य, कश्मीर तथा कश्मीरी भाषा में पोषण पाता रहा है। यहाँ इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि १६४७ तक कश्मीरी भाषा अपना साहित्यिक विकास केवल काव्य तथा गीतों और नज़्मों में ही कर पायी है।

१८७६ में परमानंद के स्वर्गवास के बाद १८८५ में ग़ुलाम अहमद 'महजूर' का जन्म हुआ। 'महजूर' को वर्तमान कश्मीरी काव्य का प्रणेता कहा जा सकता है। उसके बाद अब्दुल अहद 'आज़ाद' १६०५ में पैदा हुए। 'आज़ाद' ने कश्मीरी भाषा में समाजवाद की ललकार की। 'मास्टर जी' विशेष उल्लेखनीय इसलिए हैं कि उनकी काव्य पुस्तक पर साहित्य अकादेमी ने उन्हें पुरस्कार से संमानित किया है। इस प्रकार कश्मीरी भाषा नज़्मों और गीतों में विकास पाती रही।

१६५४ से १६६० तक भारत सरकार के फ़िल्मस् डिवीज़न ने कश्मीरी भाषा में अपने

लघुचित्रों का निर्माण कर के कश्मीरी गद्य को विकास का अवसर प्रदान किया था; किंतु १६६० में ही कश्मीर सरकार की माँग पर भारत सरकार को कश्मीरी ख़त्म कर के सिंपिल उर्दू के आवरण में उर्दू में ही कश्मीर के लिए लघुचित्र बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। हालाँकि 'कश्मीरी बज़्म अरब' ने इन शब्दों में इसका विरोध किया था, 'समझ में नहीं आता कि कश्मीरी को रियासत की इलाक़ाई ज़बान का दरजा हासिल है तो सरकारी और मुख़्तार अदबी इदारों को इस ज़बान में किताबें छपाने की मनाही करना और दस्तावेज़ी फ़िल्मों में इसको खारिज करना क्या मानी रखता है। उम्मीद है इस बारे में हकूमत अवाम को मुतमयीन करेगी।'

सरकारी कारवाँ कानों में तेल डाल कर बढ़ता ही चला और कश्मीरी भाषा को क्षति पहुँचती रही। 'रेडियो कश्मीर' नाममात्र के लिए ही कश्मीरी कार्यक्रम करता है अन्यथा वहाँ पर भी उर्दू का ही बोलबाला है; क्योंकि कश्मीर सरकार ने उर्दू को ही अंग्रेज़ी के साथ-साथ राज-भाषा रखा है। यों तो अंग्रेज़ी के नीचे उर्दू भी दबी हुई है लेकिन फिर भी कश्मीर में कश्मीरी के बदले उर्दू की ही तूती अधिक बोलती है। कश्मीरी भाषा को जब स्वयं सरकार ही समाप्त करने पर तुली हुई है तो कश्मीरी से प्रादेशिक हिंदी के निर्माण में योगदान की आशा ही व्यर्थ है। जिसके स्वयं के पंख कटे हुए हों वह दूसरे को उड़ने का सहारा ही कैसे दे सकता है ?

श्री अली मुहम्मद लोन, पुष्कर मान तथा कलकत्ता निवासी प्रेमनाथ कौल आदि कुछ नाम हैं जो इन सभी अवरोधों के बाद भी कश्मीरी भाषा के गद्य को सँवारने में योगदान दे रहे हैं। यों तो 'नादिम', 'आरिफ़' आदि कवि भी कश्मीरी में कविता करते हैं, किंतु वे भी कुंठित हैं। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक लिपि के अभाव में कश्मीरी भाषा स्वयं अस्तव्यस्त है। कश्मीरी भाषा का कल्याण केवल नागरी लिपि अपनाने से ही हो सकता है—ऐसी समय की माँग है; और भारत के साथ कश्मीर की अखंडता भी तभी अटूट रह सकती है। वैसे भी कश्मीरी भाषा विशेष रूप से संस्कृत भाषा की छत्रछाया में ही विकसित होती रही है।

समाप्त करने से पूर्व एक बात अवश्य ही कहना चाहता हूँ। वह यह कि अज्ञान के कारण ही हिंदी के प्रति भारत के अहिंदी प्रदेशों में एक स्पर्धा सी उत्पन्न हुई है। इस स्पर्धा को समाप्त करने का, मेरे विचार में, एक रास्ता यह है कि संविधानिक रूप से भारत की व्यावहारिक राष्ट्र भाषा का नाम 'भारती' दिया जाय। 'भारती' की लिपि केवल देवनागरी ही हो। देश के सभी प्रदेशों की भाषाओं के अधिकतम प्रचलित शब्द और साथ ही अंग्रेज़ी के बहुप्रचलित शब्द भी व्यापक रूप में 'भारती' में आत्मसात किये जायें तभी हमारे देश में भाषा-विवाद समाप्त हो सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो 'हिंदी' शब्द भी अपने आप में अभारतीय शब्द ही है किंतु इस शब्द को आत्मसात किया गया है। जिस प्रकार संविधानिक रूप में अपने भारतीय राष्ट्र का नाम 'हिंदुस्थान' अथवा 'हिंदुस्तान' न रख कर निर्विवाद रूप से 'भारत' रखा गया है, उसी भाँति भारत की राष्ट्रभाषा 'भारती' हो। हिंदी स्वतंत्र रूप में अन्य भाषाओं की भाँति ठेठ हिंदी का ही विकास करती रहे जिससे हिंदी साहित्य को अपनी विशिष्टता प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार सकल राष्ट्र में 'भारती' सहज रूप में ग्राह्य हो सकती है तथा किसी भी प्रदेश को राष्ट्रभाषा के साथ द्रोह करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा; क्योंकि 'भारती' किसी एक प्रदेश विशेष की बपौती न हो कर समग्र राष्ट्र की वाणी होगी।

--रोचक पंडित,
मँगरू निवास, कांतिभाई कंपाउंड,
पारसी पंचायत पथ,
अंधेरी (पूर्व), बंबई-६९।

बाल-साहित्य के नये प्रतिमान

शैशव अवस्था पार करते ही बच्चों की मानसिक अवस्था में स्वतः ही परिवर्तन होने लगता है वह अपने पास-पड़ोस की वस्तुओं में रुचि प्रकट करता है। उनके प्रति मन में जाग्रत होने वाली उत्कंठा के कारण अनेक प्रश्न पूछता है। इनका उत्तर मिलने पर उसकी कल्पना अपना ताना-बाना बुनती है। उसकी रुचि कहानियों में बढ़ने लगती है। हर बात, हर चीज़, हर काम की वह एक कहानी सुनना चाहता है। कहानी भी ऐसी हो जिसमें उसकी कल्पना अद्‌भुत प्राणियों, विचित्र परिस्थितियों , देशों और आश्चर्यचकित करने वाली घटनाओं में उसे डुबा दे। कल्पना की यह उड़ान धीरे-धीरे जिज्ञासा में परिणत होने लगती है। उसकी इस जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा को शांत करता है वह साहित्य जो विशेषकर बच्चों के लिए, बच्चों की रुचि के अनुकूल और बच्चों की ही भाषा में लिखा गया हो।

यदि हम किसी भी देश के प्राचीन साहित्य का आलोड़न-विलोड़न कर के देखें तो पायेंगे कि साहित्य में ऐसा कहीं कुछ भी नहीं है, जो केवल बच्चों के लिए ही लिखा गया हो। हमारे यहाँ की रामलीला, यूरोप के थियेटर—बाल, युवा और वृद्ध सभी का मनोरंजन करते थे।

किंतु संस्कृति के विकास और नवजागरण के साथ जब लोगों में चेतना आयी तब इस ओर भी उनका ध्यान गया। उन्होंने देखा कि उनके साहित्य का बहुत-सा ऐसा अंग है जो बच्चों ने स्वयं ही अपना लिया है। लोकप्रचलित परीकथाएँ, साहसिक कथाएँ, यात्रा-कथाएँ आदि को अपनी रुचि के अनुकूल देख कर बच्चों ने उन्हें अपनी दुनिया की वस्तु बना लिया। रॉबिसन क्रूसो, सिंदबाद जहाज़ी तथा गुलिवर की कथाएँ कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं जो इस कथन की पुष्टि करते हैं।

बच्चों की इस स्वाभाविक रुचि ने ही स्वतंत्र बाल-साहित्य-रचना की प्रेरणा दी। यह समय उन्नीसवीं शताब्दी का था, जबकि संसार के प्रायः सभी देशों ने बाल-साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न आरंभ किये। उस समय कल्पना-लोक की परियाँ, राक्षस, भूत, राजा-रानी

भयंकर जीव-जंतु आदि बाल साहित्य के आकर्षक विषय थे । वे बच्चों के लिए रुचिकर भी सिद्ध हुए। प्राचीन धार्मिक और परंपरागत कथाओं को भी अत्यंत महत्वपूर्ण मान कर बाल-साहित्य में स्वीकारा गया। 'यह करो, वह न करो', 'सदा सच बोलो' आदि सीख देने वाली कहानियों की तो भरमार हो गयी। उस समय बच्चों के लिए बाल्य साहित्य जिस रूप में प्रस्तुत किया गया उससे स्पष्ट था कि उनके लिए सभी कुछ सीखना आवश्यक है।

बीसवीं शताब्दी में आते ही बाल-साहित्य में एक विश्वव्यापी क्रांति-सी हो गयी। उसे नैतिक उपदेश देने वाली सीमा से बाहर निकाला गया। बच्चों के जीवन और मनोभावों को प्राथमिकता मिलने लगी। तब उनके लिए यह आवश्यक नहीं रह गया कि वे सदैव कल्पना-लोक में ही विचरण करें। उन्हें यथार्थ के धरातल पर ला कर जीवन के सत्य और मूल्यों को पहचानने के योग्य बनाने का भी प्रयत्न किया जाने लगा।

बाल-साहित्य की इस विश्वव्यापी क्रांति की आधारभूमि संस्कृतियों का परिवर्तन और विकास ही माना जा सकता है। आज के युग में हम स्पष्टतः देखते हैं कि बाल-साहित्य-लेखन अब पहले जैसा नहीं रहा। अब बाल-साहित्य प्रौढ़-साहित्य से सर्वथा भिन्न है। उसकी अपनी पृथक विशेषताएँ हैं। उसमें बाल मनोवृत्ति से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता होना, एक आवश्यक तत्व माना जाता है।

आज बदलती हुई दुनिया के साथ, साहित्य के रूप में भी परिवर्तन हो रहे हैं। बाल-साहित्य में जंगली राक्षस, राजा-रानी, परियों की कल्पना भरी उड़ान इत्यादि का अब वह महत्व नहीं रह गया जो अब से पचास या सौ वर्ष पहले था। अब सभी जानते हैं कि न राक्षस होते हैं और न रंगबिरंगी परियाँ। आज का युग विज्ञान के धरातल पर खड़ा है। वह सत्य और प्रमाणों का सहारा ले कर चलता है। इसलिए कोरी और निर्मूल कल्पनाभरी बातों का अब कोई महत्व नहीं रहता। बाल-रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल कल्पना और रहस्यमयी बातों का महत्व अत्यधिक है, यह एक निर्विवाद सत्य है; किंतु अब उस कल्पना और रहस्य का भी कोई न कोई आधार बनाना आवश्यक हो गया है। आज हम आसमान की रंगबिरंगी परियों को झूठ कहते हुए भी यह स्वीकारते हैं कि मनुष्य के लिए आकाश में उड़ना अब असंभव नहीं रहा। आज की कहानियों के कथानक और पात्र कोरी कल्पना की उड़ान मात्र नहीं होते बल्कि जीवन के सत्य से अनुप्राणित होते हैं। हमारे जीवन में रोज़ जो कुछ घटित होता है, वही साहित्य के निर्माण का आधार बन जाता है।

आज के बाल-साहित्य में एक तो वे पौराणिक गाथाएँ हैं जिन्हें हम संस्कृति का पोषक तत्व कहते हैं, और दूसरी ओर वह साहित्य है जो नयी दिशा और नयी धाराओं को ले कर चलता है। अंतरिक्ष-युग में—ग्रहों की यात्रा, वहाँ की रहस्यमयी बातों का अध्ययन और अंतरिक्ष में उड़ान भरना—बाल-साहित्य की वे नयी धाराएँ हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन्हें हम चाहे वैज्ञानिक तथ्यों के आधार मात्र के लिए ही क्यों न लें, किंतु ऐसा करना अधिक उपयोगी और रुचिकर सिद्ध होगा।

एक युग था जब युद्ध की रोमांचक कहानियाँ बच्चों को बहुत अच्छी लगती थीं। पर

अब युद्ध का रूप ही बदल गया है। अब पहले जैसी बातें नहीं रहीं। एटम के इस युग में पृथ्वी से उड़ कर आसमान में भी युद्ध करने के लिए लोग तैयार हैं। दूसरी ओर, युद्ध की विभीषिका से जो पीड़ित हो चुके हैं, वे उससे घृणा करते हैं। वे अपने बच्चों को ये घृणित बातें नहीं बताना चाहते। आज के माता-पिता चाहते हैं कि उनका बच्चा खूब धनी हो अथवा कोई बड़ा नेता बने या कला-कौशल के क्षेत्र में उन्नति करे।

आज आवागमन के अनेक साधन उपलब्ध हैं और यात्रा-पथ इतने दुर्गम नहीं हैं जितने पहले थे। प्राचीन काल में यात्राएँ प्रायः वयस्क ही किया करते थे, और उनके संस्मरण बाल-युवा सभी को प्रेरणा देते थे। किंतु अब बच्चों के लिए लिखे गए यात्रा-विवरणों में, बच्चे स्वयं यात्री हों, यह एक आवश्यक तथ्य समझा जाता है। बाल-यात्री अपनी सूझबूझ के अनुसार जो कुछ भी अनुभव करेगा वह अन्य बाल-पाठकों के लिए प्रेरक सिद्ध होगा। अपने सीमित साधनों के बीच बाल-यात्री अधिक रोचक और प्रेरक संस्मरण दे सकेगा और ऐसे विवरण पढ़ कर बच्चे उससे अपना तादात्म्य सरलता से स्थापित कर लेंगे।

नाटक और गीतों में भी अब परिवर्तन आ रहा है। आज आवश्यकता ऐसे नाटकों की है जो बच्चों की रुचि के अनुकूल हों और उनकी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकें। सफल बाल-नाटक वही होंगे जिनको बच्चे स्वयं प्रस्तुत कर सकें।

मीठी-मीठी लोरियों के झूले से उतर कर बच्चा जब धूल-मिट्टी में खेलने लगता है तो वह प्रत्येक वस्तु के प्रति जिज्ञासु होता है। अपने मनोरंजन और जिज्ञासा की शांति के लिए वह अनेक बातें खेल-खेल में ही सीखना चाहता है। ये खेल यदि गीतों के माध्यम से सिखाये जायें तो निश्चय ही उसकी बौद्धिक क्षुधा और मनोरंजन की लालसा शांत हो जायगी। साथ ही शब्दों की ध्वनि, छंदों में निहित संगीत और उसका अर्थ, बाल-मानस पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालेंगे।

बाल-साहित्य के ये नये प्रतिमान बदलते हुए युग की सूचना देते हैं। आज संसार के प्रायः सभी देशों में इन्हीं प्रतिमानों की आधारभूमि पर बाल-साहित्य लिखा जा रहा है। अंतर केवल विचारधारा का है, जो इन प्रतिमानों को अपने अनुकूल बना लेती है। रूस की साम्यवादी नीति तथा अमरीका की पूँजीवादी नीति का अंतर बाल-साहित्य को प्रभावित किये बग़ैर नहीं रह सकता।

अमरीकी बाल-साहित्य अपने आरंभिक दिनों में पूर्णतः उपदेशात्मक ही रहा है। किंतु बीसवीं शताब्दी में आ कर उसकी विधाओं और विचारधारा में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अमरीकी बच्चों का पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा आरंभ से ही इस ढंग से आरंभ होती है कि वे बड़े हो कर बहुत ही सुखी जीवन व्यतीत करें। बाल-साहित्य के प्रसिद्ध अमरीकी लेखक लूसी स्प्रेग मिचेल ने 'हियर एंड नॉउ' शीर्षक से बच्चों के लिए जो साहित्य लिखा उसमें यह स्पष्ट कर दिया कि अब अभिभावकों और अध्यापकों को चाहिए कि वे बच्चों को काल्पनिक और परियों की कथाएँ न सुनायें। इससे उन पर कुप्रभाव पड़ते हैं और वे जीवन का मूल्य आँकने में भविष्य में भूल कर सकते हैं। इसलिए ऐसे साहित्य के स्थान पर यह बतायें कि संसार क्या है, सत्य क्या है और जीवन के सही मूल्य क्या हैं। उन्हें यह बतायें कि नल से पानी कैसे आता है, घर पर दूध कैसे आता है, आदि।

फ़ांस में बच्चों के जीवन को उनके चरित्र-निर्माण-काल के रूप में महत्व दिया गया है। अतः यह आवश्यक है कि उनके लिए जो भी साहित्य लिखा जाय वह नितांत उपयोगी हो। वहाँ बच्चों की हर क्रिया पर अभिभावक कड़ी नज़र रखते हैं और उनकी सभी भूलों को सुधारते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम अमरीकी बाल-जीवन और बाल-साहित्य से फ़ांस के बाल-जीवन तथा बाल-साहित्य की तुलना करें तो स्पष्ट हो जायगा कि दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। अमरीका का बाल-साहित्य बच्चों का मनोरंजन तो करता ही है, साथ ही, उन्हें ज्ञान की अनेक बातों से भी अवगत कराता है। किंतु फ़ांस के बाल-साहित्य में मनोरंजन का कोई महत्व नहीं है। वह तो उन्हें युवावस्था के लिए तैयार करता है, उनकी आधारभूमि को दृढ़ बनाता है।

रूस का बाल-साहित्य बच्चों को अधिक से अधिक क्रियाशील तथा कर्मठ बनाने के उद्देश्य से लिखा जा रहा है। वहाँ बच्चों की उन सभी क्रियाओं को अधिक महत्व दिया जाता है जो उनके देश की साम्यवादी नीति की पोषक हैं। बच्चों के मनोरंजन तथा उनके स्वतंत्र आचरण के लिए केवल उतनी ही छूट दी जाती है जितनी साम्यवादी नीति के अंतर्गत संभव है।

बाल-साहित्य के ये नये प्रतिमान बच्चों के स्वाभाविक विकास, उनकी रुचि और मनोवृत्ति को कोई महत्व नहीं देते। इनके अंतर्गत तो राजनीति की वह भावना छिपी है जो प्रत्येक देश पर शासन चलाना चाहती है। इस तरह का समस्त बाल-साहित्य अरुचिकर को भी रुचिकर बनाने के प्रयास के रूप में लिखा जा रहा है। क्या बाल-साहित्य का यह नया रूप बच्चों को जीवन के सही मूल्य समझने योग्य बना सकेगा? यह प्रश्न विचारणीय है।

—हरिकृष्ण देवसरे
आकाशवाणी, भोपाल।

सम्मेलन के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य
१. प्रेमघन सर्वस्व भाग १, २	श्री दिनेशनारायण उपाध्याय	१० रु० प्रति
२. शिशुपाल वध (महाकाव्य)	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	८ रु०
३. मत्स्यपुराण	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	२० रु०
४. वायुपुराण	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	१२ रु०
५. पुराणों में गगा	सम्पा० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	३.५० रु०
६. क्रान्तिकारी तुलसी	श्री नारायणसिंह वकील	१० रु०
७. मार्क्स और गांधी का साम्य दर्शन	श्री नारायणसिंह वकील	१५ रु०
८. मानक हिन्दी कोश [भाग १]	सम्पा० रामचन्द्र वर्मा	२५ रु०
९. मानक हिन्दी कोश [दूसरा भाग]	सम्पा० रामचन्द्र वर्मा	२५ रु०
१०. प्रत्यक्ष शारीर कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	८ रु०
११. जीव रसायन कोश	सम्पा० डा० ब्रजकिशोर मालवीय	६ रु०
१२. चिकित्सा विज्ञान कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	७.५० रु०
१३. भूतत्व विज्ञान कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	२.२० रु०
१४. साहित्य और कला	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	२.५० रु०
१५. रस और रसास्वादन	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	४.५० रु०
१६. हार	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	१० रु०
१७. आधुनिक कवि भाग ७	डा० हरिवंशराय बच्चन	३ रु०
१८. आधुनिक कवि भाग ८	स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी	३ रु०
१९. आधुनिक कवि भाग ९	श्री नरेन्द्र शर्मा	३ रु०
२०. गीताऽमृत	श्री शिवकुमार मिश्र 'मयूर'	३ रु०
२१. कवि कालिदास	स्व० श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी	१.२५ रु०
२२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१२ रु०
२३. पालि साहित्य का इतिहास	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१५ रु०
२४. रसशास्त्र	श्री अत्रिदेव विद्यालंकार	७ रु०
२५. प्रबोध चंद्रोदय और उसकी हिन्दी परंपरा	डा० सरोज अग्रवाल	१० रु०
२६. सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी	सम्पा० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	४ रु०
२७. हिन्दी भाषा आन्दोलन	डा० सेठ गोविन्ददास	९ रु०
२८. कुतुबनकृत मृगावती	डा० शिवगोपाल मिश्र	६ रु०
२९. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास	डा० श्रीराम शर्मा	१२ रु०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखाजोखा——जो हिंदी को किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य——जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठाएगा। ज्ञानविज्ञान के नए-नए विषयों पर बिल्कुल नई सामग्री——जो आप को आधुनिक बनाए रखने में सबसे अधिक योग देगी।

सरिता सामाजिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक मुक्ता राजनीति, कला व ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में

आज ही नमूने की प्रति के लिए निम्न पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झांसी रोड • नई दिल्ली

'सम्मेलन-पत्रिका' के दो अनवद्य विशेषांक

कला-अंक

'सम्मेलन-पत्रिका' का सत्यं, शिवं, सुन्दरं और स्वस्तिकम् इन चार विभागों में विभक्त कला-अंक सुपर रायल साइज़ में साढ़े पाँच सौ पृष्ठों का कला विषयक एक सन्दर्भ, संग्रहणीय ग्रन्थ है। कलाओं की प्राचीनता, उनके उद्भव और विकास से ले कर वर्तमान कला-प्रगतियों का सैद्धान्तिक विवेचन इस अंक की विशेषता है। आलोचकों, कला-मर्मज्ञों की दृष्टि में यह कला-अंक हिन्दी में कला विषयक सर्वप्रथम भारतीय सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक ग्रन्थ है। चित्रकला के अग्रदूत अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'भारत शिल्प के षडंग' नामक बँगला कृति का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद और विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत 'चित्रसूत्रम्' का भाषानुवाद सहित प्रकाशन हिन्दी में प्रथम बार इस अंक में हुआ है। साथ ही, प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कलाओं की पूरी सूची, भारत के प्रसिद्ध कला-मण्डल, कला, संस्कृति और पुरातत्व सम्बन्धी ग्रन्थों की सूची, विश्व के अद्भुत स्मारक और कलाचार्यों की नामावली प्रस्तुत कला-अंक के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र किसी एक स्थान पर मिलना सम्भव नहीं है। ऐसे कलापूर्ण मुद्रित सचित्र विशेषांक का लागत मूल्य केवल आठ रुपये है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

'श्रद्धांजलि विशेषांक'

इस विशेषांक में महामना मालवीय जी, पंडित रामनरेश त्रिपाठी और पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के कृतित्व और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रमुख विद्वानों, लेखकों तथा रचनाकारों की श्रेष्ठ रचनायें और रोचक संस्मरण प्रकाशित हुए हैं। मालवीय जी, त्रिपाठी जी तथा निराला जी की हस्तलिपियों तथा रेखा-चित्रों सहित इस अत्यन्त रोचक, संग्रहणीय और पठनीय विशेषांक की एक प्रति अपने पास अवश्य सुरक्षित रखिये। शोध तथा अन्वेषण की दृष्टि से यह विशेषांक अत्यन्त महत्वपूर्ण, ज्ञानवर्द्धक और स्थायी साहित्य की दृष्टि से संग्रहणीय है।

विशेषांक का मूल्य, प्रति अंक ८ रुपया : पृष्ठ संख्या ६००

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
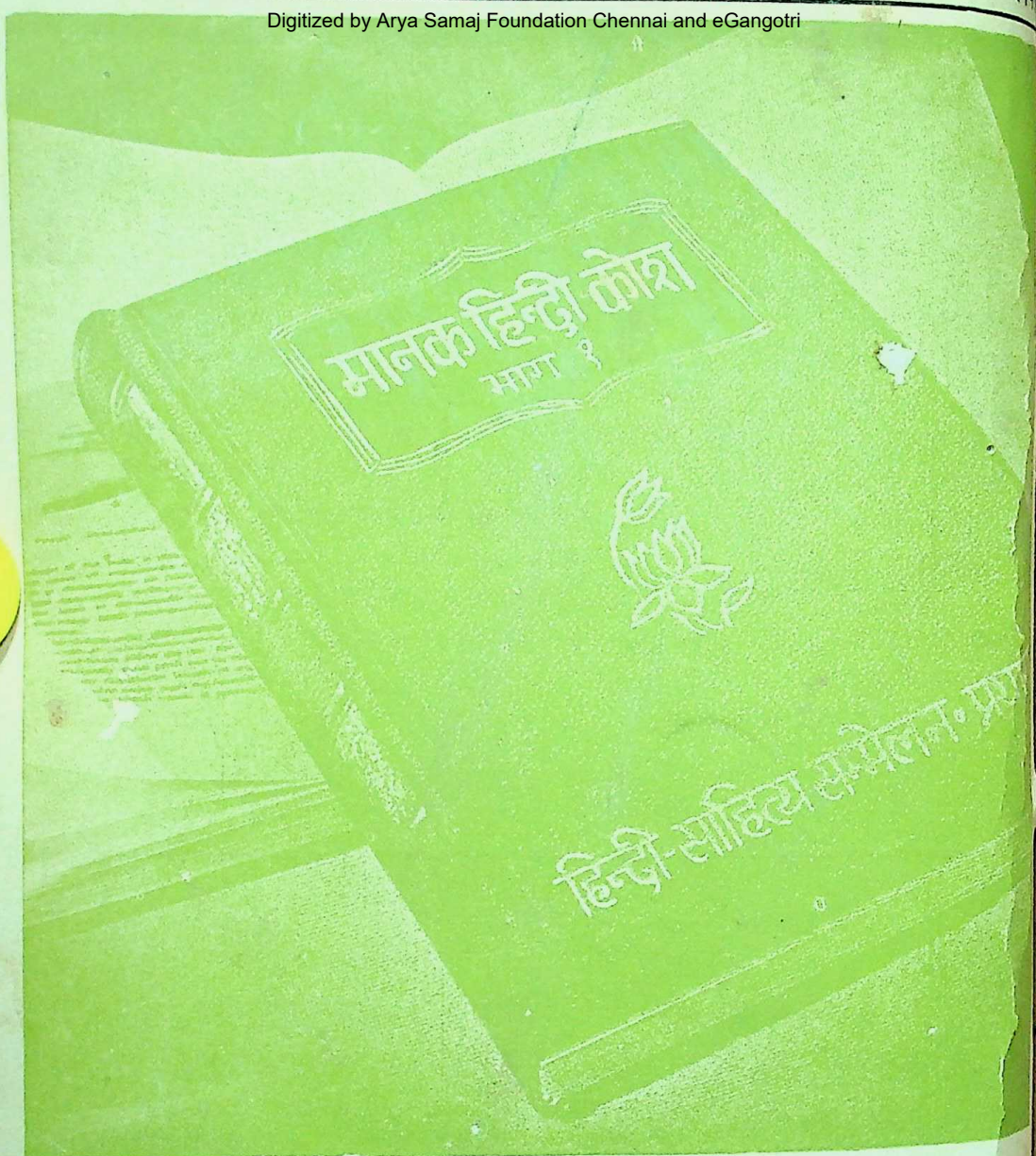
रजिस्टर्ड नं० एल० २१

प्रकाशक तथा मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
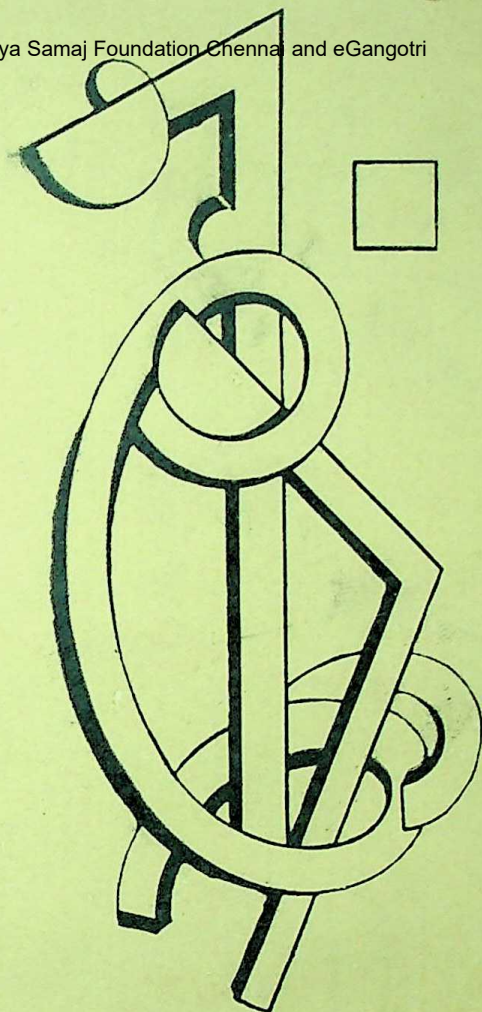
माध्यम

संपादक - बालकृष्ण राव

वर्ष १ : अंक ८
दिसंबर १९६४

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग
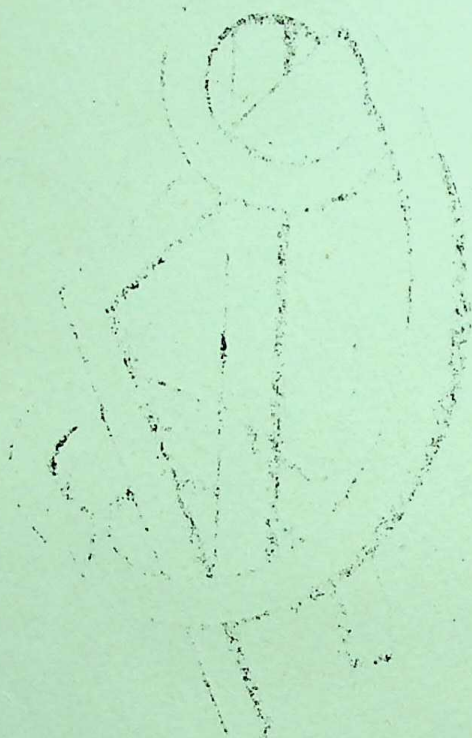
वर्ष १ : अंक ८

निमित्तमात्रं भव दिसंबर १९६४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

माध्यम

का नवाँ अंक

प्रस्तुत कर रहा है:

- 'कुछ कैफ़ियत'--जैनेन्द्र के विचार तथा वासुदेवशरण अग्रवाल और किशोरीदास वाजपेयी के ज्ञानवर्धक लेख।
- पंत, दिनकर और सर्वेश्वर की कविताएँ।
- कुँवरनारायण की प्रतीकात्मक व्यंग्य-कहानी।
- केशवचंद्र वर्मा द्वारा 'वाङ्मय परिमर्दनम्'।
- रवींद्र कालिया द्वारा प्रस्तुत पंजाबी का 'सहवर्ती साहित्य'।
- नवीन-कृत 'हम विषपायी जनम के' पर भारतभूषण अग्रवाल की विवेचना।
- गोष्ठी-प्रसंग, डायरी, समीक्षा तथा पुनर्विचार।

विवेचना और समीक्षाएँ

प्रतिपत्तिका

प्रत्यालोचन-पुनर्विचार

●●

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

●

आवरण-चित्र : लक्ष्मीचंद्र

संपादकीय

●●

२६ जनवरी १९६५ और हमारी तैयारियाँ

२६ जनवरी १९६५ के लिए अब पूरे दो महीने भी नहीं हैं। उस दिन हिंदी औपचारिक, वैधिक रूप से भारत की राजभाषा बन जायगी। करोड़ों भारतवासियों की दृष्टि में उनका देश सच्चे और पूरे अर्थ में उसी दिन स्वतंत्र होगा, उसी दिन मदनमोहन मालवीय और पुरुषोत्तमदास टंडन की भगीरथ-साधना सफल होगी। राम का राज्याभिषेक उनके युवराज-पद पर प्रतिष्ठित किये जाने के संकल्प के चौदह वर्ष बाद हुआ था; हिंदी राजभाषा के रूप में स्वीकृत किये जाने के पंद्रह वर्ष बाद अपना पद ग्रहण करेगी। निश्चय ही भारत के इतिहास की महत्वपूर्ण तिथियों में २६ जनवरी १९६५ का एक विशिष्ट स्थान है—अपने अनेकानेक शताब्दियों के इतिहास में भारत कभी जनता के द्वारा, जनता की अपनी भाषा के माध्यम से, शासित नहीं हुआ था। व्यावहारिक, राजनीतिक अर्थ में देश का स्वाधीन होना उसके जन-मानस की मुक्ति की तुलना में ओछा ही ठहरेगा। अतः २६ जनवरी १९६५ को १५ अगस्त १९४७ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण तिथि मानना उचित होगा।

पर क्या सचमुच हम इस तिथि को इतना महत्व दे रहे हैं? समस्त भारतीय जनता की बात न भी करें, अपनी दृष्टि केवल हिंदीभाषी प्रदेशों तक ही सीमित रखें, तो भी क्या हम यह कह सकते हैं कि लोग बड़े उत्साह के साथ २६ जनवरी १९६५ की प्रतीक्षा कर रहे हैं? अपने चारों ओर हमें कहीं, कोई लक्षण इस उत्साह के दिखायी देते हैं? और यदि नहीं, तो क्यों नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर देना गंतव्य और गति का तुलनात्मक परीक्षण करना है। पिछले पंद्रह वर्षों से अपने गंतव्य की ओर हम जिस गति से बढ़ते रहे हैं वह यही देख कर जानी जा सकती है कि हम आज उस दायित्व को उठाने के लिए कितने तैयार हैं जो २६ जनवरी १९६५ से हमारे कंधों पर आ जायगा। इसी तैयारी के लिए न हमने पंद्रह वर्षों का समय लिया था? तो फिर

अब जब कि चौदह वर्ष और दस महीने तैयारी करते बीत चुके हैं, क्या हम तैयार हैं? शायद ही कोई इसके उत्तर में स्पष्ट और दृढ़ स्वर में 'हाँ' कहने का साहस करे।——पर नहीं, इसके उत्तर में शायद यह कहा जायगा कि **"बात हमारे तैयार होने की नहीं थी। हम तो शुरू से ही तैयार थे। दिक़्क़त जो थी वह तो इसकी थी कि हमारी भाषा ही तैयार नहीं थी, उसे ठीक-ठाक कर के, गढ़-छील के, बना-सँवार के, इस योग्य बनाना था कि वह एक विराट आधुनिक देश की राजभाषा बन सके। पंद्रह वर्ष का समय इसी काम के लिए लिया गया था, और वह नाकाफ़ी साबित हुआ। हिंदी ने तरक़्क़ी बहुतेरी की है, मगर अभी वह बात पैदा नहीं हो पायी जिसके बग़ैर काम नहीं चल सकता। हिंदी कुछ दिन अंग्रेज़ी के साथ चले, धीरे-धीरे अंग्रेज़ी की जगह उससे काम लिया जाय, तो ज्यों-ज्यों वह काम लायक़ साबित होने लगेगी, दफ़्तरों में चलने लगेगी, त्यों-त्यों अंग्रेज़ी की जगह लेती जायगी।"**

मानो कोई ऐसा नया कारख़ाना या ऐसी नयी प्रयोगशाला शुरू करने की बात हो जिसे चलाने के लिए ज़रूरी तकनीकी जानकारी रखने वाले अभियंता और वैज्ञानिक भारत में नहीं हैं। मानो विदेश से विशेषज्ञ बुलाये गये हैं, ऊँची-ऊँची तनख़ाहों पर नियुक्त किये गये हैं, और अब यह चाहिए कि हमारे होनहार अभियंता, कारीगर और वैज्ञानिक इन विदेशी उस्तादों के साथ काम करें, उन्हें काम करते देखें, उनसे सीखें, इस लायक़ बनें कि जब वे न रहें तब सारा काम ख़ुद सम्हाल सकें। पंद्रह वर्ष का समय इन सबको कार्यदक्ष बनाने के लिए यथेष्ट नहीं था——इतने दिनों में तो वे इस क़ाबिल हो पाये हैं कि काम सीखना शुरू करें। और फिर इसी की क्या ज़रूरत है कि विदेशी उस्ताद चले ही जायँ? यह स्वदेश-विदेश वाली बात भी कोई बात है? हम युग-युग से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मानने वाले क्या आज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से लुढ़क कर 'कुटुम्बकमेव वसुधा' के अंधकूप में गिर जायँगे? कहाँ की बुद्धिमानी है यह? इसके सिवा यह भी तो सोचना है कि कहीं अहिंदी-भाषी बिगड़ न खड़े हों, देश का संघटन ही न ख़तरे में पड़ जाय। अंग्रेज़ी को अभी रहने दिया जाय, धीरे-धीरे, रेंग-रेंग कर, सरक-सरक कर, बिना खटपट किये, बिना किसी को चौंकाये, खिझाये, नाराज़ किये, कालांतर में हिंदी अपनी जगह पहुँच ही जायगी। इसमें तो कोई शक है ही नहीं कि एक न एक दिन हिंदी इस देश की राजभाषा हो कर रहेगी——गांधी जी तो गांधी जी, जवाहरलाल जी भी यही कह गये हैं। तो फिर परेशानी किस बात की है, उतावली की क्या ज़रूरत है? माना कि २६ जनवरी १९६५ को कुछ होना चाहिए, कुछ कहा जाना चाहिए, कुछ किया जाना चाहिए, जिससे यह मालूम हो कि संविधान के आदेश का पालन हुआ, कि नया युग शुरू हो गया। तो ठीक है, उतना भर कहने-करने का इंतज़ाम कर लिया गया है। स्वराष्ट्र-मंत्री नंदा जी ने साफ़-साफ़ कह तो दिया है कि भारत सरकार २६ जनवरी १९६५ से हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए कटिबद्ध है।

गत ६ अक्तूबर को 'हिंदी सलाहकार समिति' की बैठक में बोलते हुए नंदा जी ने कहा कि समिति का यह सुझाव वे स्वीकार करते हैं कि सरकार एक परिपत्र प्रकाशित कर के 'हिंदी की क़ानूनी स्थिति' को स्पष्ट कर दे——ताकि इस बारे में फैली सारी ग़लतफ़हमी दूर हो जाय। (चौदह वर्ष दस महीने 'ग़लतफ़हमी' फैली रही, अब एक वक्तव्य से वह दूर कर दी जायगी!

सो भी तब जब कि 'हिंदी की क़ानूनी स्थिति' को व्यावहारिक स्तर पर स्वतः स्पष्ट बनाने की नौबत आ गयी है !)

इस बैठक में चार उपसमितियों द्वारा की गयी कुछ सिफ़ारिशें स्वीकृत हुई जिनमें से जो विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती है वह इस आशय की है कि स्वराष्ट्र मंत्रालय सभी मंत्रालयों से एक विशेष प्रतिवेदन प्राप्त करे जिसमें प्रत्येक मंत्रालय यह बताये कि उसने अब तक 'हिंदी के क्रमिक प्रयोग के लिए' क्या-क्या उपाय किये और आगे क्या-क्या करने जा रहा है। (जब तक यह प्रतिवेदन तैयार हो कर स्वराष्ट्र मंत्रालय में पहुँचेगा तब तक शायद २६ जनवरी १९६५ एक दम सिर पर आ चुकी होगी। और जब तक उस पर विचारादि की प्रक्रिया पूरी होगी तब तक तो शायद . . . । पर नहीं, उतावली की क्या जरूरत है—कालोह्ययं निरवधिः।)

इससे जनता ख़ुश न होगी क्योंकि जनता को क्या पता कि किस-किस तरह के प्रतिवेदन कौन किससे मँगाता रहता है। आयोजन ऐसा होना चाहिए कि जनता को भी मालूम हो जाय कि २६ जनवरी १९६५ आ गयी—और संविधान के आदेश का पालन होने लगा। इसलिए **"२६ जनवरी १९६५ के बाद संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए जितने भी फ़ार्म आदि छापे जायँ उनमें हिंदी पहले आनी जाहिए और अंग्रेज़ी उसके बाद।"** और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा क्यों किया जाना चाहिए : **"मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह वांछनीय है कि २७ जनवरी १९६५ को इस प्रकार के कुछ फ़ार्म जारी किये जायँ।"** अगली स्वीकृति में यह उद्देश्य (कि कुछ स्पष्ट दीख पड़ने-समझ में आने वाली बात की जानी चाहिए) और भी साफ़ हो जाती है : **"२७ जनवरी १९६५ से सभी मंत्रालयों से हिंदी भाषाभाषी प्रदेशों में कुछ पत्र हिंदी में भेजे जावें, जिससे कि लोगों को यह पता चल जाय कि हिंदी ने संघ की राजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है।"**

यह है असली बात : 'लोगों को पता चल जाय' ! लोगों को पता चले तो कैसे—क्योंकि गंतव्य से हम कोसों दूर हैं और भ्रम इसका उत्पन्न करना है कि गंतव्य तक पहुँच गये, इसलिए ये सारे आयोजन किये जा रहे हैं। तैयारी की तो यह हालत है कि आज भी हिंदीभाषी प्रदेशों के आकाशवाणी केंद्र हिंदी में वार्ता प्रसारित करने के लिए हिंदी के लेखकों के पास अनुबंधपत्र अंग्रेजी में भेजते हैं। और क्यों न भेजें ? कितने हिंदी वाले उन्हें इस कारण अस्वीकृत करते हैं कि वे हिंदी में नहीं हैं ? देश का कौन-सा काम है जो हिंदी के माध्यम से न करने के कारण नहीं हो पा रहा है ? किसके सलाम बंद हैं, किसके पयाम बंद हैं ? तो फिर मजबूरी किसे, किस तरह की है ? काफ़ी है कि जो भी किया जा रहा है वही हो रहा है, वर्ना २६ जनवरी १९६५ के बाद भी लोगों को पता तक न चल पाता कि हिंदी ने संघ की राजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है। अकबर इलाहाबादी का शेर याद आता है। २६ जनवरी १९६५ के बाद हम हिंदी के बारे में वही कहने की स्थिति में हो जायँगे जो अकबर ने मिसेज़ बेसेंट के लिए कहा था :

अब मिसेज़ बेसेंट नज़्मों में कहानी बन गयीं,
राज हम पायें न पायें वह तो रानी बन गयीं।

●●

मुक्तिबोध की स्मृति में

चुकती साँसें

●●

(१० सितंबर १९६४ को लिखित भावचित्र, जब मुक्तिबोध अचेतनावस्था में पड़े थे)

कोई एक कारवाँ हमसे हो कर गुज़र जाता है। और हम सोयें रहते हैं। यह कितनी बड़ी बात हो जाती है। हवा हवा होती है। हमें उसका ख़याल नहीं रहता। ज़बान पर तीखी शिकायत, फिर भी चुप। लहकता हुआ जलवा आँखों में। दामन पर ख़ून के दाग़। बात बोलते हुए। पहाड़ माथे पर टूटता हुआ। दिल में रक्त-शिराओं जैसे फूलते हुए जोंक।

और हम सोचते हैं—दर्द बस हमीं को होता है। परेशानियाँ हमारी ही जान खाती हैं। दूसरा कोई मरता भी रहे तो यकीन नहीं होता। हमें हरदम एक ग़लत अंदाज़ हो जाता है। और फिर तो सब ग़लत—यह दर्पण तक अंधा हुआ रहता है। मछली मछली को खाती है। साँप अपना अंडा ख़ुद पी जाता है। और सब ठीक-ठाक चलता है। कोई किसी का बच्चा चुरा लेता है। गाना सिखा कर उससे भीख मँगवाता है। (और वह कला को पेट पर ओढ़े चला करता है।) हमारी सभ्य भौंहों पर ज़रा बल पड़ता है। हम कुछ पैसे फेंक आगे बढ़ जाते हैं। कहते हुए—सब बदल जायगा। आदमी, मगर, काहिल-का-काहिल रह जायगा। और इस तरह आदमी से भिन्न हुए रहते हैं। जैसे आदमी नहीं हों।

और कुछ नहीं होता है। मीनारें उठती हैं, गिरती हैं। नदी बढ़ियाती है, सूखती है। ऋतुएँ बदलती हैं। और मौसम नये-नये रंग दिखलाता है। मगर हम वैसे ही चादर ताने रहते हैं। बाज़ार-भाव उठता है, गिरता है। फिर भी कोई बात नहीं होती। ग्रहण लगता है, उगरह भी होता है। सूरज की रोशनी में कमी नहीं होती। अंधकार, तौ भी, तगड़ा हुआ रहता है।

और कोई शख़्स दिन-रात जूझते हुए चलता है। हम अपनी जगह छाँह किये रहते हैं। या फिर, उसी की कोशिश में हाथ-पैर मारते हैं। जब उसकी साँस चुक जाती है, रुक कर ज़रा थाह ले लेते हैं। हुआ तो दबे-दबे यह भी कह लेते हैं—ग़ज़ब बात हो गयी! यह कैसी—कितनी

बड़ी घटना है! और कछुए जैसे अपने में, अपनी समझदारी में आखिर सिमट जाते हैं—यह जो आज की घटना है, नयी बात नहीं। ऐसा कब नहीं हुआ है—होता है!

—कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह,
२९ रसा रोड ईस्ट, फ़र्स्ट लेन, कलकत्ता-३३।

आत्मा के मित्र को स्नेहांजलि

●●

(दिल्ली में हुई शोकसभा में पठित वक्तव्य)

यह सभा, एक बंधु के निधन पर, एक कवि के अपने रचना-क्षेत्र से उठ जाने पर, दुख प्रकट करने और शोक-संतप्त परिवार को हम सब की समवेदना पहुँचाने के लिए एकत्र हुई है। बंधु की स्मृति से अभिभूत हो जाना स्वाभाविक है; कवि के कृतित्व के मल्यांकन का यह अवसर नहीं है। गजानन माधव मुक्तिबोध की स्मृति में दो फूल चढ़ाते हुए, और उनके परिवार के दुख में साझा बटाते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि मेरी समझ में यह मुक्तिबोध के काव्य-कृतित्व की विशेष शक्ति थी कि हम उसे पढ़ते हुए भी 'बंधु' को 'कवि' से अलग नहीं कर सकते : उनके काव्य में हम कवित्व का उत्कर्ष ठीक उसी स्थल पर पाते हैं जहाँ हम उसमें बंधुत्व के भाव का तीव्रतर स्पंदन अनुभव करते हैं....

मुक्तिबोध की पहली कविता मैंने पचीस-एक वर्ष पहले पढ़ी थी। यह अकस्मात नहीं कि उन पहले-पहल पढ़ी हुई कविताओं में जो मेरे मन में बैठ गयी उसका शीर्षक था—'आत्मा के मित्र मेरे'। उनकी अंतिम कविता जो मैंने पढ़ी वह सन १९६३ की लिखी हुई थी। और मुझे उन्होंने इस वर्ष के आरंभ में भेजी थी। इसका शीर्षक था—'एक आत्म-वक्तव्य'। इस लंबे अंतराल में हमारा मिलना कभी-कवाह ही होता रहा, पत्र-व्यवहार भी बहुत कम हुआ : पर जब नहीं हुआ तब कहीं कुछ टूट नहीं दीखी और जब फिर शुरू हुआ तो यह नहीं लगा कि कोई दूरी थी जिसे पाटना आवश्यक है। निजी संपर्क में बंधुत्व की यह सहजता ही मुझे मुक्तिबोध का सबसे उल्लेखनीय गुण जान पड़ता रहा—और मेरे लिए तो विशेष मूल्यवान गुण, क्योंकि मुझसे तो यह अपवाद-रूप ही सधता है जबकि वह हर किसी को वह सहजता दे सकते थे।

यह सहजता उनके काव्य पर भी छायी थी। उसमें अनगढ़ भी था, एक रूखापन भी, पर यह सहज भाव इस रूखेपन को भी उनके काव्य की शक्ति बना देता था। हर कवि अन्वेषी होता है; कुछ वस्तु का अन्वेषण करते हैं, कुछ समाज का, कुछ के और कई अन्वेषण हो सकते हैं। मुक्तिबोध (मेरी समझ में, और कई समीक्षकों की राय के बावजूद) आत्मान्वेषण के कवि थे। मैं तो इस बात को उनके काव्य और उनके कविता-संबंधी वक्तव्यों से प्रमाणित मानता हूँ। पर अभी इसका उल्लेख विवाद उठाने के लिए नहीं, उनके काव्य के सबसे बड़े गुण की ओर संकेत करने के लिए कर रहा हूँ। मुक्तिबोध आत्मान्वेषण के कवि थे, पर यह आत्मान्वेषण अपनी किसी

विशिष्टता की खोज नहीं था, यह अपने उस रूप की खोज था जो कवि को पूरे समाज से, मानव मात्र से, मिला दे। कोई सोच सकता है कि कवि को आत्मान्वेषी कहना उसकी अवमानना करना है, पर मैं इसे कठिनतर यात्रा समझता हूँ और कवि मुक्तिबोध का विशेष सम्मान इसलिए करता हूँ कि वह आजीवन इस कृच्छ्र साधना में लगे रहे : अपने भीतर पैठना, पर पैठ कर उसे बाहर लाना जो अपना नहीं, सब का है। यह किसी के लिए भी कठिन कार्य है; मुक्तिबोध की परिस्थितियों में और भी कठिन था, पर वह निष्ठापूर्वक उसमें लगे रहे। 'आत्म-वक्तव्य' में उन्होंने लिखा था :

कुचले गये इरादों के बाक़ी बचे धड़
अधकटे पैरों ही से लात मार कर
अपने जैसे दूसरों के लिए
सब करते हैं दरवाज़े बंद....
अँधियाली गलियों में घूमता है
तड़के ही, रोज़ कोई मौत का पठान
माँगता है ज़िंदगी जीने का ब्याज;
अनजाना कर्ज़,
माँगता है, चुकारे में, प्राणों का मांस....

इन पंक्तियों की व्यथा से उनके संघर्ष का कुछ अनुमान हो सकता है। मेरी धारणा है कि उनका अन्वेषण सफल भी हुआ : वे अपने उस रूप को पहचान भी सके और दूसरों तक पहुँचा भी सके। इसका संतोष और विश्वास उनकी इधर की कविताओं की लंबाई और बिखराव के बावज़ूद उनमें झलकता है। वे हमारे बीच से असमय चले गये, पर यह सोच कर मुझे कुछ सांत्वना मिलती है कि वे कम से कम वहाँ तक पहुँच गये थे जहाँ कवि पूर्ण होता है। उस पूर्ण कवि का कृतित्व हम नहीं पाते रह सके, यह हमारा दुर्भाग्य है। पर उसकी उपलब्धि का स्पर्श हमें मिला है और मिलता रहेगा :

आत्मवत् हो जाय,
ऐसी जिस मनस्वी की मनीषा,
वह हमारा मित्र है,
माता-पिता पत्नी-सुहृद पीछे रहे हैं छूट
उन सब के अकेले अग्र में जो चल रहा है
वही तो आत्मा का मित्र है।

उस आत्मा के मित्र को, उस मित्र की आत्मा को मैं अपनी स्नेहांजलि अर्पित करता हूँ।

—'अज्ञेय',

डी १/२३ सत्य मार्ग, चाणक्यपुरी, नयी दिल्ली-१।

ज्योत्स्ना देवधर

●●

कहानी

आश्रित

मालूम नहीं कब, शायद कल ही, या शायद आज ही, या हो सकता है अभी ही, लेकिन मेरे आँखें खोलने से ज़रूर पहले ही धुँधली संध्या कमरे में प्रवेश कर चुकी थी। मालूम नहीं मैं कब होश में आयी थी लेकिन उदास शाम मुझसे पहले कमरे में आ चुकी थी। आँखें मैंने खोलीं तो लेकिन मुझे सब कुछ अपरिचित-सा लगा था। सामने की खिड़की बंद थी। खुले आकाश को देखने की अदम्य इच्छा उठी मन में, लेकिन खिड़की पर जैसे काँच नहीं, टिन लगा हो। सब कुछ धुँधला था, मैला था, बीमार था। कहीं भी ज़िंदगी का उच्छ्वास नहीं था। लगा जैसे मैं भी साँस नहीं ले रही हूँ। ज़ोर से साँस लेने का प्रयत्न किया तो सीने में ताज़ी हवा के लिए जगह ही नहीं थी शायद। खिड़की का परदा खिड़की से जिस तरह चिपका पड़ा था, वैसे ही मेरा सीना, मेरे फेफड़े एकदम सिमट कर मेरे शरीर से चिपके पड़े थे। मुँह का स्वाद कड़ुवा था, बेहद कड़ुवा। मुँह जैसे नरमाई, गिलाई के सूख जाने से रेगिस्तान बन गया था। जीभ पर रेत बिछी थी। मेरे नरम, रसीले होंठों पर किसी जानवर की खाल जम गयी थी।

मेरा मन उदास-उदास हो गया, ग्लानि से भर आया। थक कर मैंने आँखें बंद कर लीं।

"अभी-अभी तो आँखें खोली थीं, फिर से बंद कर लीं।"—पिता जी के शब्द सुदूर से कानों पर आ पड़े।

"आज सुबह, जब से होश में आयी है, यही हालत है। जागती है, थक कर सो जाती है।"—माँ ने मेरे रूखे बालों पर हाथ फेरते हुए कहा।

"भगवान की कृपा, नहीं तो दीपा हमें बस छोड़ कर ही चली थी।"—पिता जी की थकी, धीमी आवाज़ आयी।

आँखें खोल कर मैं बोली: "पानी. . . ."

"ग्लूकोज़ डाल कर दूध पिला दो थोड़ा-सा।"—पिता जी ने कहा।

माँ गयी और पिता जी माला जपने लगे।

अचानक मेरे कानों पर किसी की हँसी, किसी की खिलखिलाहट पड़ी। लगा, यह तो कोई दूसरी दुनिया है, जहाँ सब सुखी हैं, कोई बीमार नहीं, कोई दर्द से कराह नहीं रहा। वहाँ तो खुशियाँ मनायी जा रही हैं। साथ ही मिठाई की विशिष्ट खुशबू आयी। शायद कोई पूरियां तल रहा था। सारा वातावरण घी के सुगंध से भरा था। और अचानक अनेक दिनों की सोयी भूख जाग उठी। पीठ से चिपका पेट जैसे भक्ष्य ढूंढ़ने लगा। इस समय तो दुनिया की सारी मिठाई, सारी पूरियाँ मैं अकेली ही खा लेती।

माँ आयी। बड़ी आशा से मैंने मुंह खोला तो माँ ने दूध नहीं, ग्लूकोज़ मिला पानी मुंह में डाला। मैंने अपने होंठ भींच लिये। माँ का काँपता हाथ मुंह तक आ कर रुक गया। पानी की कुछ बूंदें मेरे गले पर पड़ीं। मैं बेहद चिढ़ उठी। माँ ने चम्मच कप में रख कर अपने पल्लू से मेरा गला पोंछा। मैंने नाराज़ हो कर गरदन मोड़ ली। सीने पर रखे मेरे हाथ पर माँ के आँसू टपक पड़े। उन बूंदों को किसी ने नहीं पोंछा।

हम तीनों चुप थे कि फिर एक बार हँसी की गूंज से सारा घर भर गया।

माँ अपने आप को न बचा सकी। फूट-फूट कर रो पड़ी। पिता जी की ओर मुड़ कर बोली: "सुन रहे हो हँसी? मेवा-मिठाई बनायी जा रही है। दिवाली मनाएंगे। जानते हो, मेरी बेटी पूरे दो सप्ताह के बाद होश में आयी है। और तुम्हारे बेटे, बहुएँ, तुम्हारी भावज, भाई, भतीजे, सब दिवाली मना रहे हैं। हँस रहे हैं। मेरी दीपू के लिए दूध नहीं है और वहाँ मिठाइयां बन रही हैं। भगवान, यह सब देखने के पहले मैं ही क्यों न मर गयी!"

पिता जी उठे। माँ के पास आ कर बोले: "चुप हो जाओ, सुशीला। दीपा बहुत थक गयी है। तुम रोओगी तो उसे फिर से बुखार हो आएगा।"

मुड़ते हुए पिता जी बोले: "दीपा, अपनी माँ-सी सहनशील है, समझदार है।"

माँ ने आँखें पोंछ लीं। वे मेरे शरीर पर हाथ फेरती रहीं।

मेरी हड्डियों का ढाँचा दुखने लगा था। लगा, उठ कर चलने लगूं तो एक-एक हड्डी बिखर जायगी। माँ का वाक्य मैं मन ही मन दोहरा रही थी, मर जाती तो कितना अच्छा होता। मेरा यहाँ कोई नहीं।"

और अचानक मुझे श्यामू की याद आयी।

"माँ, श्यामू नहीं दीख रहा?"—मैंने पूछा।

"जमाई बाबू आये थे। तुम्हारी सेहत एकदम बिगड़ गयी, हाथ की नाड़ी छूट गयी थी, तब उन्हें तार दे कर बुलाया था। आठ दिन रहे बेचारे। छुट्टी नहीं थी। चले जाना पड़ा। बेटी, नौकरी तो नहीं छोड़ी जा सकती। जाते समय श्यामू को लेते गये। दीपू, उस बच्चे की यहाँ देखभाल कौन करता? तुम्हारी बीमारी ने मेरी तो कमर ही तोड़ डाली। तुम्हारी जेठानी से हिला हुआ है, वे ले गये उसे अपने साथ।"—माँ ने कहा।

"आज सुबह तार दे दिया है कि तुम होश में आ गयी हो और अब ठीक हो, छुट्टी मिल गयी तो शायद आ भी जाएँ।"—पिता जी बोले।

मेरी आँखों से आँसुओं की धारा फूट पड़ी। एकदम एकाकी, अनाथ, बेसहारा अनुभव किया मैंने अपने को। मेरे जीने-मरने का किसी को सुख-दुख नहीं हैं। माँ और पिता जी भी सफ़ाई दे रहे हैं। व्यर्थ है सब, झूठ है सब। बस सच यही है कि मेरी किसी को परवाह नहीं, माया, ममता, स्नेह नहीं। मर जाती तो कोई रोता तक नहीं। नौकरी बड़ी थी, मैं नगण्य ! दूसरी बीवी मिलना आसान है, दूसरी नौकरी मिलना आसान नहीं। गये, और मेरे बेटे को भी साथ ले गये। वाह ! मर जाती तो मेरी चिता में आग कौन देता ? जाओ, सब चले जाओ और जा कर हँसो, मिठाइयाँ खाओ, गुलछर्रे उड़ाओ।

. . . .और मैं फूट-फूट कर रोने लगी। माँ और पिता जी घबरा उठे। माँ तो चिल्ला उठी : "रमेश. . . .रमेश. . . ."

रमेश भैया आये। बदन पर सिल्क का कुरता था। नयी धोती थी। मैंने आँखें भींच लीं।

"जाओ रमेश, डाक्टर को बुला लाओ। दीपा की हालत ठीक नहीं है।"

रमेश भैया बगलें झाँकने लगे। बोले : "इस समय तो डाक्टर मिलना मुश्किल ही है। कल सुबह बुलवा लूँगा।"

सुना और मेरा स्वाभिमान चोट खा कर जाग उठा। मैं एक ग़रीब की बीवी हूँ, इसलिए मुझसे इतनी रुखाई की जा रही है। अब पिता जी भी भैया के आश्रित बने बैठे हैं। डाक्टर को देने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं, इसलिए आनाकानी की जा रही है। बोली : "भैया, मैं एकदम ठीक हूँ। डाक्टर की कोई आवश्यकता नहीं।"

मुझे अपने आप पर अचरज हो रहा था। यह तो मेरी हमेशा की तेज़ आवाज़ थी। कहीं भी तो कोई बीमारी के थकान के लक्षण नहीं थे।

भैया चले गये।

माँ की ओर मुड़ कर मैंने कहा : "माँ, मैं अच्छी हूँ, एकदम अच्छी। चार दिन बाद ससुराल चली जाऊँगी।"

कम से कम दो महीने तो मुझे पलंग से उतरते लग जाएँगे, यह बात मुझे महसूस हो रही थी, माँ को भी मालूम थी। लेकिन मैंने कहा और माँ ने भी उत्तर दिया : "हाँ बेटी, जरूर जाना। अपने घर जल्द चली जाना।"

कमरे में अँधेरा प्रत्येक क्षण बढ़ता जा रहा था। हम तीनों चुप थे। पिता जी माला फेर रहे थे। बस उसी की हल्की-सी आवाज़ अचानक आ जाती और कुछ नहीं। अंधेरा भी अनबोला बढ़ता जा रहा था।

कोई आया, धीरे-से आया। आहट पा कर हम तीनों ने उस ओर देखा। कोई स्त्री थी। पिता जी उठ कर बाहर चले गये। माँ ने बत्ती जलायी।

काली, ठिगनी, दुबली-पतली इस बदसूरत औरत को देख कर मेरा जी अधिक उदास हो गया। लगा, दुनिया का सारा अशुभ इस कमरे में इकट्ठा हो गया है। भूख तो कब की मर चुकी थी। मुँह और भी कड़वा हो गया।

"इन्हें तीरथ देने आयी हूँ . . .और पूजा का प्रसाद भी।"––उस औरत ने कहा। मुझे लगा कि किसी ने गाना गुनगुनाया। बेहद मीठी आवाज़ थी उसकी।

"प्रसाद तो क्या खाएगी बेचारी, आज ही होश में आयी है। हाँ, तीरथ मुँह में डाल दो।" ––इतना कह कर माँ भी कमरे से बाहर चली गयीं।"

वह स्त्री मेरे पास आयी। अपना काला, आकारहीन हाथ बढ़ाते हुए बोली: "तीरथ लायी हूँ।"

लेकिन मेरी आँखों में परिचय न पा कर वह संकोचवश वैसे ही खड़ी रही।

कुछ क्षण मौन बीता। मैं उसकी ओर एकदम देख रही थी। बदन पर पुरानी, फटी साड़ी थी। ब्लाउज़ के रंग का पता नहीं चल रहा था। शरीर पर कोई गहना नहीं था। हाथों में काँच की चूड़ियाँ थीं। गले में मंगलसूत्र। बस। मोटी, छोटी-छोटी उँगलियों में अँगूठी नहीं थी।

काफ़ी कोशिश की, लेकिन मैं उसे पहचान न सकी।

"मैं लक्ष्मी,"—आखिर वह बेचारी अपना परिचय देते हुए बोली।

कालचक्र ज़ोर से घूमा और पांडुरंग की दुबली-पतली, साँवली आकृति मेरी आँखों के सामने स्पष्ट हो उठी। अपने बचपन में मैं जिसके साथ खेलती थी, वह पांडुरंग,—हमारे घर का आश्रित, ठाकुर जी की पूजा करने वाला पुजारी। पिता जी ने अपने वैभव-काल में अनेकों को आश्रय दिया था। कितने ही ग़रीब विद्यार्थी भोजन करने के लिए हमारे यहाँ आते थे। पांडु-रंग को भी पिता जी ने मैट्रिक तक पढ़ाया, उसे नौकरी दिलवा दी। उसकी शादी में हर तरह की मदद की। उसी पांडुरंग की यह पत्नी है—लक्ष्मी।

मेरी आँखों में परिचय पा कर वह हँसी। हँसी निर्मल थी, बच्चों-सी निष्कपट, भोली।

"मनौती थी . . . .पूजा की . . . .आज ही . . . .तीरथ लायी हूँ।"—अटपटे टूटे शब्दों में वह बोली।

"कैसी मनौती ? माँ बनने जा रही हो ?"—न जाने क्यों चुभती आवाज़ में मैंने पूछा।

उसकी छोटी-छोटी आँखों में पानी भर आया। बोली: "नहीं दीदी, अभी तक गोद खाली है, शायद जन्म भर खाली ही रहेगी।"

मैं लज्जित थी। इस बीमारी ने मेरा शरीर खा डाला था, और मेरा शांत, प्रसन्न स्वभाव भी शायद।

मैंने मुँह खोला। बड़े जतन के साथ लक्ष्मी ने मेरे मुँह में तीरथ डाला।

"इन्होंने मृत्युंजय का पाठ किया था। पिछले कई दिनों से एकभुक्त हैं।"

"लक्ष्मी, इतना कड़ा अनुष्ठान क्यों ? पेट में गर्भ नहीं टिक पाता तो डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। ऐसी बातों में विज्ञान का आधार अधिक लेना चाहिए, धर्म का कम।"

लक्ष्मी ने अपने मोटे-से होंठ भींच लिये। उसके काले चेहरे पर तिरस्कार की घटा घिर आयी। क्षण भर रुक कर बोली:

"मैं जाती हूँ। खाना-वाना निबटना है। वे थक गये हैं। एकदम दुबला गये हैं।"

उसकी नाराज़गी देख कर अचानक मेरे मन में उसके प्रति स्नेह उमड़ आया। उसके हाथ को छू कर पूछ बैठी :

"लक्ष्मी, तुमने भी व्रत रखा था? तुम भी एकभुक्त थीं?"

"हाँ, अनुष्ठान उन्होंने किया था। उपवास दोनों ने किया।"

"लक्ष्मी, आख़िर बात क्या है? अनुष्ठान अकेले का, व्रत दोनों का, और तीरथ मुझे, तीसरे को?"

"हाँ, क्योंकि सब आपके लिए था।"

"मेरे लिए?"—मैंने चकरा कर पूछा।

"हाँ दीदी, आप काफ़ी बीमार थीं। बेहोश थीं। पता चला, तभी से उन्होंने मृत्युंजय का जप-तप शुरू किया। आज आप होश में आयीं तो पूजा की। तीरथ और प्रसाद आपको देने के बाद ही भोजन करने का निश्चय था।"

"लक्ष्मी, मुझे माफ़ कर दो।"—स्नेह और प्यार के बोझ से मैं दब गयी थी। मुझे हिचकी बँध गयी।

"दीदी, तुम्हारे इस निष्कपट स्वभाव पर ही वे तुम्हें इतना मानते हैं, तुम पर मुग्ध हैं!" —मेरे घुटने पर अपना हाथ फेरते हुए लक्ष्मी बोली।

मैंने अपना हाथ बढ़ा कर उसकी गोद में रख दिया। मेरा गोरा-गोरा दुबला-पतला हाथ उसकी फटी पुरानी साड़ी से स्नेह माँग रहा था, प्यार-दुलार, अपनत्व माँग रहा था। अचानक लगा, यह मेरा हाथ नहीं, उसकी फटी साड़ी से उसका असली रंग दीख रहा था। सफ़ेद, स्वच्छ, सश्रद्ध मन दीख रहा था।

मेरा हाथ अपने छोटे-छोटे आकारहीन हाथों में ले कर हौले से दबाते हुए वह बोली : "दीदी, कितनी मुलायम हो तुम! रेशमी साड़ी-सी!"

लक्ष्मी अपना अपमान भूल चुकी थी। वह नाराज़ नहीं थी। मेरी दुष्ट चोट वह पी गयी थी। इस कुरूप नारी के मन के इस दैवी रूप के सामने मैं नतमस्तक हो उठी। अपने प्रति ग्लानि से मेरा मन भर आया, साथ-साथ आँखें भी।

"रोओ मत दीदी! उन्हें कहूँगी तो वे रो पड़ेंगे। इन दिनों एकदम थक गये हैं। दुबला गये हैं। दीदी, वे बीमार पड़ गये तो मैं गरीब कहाँ जाऊँगी, क्या करूँगी?"

"लक्ष्मी, पांडुरंग खुद क्यों नहीं आया?"

अनजाने में फिर से चोट कर बैठी। बोल जाने के बाद पता चला।

लक्ष्मी चुप थी। उसके हाथ को धीरे दबाते हुए मैं बोली :

"कहने का मतलब है कि लक्ष्मी, तुम दोनों आते तो और भी अच्छा होता।"

"हाँ, मैंने आग्रह किया लेकिन उनका आना आपको अच्छा न लगे शायद, इस डर से आये नहीं।

"वाह यह भी कोई बात है!"

लेकिन मैं झूठ बोली थी। कई साल हो गये, मैंने उसकी पूछ-ताछ न की थी। उसकी

शादी में शरीक़ होने का उसका बड़ा विनीत पत्र आया था, लेकिन मैं अपनी गृहस्थी में व्यस्त थी। बहाना बना कर गयी नहीं, न उसे कोई उपहार ही भेजा था। पत्र भी लिखा तो पिता जी को, उसे नहीं। सचमुच, मेरे जीवन में उसे कहीं भी तो कोई स्थान नहीं था।

लक्ष्मी शायद सारी बातों से परिचित थी। बोली : "दीदी, आप बड़े लोग हैं, हम गरीब। उन्होंने आपके घर का नमक खाया है। आप लोगों ने उन्हें आश्रय दिया, आप ही उनके सब नाते-रिश्ते हैं। आपकी बीमारी के बारे में सुना और होश-हवाश खो बैठे। घंटों ठाकुर जी के सामने पड़े रोते रहते, गिड़गिड़ा कर कहते : "भगवन, मेरी उम्र दीपा को लग जाए, उसे ठीक कर दो, चाहे तो मुझे उठा लो. . . ."

——कहते-कहते लक्ष्मी रो पड़ी।

"और लक्ष्मी, तुम ? तुम्हारे मन में क्रोध या द्वेष नहीं सुलग उठा ? तुमने अपने पति का तिरस्कार नहीं किया ?"

झट से मेरे होंठो पर अपना हाथ रखते हुए बोली : "चुप करो, बहन ! उनका तिरस्कार करूँ और नरक में जा पड़ूँ !"

यह पतिभक्ति, निष्ठा, श्रद्धा मुझ-जैसी आज की नारी के लिए एकदम नयी थी। लगा, लक्ष्मी ने यह विश्वास कहाँ से पाया ! यह अनोखी शक्ति, यह दैवी गुण इस कुरूप, दुबली-पतली नारी में कहाँ छुपे पड़े हैं ! भगवन ! लाख-लाख शुक्र है, मैं बच गयी। लक्ष्मी के लिए मुझे बचना ही पड़ा। भगवन, इस नारी के मंगलसूत्र के तेज से तुम भी डर गये ! दीपा के प्राण तुम उठा न पाये !

"लक्ष्मी, पांडुरंग से कहना, मैंने उसे बुलाया है। उसे कहना, लक्ष्मी, कि उसके पैरों की धूलि माथे पर चढ़ाये बिना मैं इस बिस्तर से उठ नहीं सकती। लक्ष्मी मैं बहुत-बहुत थक गयी हूँ और बहुत जल्द ससुराल जाना चाहती हूँ। कल सुबह ही पांडुरंग को भेज देना।"

वह उठी, मेरे थके मस्तक पर अपना हाथ फेरते हुए बोली : "जुग-जुग जिओ बहना, सुख से जिओ।"

"हाँ, लक्ष्मी, सुख से जिऊँगी, तुम-जैसी पतिव्रता का आशीर्वाद झूठ नहीं होता।"

"ना दीदी, ना, मैं खुद आशीर्वाद माँग रही हूँ। आप सुखी रहेंगी तो वे भी खुश रहेंगे, और उनकी खुशी ही मेरा सुख-सौभाग्य है।"

लक्ष्मी चली गयी। लगा, कहूँ : "लक्ष्मी, रुको, पहले तुम्हारी पदधूलि उठा लूं।"

लेकिन वह चली गयी थी।

——८५०१२ 'शीतल',
शिवाजी नगर, पुणे-४।

• •

गंगाप्रसाद पांडेय

काव्य में गीत-तत्व की सनातनता

रागात्मक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति मानव की ही नहीं, जीव-मात्र की जीवन-सहचरी है। प्रभात की स्निग्ध स्वर्णिम किरण का स्पर्श पाते ही चिड़ियाँ आनंद-विभोर हो कर चहकने तथा फुदकने लगती हैं। बादलों को घुमड़ते-घिरते देख कर मस्त मोर नाचने-कूदने लगते हैं। आम्र-मंजरियों के नवांकुरों को देखते ही कोकिल का गान मुखरित हो उठता है। कोकिल, मोर आदि पक्षियों के गान और नृत्य जब स्वतःसिद्ध हैं, तब सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मानव के नृत्य-गान की सहजता में संदेह का अवकाश ही नहीं रह जाता। मनुष्य ने भी अपने रागात्मक भावों का प्रथम प्रकाशन ध्वनि एवं अंग-भंगिमा के ही माध्यम से किया होगा। वस्तुतः उसकी यह अभिव्यक्ति प्राकृतिक है। प्रकृत्या मूल गायक होने के नाते ही मनुष्य पशु-पक्षियों की वाणी से स्वरों के स्वरूप और संगीत के विधान की व्यवस्था करने में सफल हुआ होगा, ऐसा अनुमान स्वाभाविक है।

यों तो मनुष्य के बाह्य और अंतर्जगत से संबद्ध अनुभूतियों की विविधता-विचित्रता तथा उनकी सघन जटिलता की स्पष्ट बोधगम्यता के लिए कोई भी स्थूल माध्यम कभी पूर्णतया सफल और सक्षम नहीं हो सकता—सर्वोत्तम माध्यम भाषा भी नहीं, क्योंकि वह स्वयं भी भाव-व्यंजना का उपकरण मात्र ही तो है? वस्तुतः किसी भी अनुभूति की शब्दबद्ध अभिव्यक्ति मूल अनुभूति का प्रतिबिंब ही उपस्थित कर सकती है। वास्तव में सार्थक से सार्थक शब्द-रूप भी मूलानुभूति का छाया-रूप ही हो सकता है, सच्चा स्वरूप नहीं। फिर भी अन्य माध्यमों की अपेक्षा वाणी के द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति अधिक स्थायित्व रखती है, यह भी निश्चित है।

मानव की आदि उपलब्ध वाणी वेद है। वेद में भाव-प्रकाशन की आदि विधा गीतों का आधिक्य है। इसीलिए वेदों का एक नाम छंद भी है। वेद मंत्रद्रष्टा कवियों के गीत हैं। सामवेद वैदिक गीत-विकास का वह रूप उपस्थित करता है जिसके अनुसार सामगान प्रत्येक आत्मा में

परिव्याप्त माना गया है। भगवान कृष्ण ने अपने को वेदों में सामवेद बताया है, अप्रत्यक्ष रूप से यह गीतों की ही महत्ता का प्रतिपादन है।

वैदिक युग सामूहिक संस्कृति का युग था। उस युग के आनंद-विषाद भी सामाजिक थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति भी सामूहिक थी। आशय यह कि वाद्ययंत्रों के साथ वेदों के सामूहिक गान का विधान था। इससे स्पष्ट है कि वैदिक गीतों के पहले मौखिक रूप से गाये जाने वाले लोकगीतों की कोई न कोई परंपरा अवश्य ही रही होगी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

स्वयं वैदिक काल में भी गान के दो प्रमुख प्रकारों का प्रचलन था—एक ग्रामगान और दूसरा अरण्यगान। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रामगान लोकगीतों से संबंधित था, क्योंकि इसके द्वारा सामूहिक रागात्मिका वृत्ति के उद्रेक का ही प्रयत्न किया जाता था। अरण्यगान में वैयक्तिक चेतना के उन्मेष का प्रयत्न पाया जाता है। जब वैदिक कवि यह गीत गाता है : **"गीर्भिर्वरुण सीमहि"** (=हे मेरे वरणीय ! मैं गीत से तुम्हें बाँधता हूँ) तब उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक नहीं, व्यक्तिगत ही कही जायगी। आगे वह कहता है :

सेमं नः स्तोमया गह्युपेदं सवनं सुतम् ।
गौरो न तृषितः पिब।

(=प्यासा गौर मृग जैसे जलाशय से जल पीता है, वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय हो कर तृप्ति का अनुभव करो।) यत्र-तत्र ऐसी वैयक्तिक उद्भावनाओं के अतिरिक्त वेदों में भाव-प्रकाशन गौण तथा विचार अथवा तत्व-प्रकाशन ही प्रमुख है।

वेदों के पश्चात विरचित काव्य वाल्मीकीय रामायण की आधारशिला ही गीत-तत्व है। क्रौंच-वध-कातर क्रौंची के करुण क्रंदन के कारण आदिकवि की विगलित करुणा अनुष्टुप गीत में फूट पड़ी :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

नरमेध, गोमेध तथा अश्वमेध आदि की सामूहिक स्वीकृति और बहिर्दर्शन की मान्यता के बीच आदि कवि के हृदय में क्षुद्र दीन क्रौंची की क्रंदन-ध्वनि का प्रवेश वैयक्तिक भावोन्मेष और अंतर्दर्शन की प्राणप्रतिष्ठा का प्रमाण है। कवि का न केवल विद्रोह वरन विश्वास भी अटल है :

पाद-बद्ध समान अक्षर तंत्र-गेय-समर्थ,
श्लोक यह, शोकार्त उर का हो न सकता व्यर्थ।

विशेषता यह है कि गीत-रचना के साथ ही कवि ने गीत की परिभाषा भी स्पष्ट कर दी है। हृदय के उल्लास अथवा विषाद की तीव्रानुभूति की अभिव्यक्ति ही गीत का प्रमुख लक्षण है। इस प्रकार रामायण में यद्यपि गीत-तत्व प्रचुरता से पाया जाता है, तो भी उसे गीति काव्य

की संज्ञा नहीं दी जा सकती। गीत तथा आख्यान का मिश्रण होने के कारण गीत की आत्म-निष्ठता का इसमें अभाव है।

कालक्रम से गीतों का विकास होता रहा और उनकी दो धाराएँ स्पष्ट हो चलीं—एक का विकास संगीत के शास्त्रीय विधान के साथ हुआ और दूसरी का भावप्राण काव्य के रूप में।

दुखवादी बौद्धों ने वैदिक अवैयक्तिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता पर बल दिया। निवृत्ति-मार्गी होने के कारण संगीत के प्रति भी उनमें सहज विराग पाया जाता है, किंतु वैयक्तिक चेतना तथा भावोन्मेष से पूर्ण आत्मनिष्ठा से संवद्ध गीतों का अस्तित्व थेर और थेरी गाथाओं में अक्षुण्ण है। गीतों में वैराग्य-जनित वैयक्तिक भावना का उद्रेक इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है।

संस्कृत महाकाव्यों के लक्षण इस प्रकार बनाये गये कि उनमें गीतों का प्रवेश ही कठिन हो गया। वाल्मीकि की तरह कालिदास ने भी विद्रोह किया और अत्यंत क्षीण कथा-काया में अपनी रागात्मक अनुभूति का आवेश भर कर 'मेघदूत' की रचना की, जिसे गीतिकाव्य का गौरव दिया जाने लगा। अपनी भाव-विभोर अवस्था में यह सारे संसार को भाव-विह्वल समझ कर मानव-हृदय के सुख-दुखात्मक भावों की तन्मय अभिव्यक्ति करता है। जब वह कहता है :

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामिकर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यतेमे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

तब पाषाण से भी पाषाण हृदय रो उठता है और यक्ष के साथ सहसा तादात्म्य का अनु-भव करने लगता है। गीतिकाव्य की यही विशेषता होती है। फिर भी गीत की पूर्णता का श्रेय 'मेघदूत' को नहीं मिल सकता, क्योंकि कथा का परायापन बीच-बीच में व्यवधान उपस्थित करता चलता है। यों मेघदूत में गीतितत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

कालिदास के पश्चात जयदेव का 'गीतगोविंद' आता है। इसे भी साधारणतया गीति-काव्य माना जाता है, पर संगीत-निर्वाह और वर्णन का आग्रह इसमें इतना अधिक है कि विशुद्ध आत्मानुभूति की अभिव्यंजना खंडित हो जाती है। नाटकीय दृश्यों का समावेश और वर्णन का इतिवृत्तात्मक मोह गीतिकाव्य में अपेक्षित काव्यत्व के खर्व का कारण सिद्ध होता है। पंडित राजजगन्नाथ में गीतिकाव्यत्व का अधिक उन्मेष दिखायी पड़ता है। 'गीतगोविंद' में छंदबद्ध काव्य की गेयता का आधिक्य अवश्य ही सर्वाधिक पाया जाता है।

हिंदी साहित्य के प्रारंभ काल से ही वीर प्रबंधकाव्य और वीरगीतों (बैलेड्ज़) की परंपरा पायी जाती है। प्रबंधकाव्यों के बीच में भी गीतों को उचित अधिकार मिलता रहा है। परंतु वीरगीत भी गाथाओं का आधार ले कर ही चलते रहे हैं, इसलिए गीततत्व के संगीत और काव्यत्व दोनों का अस्तित्व इनमें संरक्षित है। वीरकाव्य के मूल विषय युद्ध और प्रेम में से

केवल प्रेम को ले कर गीत-रचना का सूत्रपात विद्यापति ने किया। वस्तुतः विद्यापति को हिंदी का प्रथम गीतकार मानना चाहिए।

गीतकाव्य में वस्तुतत्व का उतना महत्व नहीं, जितना भावातिरेक की अभिव्यक्ति का है, क्योंकि भावतत्व ही गीत की आत्मा है। विद्यापति ने अपने गीतों में संगीतात्मक काव्य-विधान से दूर हट कर आत्मीयता, आत्मनिष्ठा तथा संवेदनशीलता की प्रतिष्ठा की, पर माध्यम की पौराणिकता के कारण अंतर्दशा की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति में उन्हें भी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। स्वभावतः भाव और संगीत, विषय और विधान की अन्विति का उनमें भी अभाव है। फिर भी गीतों की काव्योचित स्वतंत्र परंपरा का विकास विद्यापति के गीतों से ही होता है, क्योंकि गीतों के प्राणाधार तत्व रागात्मक आवेश की आकुल अभिव्यक्ति विद्यापति के गीतों में बहुलता से पायी जाती है। वैष्णव श्रृंगार के मूल में निहित मानवीय सौंदर्य-बोध का यह आग्रह गीत-वृत्ति के प्रकाशन में अनन्य सहायक सिद्ध हुआ, इसमें संदेह नहीं।

सूर का 'सूरसागर' जयदेव और विद्यापति के गीतों का ही विकसित रूप जान पड़ता है। यद्यपि सूर ने भी राधाकृष्ण को आलंबन बनाया है, तथापि स्वानुभूतिपरक आत्माभिव्यंजना का उनमें आधिक्य है। इनके गीतों की तीव्रता, मार्मिकता और विदग्धता माध्यम को दवा कर वैयक्तिकता को उभारने में सक्षम है। गोस्वामी तुलसीदास के गीतों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि लोकसंग्रही मनोवृत्ति के कारण वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति का आग्रह उनमें नहीं के बराबर है।

कबीर की स्थिति इन दोनों के बीच की है। सूर-तुलसी की कलात्मक निपुणता और साहित्यिकता उनमें कम है, किंतु रागात्मक अनुभूति की तीव्रता और भावावेश दोनों से अधिक है। कबीर की धार्मिक भावना के भीतर उसकी वैयक्तिक मार्मिकता वंशी में स्वरग्राम की भाँति अंतर्निहित है। उनके गीत प्रायः वैयक्तिक विरह-मिलन, हास-रुदन, सुख-दुख के संवेश से संचरित जान पड़ते हैं :

साँई बिन दरद करेजो होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया कासे कहूँ दुख रोय।।
आधी रतियाँ पिछले पहरवाँ साँई बिना तरस तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनाँ भाई प्यारे साँई मिले सुख होय।।

इस गीत में संगीत और अनुभूति का समान प्रभाव स्पष्ट है। भावना का सामाजिक आधार वैयक्तिकता से आच्छादित है। मीराँ के गीत निश्चय ही भावतन्मयता और रागरंजना में कबीर से भी आगे हैं। मीराँ के गीतों में कृष्णोन्मुखता और संगीतात्मकता केवल भावोन्मेष की सहायक मात्र है, प्रमुखता मूल वैयक्तिक भाव की ही पायी जाती है। संभवतः इसीलिए महादेवी जी ने कहा है: **"मीराँ की व्यथासिक्त पदावली तो सारे गीत-जगत की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।"** वास्तव में मीराँ के गीतों का सौंदर्य उपासना-पद्धति और संगीत में नहीं, वरन भावात्मकता में है।

रीतिकाल में गीत छंद-विधान और चमत्कार-प्रदर्शन की अधिकता ने गीति काव्य का विकास रोक-सा दिया और कविता एक बँधी परिपाटी में कावा काटने लगी। अलंकारों के उदाहरण उपस्थित करने की झक में कवियों की स्वतंत्र भाव-चेतना मंद हो गयी। फलस्वरूप भाव-प्रवण गीतरचना से यह युग प्रायः सर्वथा वंचित रह गया।

इस अधःपतन के पश्चात आधुनिक काल के वैतालिक भारतेंदु का उदय हुआ। मनोभावों की पुनःप्रतिष्ठा में भारतेंदु के गीतों का महत्व निश्चित है, परंतु काव्य की दृष्टि से किसी नवीन उन्मेष का परिचय इनमें नहीं मिलता। उनके गीत प्रायः भाव-प्रसार में जितने सचेष्ट हैं, संगीत की रक्षा में भी उतने ही सजग।

द्विवेदी-युग में भाषा-परिवर्तन और सामाजिक सुधारों की नैतिकता का आग्रह इतना कठोर रहा कि कोमलप्राण गीतों की रचना का प्रश्न ही सामने नहीं आया। जो गीत-सृष्टि हुई भी, वह विषय-विचार की प्रधानता से इतनी बोझिल है कि उसमें मुक्त भाव-संचरण का अवकाश नहीं है।

वास्तव में छायावाद गीतों की पूर्ण प्राण-प्रतिष्ठा का युग है। पिछली गीत-परंपरा में भावानुकूल संगीत की योजना अनिवार्य मानी जाती थी और परिणामतः रसों के अनुकूल छंद-विधान ही स्वीकृत था। छायावाद ने इस परंपरा को छोड़ कर शब्दों में अंतर्निहित संगीत उभार कर अनुभूति की अभिव्यंजना के साथ संयोजित कर दिया। इस स्थिति में काव्य का संगीत-विधान काव्य-विधान के अंतर्गत समाहित हो जाता है। इसी कारण छायावादी गीतों में संगीत स्थापित या आरोपित नहीं, स्वयं भावावेग के भीतर का ध्वन्यात्मक प्रवाह मात्र है। गीति-काव्य की यही चरम परिणति और उसके विकास की उच्चतम सीमा है।

सामाजिक और भौतिक विज्ञान जिस प्रकार हमारी चेतना को नयी दिशा और विस्तार देता है, उसी प्रकार हमारा भाव-विज्ञान (साहित्य) हमारी भावना को गहराई और सघनता। हमारा भाव-जगत, हमारे सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, मिलन-विरह और उद्वेग-उल्लास से जितना संलग्न है, उतना जीवन-जगत की बौद्धिक स्थितियों से नहीं। इसीलिए काव्य का प्रमुख निकष अनुभूति की गहराई, व्यापकता और उसकी अभिनवता ही मानी जाती है। काव्य अभिव्यक्ति-अनुभूति के, विषयवस्तु के सौंदर्य के साथ उसकी विषयातीत आत्मा का आभास भी देता चलता है, और यही उसकी चरम सफलता भी है। इस दृष्टि से छायावाद ने जीवन और जगत में बिखरे सौंदर्य और उसकी आत्मा—प्रेमवृत्ति—की आनंदाभिव्यक्ति में जो सफलता एवं कुशलता प्राप्त की है, वह हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है।

काव्य के ऐतिहासिक आलोक में संचरण करते हुए जब हम छायायुग की सीमा का स्पर्श करते हैं तब उसकी आत्मीयता से हमारा मन प्रसन्न और प्राण पुलकित हो उठते हैं। इतिहास में प्रथम बार इस युग के कवि ने धर्म, राधा, 'कन्हाई-सुमिरन के बहाने' तथा 'स्वामिनः रंजनार्थं' के कृत्रिम प्रचलित माध्यमों को छोड़ कर अपने आत्मस्थ भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार सीधे और स्वाभाविक तन्मयता के साथ की कि उसके साथ सहज तादात्म्य की अनुभूति और अनन्य आत्मीयता का भाव सबका सहसा अपना हो उठा। कवि की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है।

रागात्मक अनुभूति से समन्वित होने के कारण हमारी वृत्तियों का नितांत निर्वैयक्तिक होना कठिन है। इस आवरण को उतार फेंकने के कारण छायावाद में वैयक्तिक भाव-वृत्तियों का संक्रमण स्वाभाविक ही कहा जाएगा। संभवतः इसीलिए छायावाद में गीत-तत्व का प्राधान्य है। बराबर महादेवी जी के शब्दों में : **"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"** ऐसे गीतों का जो स्वाभाविक स्वरूप छायावाद में उपलब्ध होता है, वह अन्यतम है। रागात्मक अनुभूति और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति से पूर्ण छायावाद का गीति-वैभव काव्य, संगीत और चित्र की संतुलित एवं एकान्वित स्थिति को रक्षात्मक विन्यास देने में पूर्णतया सफल और सार्थक है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका सौंदर्य तथा प्रभाव संगीत में नहीं, इनकी भाव-तन्मयता में निहित रहता है।

इस युग की गीत-चेतना संगीत का सहयोग केवल लय-प्रसार और भाव-विस्तार के भीतर वांछित अनुभूति की प्रतिष्ठा के लिए ही स्वीकार करती है। इसी कारण संगीत की कसौटी पर चाहे ये गीत खरे न भी उतरें, पर भाव-बोध और अर्थ-विधान के अनुरूप बिंब-निर्माण की महिमा से मंडित हैं। अंतरानुभूति की अभिव्यक्ति ही इनका चरम साध्य है, जो गीत का प्रमुख प्राण-प्रवेश है। इन गीतों के प्रभाव-प्रेषण के लिए किसी वाद्य यंत्र की आवश्यकता नहीं। इनकी आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति के द्वारा इनमें अतर्निहित संगीत स्वतः मुखरित हो उठता है। आशय यह कि संगीत इन गीतों का आत्मज है, अलंकरण या उपकरण नहीं। रसात्मक तथा रागात्मक अनुभूति की प्रधानता ही इनका परम सौंदर्य है।

गीतकार की तीव्र भावना अनुभूति की प्रकृति-अभिव्यक्ति के स्वरूप को अपने साँचे में ढाल कर इस प्रकार उपस्थित होती है जिसमें गीतों की बाह्य एकरूपता के भीतर विविधता का ऐसा अनुबंध रहता है कि भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों के स्पंदन को झंकृत करने में समर्थ होता है। मानव-जीवन में सामान्यतः और कवि-जीवन में विशेषतः अंतश्चेतना और अंतर्वृत्ति का प्रभाव अनिवार्य रहता है, क्योंकि मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया में सामाजिक आधार रखते हुए भी वैयक्तिक ही होती हैं। सहसा प्रदीप्त हो उठने वाले अनुभूत क्षणों के संवेदनशील आवेश से अनुप्राणित हो कर ही मनुष्य की अंतर्वृत्तियाँ जीवंत रहती हैं और गीत में गीतकार इन्हीं वृत्तियों की अभिव्यक्ति करता है। संस्कार रूप में स्थित वासना का आस्वादन भी स्वानुभूति के आधार पर ही संभव है, अन्यथा नहीं।

काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रेणियों के बीच में गीति-मुक्तक एक सजल-कोमल मेघखंड है, जो न उनसे दब कर टूटता है और न बँध कर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंग-स्नात हो कर ऊँची चोटियों का श्रृंगार कर आता है और हर झोंके पर उड़-उड़ कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पंदन पहुँचाता है। संभवतः इसीलिए गीत को काव्य का सौंदर्य या श्रृंगार भी कहा गया है। छायावाद गीतों की दृष्टि से गीति-काव्य का मणिमुकुट है, इसमें संदेह नहीं।

आज की कविता में गीत-तत्व के प्रति एक प्रतिक्रिया का प्रचलन पुनः दिखायी पड़ता है। स्वर, ताल तथा लय की संगति का विरोध काव्य को गद्य के साँचें में ढालने के लिए उत्सुक है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गद्य में प्रभाव की जितनी मात्रा रहती है उतनी प्रवाह की नहीं, इसीलिए काव्य का कार्य प्रभाव और प्रवाह दोनों की साधना है। गति एवं संचलन के भीतर समता की रक्षा का विधान ही लय है, जो विश्व की प्रत्येक नैसर्गिक प्रक्रिया के भीतर सन्निहित है। अतः लय ही गति है और गति ही जीवन। वस्तुतः जीवन की अभिव्यक्ति में लय का नितांत अभाव मृत्यु-पूजा के अतिरिक्त और कुछ नहीं, यह निर्विवाद है। गीति-सृष्टि की शाश्वता का यह स्वर-संधान स्मरणीय है :

घिरती रहे रात।
न पथ रुँधती ये गहनतम शिलाएँ,
न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशाएँ,
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर बात।
घिरती रहे रात।

(महादेवी)

--साहित्यकार संसद,
रसूलाबाद, इलाहाबाद।

●●

श्रीकांत वर्मा

माया-दर्पण

देर से उठ कर
छत पर सर धोती
खड़ी हुई है
देखते ही देखते
बड़ी हुई है
मेरी प्रतिभा
लड़ते-झगड़ते
मैं आ पहुँचा हूँ
उखड़ते-उखड़ते
भी
मैंने
रोप ही दिये पैर
बैर
मुझे लेना था
पता नहीं
कब क्या लियाथा
क्या देना था !
अपना एकमात्र इस्तेमालयहीकिया था
एक सुई की तरह
अपने को
अपने परिवार से निकाल कर
तुम्हारे जीर्ण जीवन को सिया था।
(दोनों हाथों में सम्हाल
अपने ओठों से
छुला कर)

बहते हुए पानी में झुला कर
अपने पैर
मैं अनुभव कर रहा हूँ। सब कुछ
बस छू कर
चला जाता है
छला जाता है
आकाश भी
सूर्य से
जो दूसरे दिन
आता नहीं है
कोई और सूर्य भेज देता है।
विजेता है
कौन
और
किसकी पराजय है--
सारा संसार अपने कामों में
फँसाये अपनी अँगुलियाँ
उधेड़बुन करता है।
डरता है
मुझसे
मेरा पड़ोस।
मैं अपनी करतूतों का दरोगा हूँ।
नहीं, एक रोजनामचा हूँ
मुझमें मेरे अपराध
हूबहू कविताओं-से

दर्ज हैं।
मर्ज हैं
जितने
उनसे ज्यादा इलाज हैं।
मेरे पास हैं कुछ कुत्ता-दिनों की
छायाएँ
और बिल्ली-रातों के
अंदाज हैं।
मैं इन दिनों और रातों का
क्या करूँ?
मैं अपने दिनों और रातों का
क्या करूँ?
मेरे लिए तुमसे भी बड़ा
यह सवाल है।
यह एक चाल है;
मैं हरेक के साथ
शतरंज खेल रहा हूँ
मैं अपने ऊलजुलूल
एकांत में
सारी पृथ्वी को बेल रहा हूँ।
मैं हरेक नदी के साथ
सो रहा हूँ
मैं हरेक पहाड़
ढो रहा हूँ
मैं सुखी
हो रहा हूँ
मैं दुखी
हो रहा हूँ
मैं सुखी-दुखी हो कर
दुखी-सुखी
हो रहा हूँ
मैं न जाने किस कंदरा में
जा कर चिल्लाता हूँ : मैं
हो रहा हूँ। मैं

हो रहा हूँ।
अनुगूँज नहीं जाती
लपलपाती
मेरे पीछे
चली आ रही है।
चली आए।
मुझे अभी कई लड़कियों से
करना है प्रेम
मुझे अभी कई कुंडों में
करना है स्नान
अभी कई तहखानों की
करनी है सैर
मेरा सारा शरीर सूख चुका
मगर साबित हैं
पैर।
मैं अपना अंधकार, अपना सारा अंधकार
गंदे कपड़ों की
एक गठरी की तरह
फेंक सकता हूँ।
मैं अपनी मार खायी हुई
पीठ
सेंक सकता हूँ
धूप में
बेटियाँ और बहुएँ
सूप में
अपनी-अपनी
आयु के
दाने
बिन
रही
हैं
सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं।
क्या मैं भी दिन गिनूँ?
अपने निरानंद में

रेंक और भाग और लीद रहे गधे से
मैं पूछ कर
आगे बढ़ जाता हूँ।
मगर ख़बरदार! मुझे कवि मत कहो।
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ।
मैं कविताएँ बकता नहीं हूँ।
मैं थकता नहीं हूँ
कोसते।
सरदी में अपनी संतान को
केवल अपनी
हिम्मत की रजाई में लपेट कर
पोसते
ग़रीबों के मुहल्ले से निकल कर
मैं
एक बंद नगर के दरवाज़े पर
खड़ा हूँ
मैं कई साल से
पता नहीं अपनी या किसकी
शर्म में
गड़ा हूँ :
तुमने मेरी शर्म नहीं देखी!
मैं मात कर
सकता हूँ
महिलाओं को।
मैं जानता हूँ
सारी दुनिया के
बनबिलावों को
हमेशा से जो बैठे हैं
ताक में।
काफ़ी दिनों से मैं
अनुभव करता हूँ तकलीफ़
अपनी
नाक में।
मुझे पैदा होना था अमीर घराने में!
अमीर घराने में
पैदा होने की यह आकांक्षा
साथ-साथ
बड़ी होती है।
हरेक मोड़ पर
एक प्रेमिका की तरह
मृत्यु
खड़ी होती है।

शरीरांत के पहले मैं सब कुछ निचोड़ कर
उसको दे जाऊँगा जो भी मुझे मिलेगा। मैं यह
अच्छी तरह जानता हूँ, किसी के न होने से
कुछ भी नहीं होता; मेरे न होने से कुछ भी नहीं
हिलेगा। मेरे पास कुर्सी भी नहीं जो ख़ाली हो।
मनुष्य वकील हो, नेता हो, संत हो, मवाली हो
—किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता।

नाटक की समाप्ति पर
आँसू मत बहाओ।
रेल की खिड़की से
हाथ मत हिलाओ।

●

—९४ नार्थ एवेन्यू,
नयी दिल्ली।

गोस्वामी रामबालक

●●

पुराख्यान

राजधर्म

एक दिन राजा जनक ने रात में यह स्वप्न देखा :

शत्रुओं की एक विशाल सेना ने उनकी राजधानी मिथिला को चारों ओर से घेर लिया है। वे युद्ध में परास्त हो कर भाग गये और कई दिनों तक वन में इधर-उधर भटकते रहे। अंत में वे भूख से बहुत व्याकुल, एक नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने द्वार-द्वार पर भीख माँग कर कुछ अन्न जमा किया। उसे ले कर वे सड़क के किनारे एक हाँडी में खिचड़ी पकाने बैठे। खिचड़ी जब पक गयी, तो राजा बाज़ार में घी माँगने चले। आखिर हाथ पसारने पर थोड़ा-सा घी भी मिल गया। उसे वे बहुत सम्हाल कर ले आये और हाथ-पैर धो कर खिचड़ी उतारने बैठे। इतने में कहीं से दो साँड़ लड़ते हुए उधर आ निकले। उनके धक्के से राजा की हाँडी गिर गयी। उनकी सारी मेहनत देखते-देखते मिट्टी में मिल गयी। भाग्य का यह खेल देख कर राजा जनक अत्यंत खिन्न हो गये। वे अपने वैभव के दिनों का स्मरण कर के दुर्दिन का भयंकर दृश्य देखने लगे। एक दिन था जब संसार की सारी संपत्तियाँ उनके चरणों पर लोटती थीं। और इसी जीवन में एक दिन ऐसा भी आया कि उन्हें एक-एक दाने के लिए तरसना पड़ रहा है। अपनी दुर्गति पर इस प्रकार विचार करते-करते राजा को अपने अंधकारमय भविष्य का ध्यान आया। उन्हें सारी दिशाएँ शून्य दिखायी पड़ीं और लगा, संसार में पद-पद पर विपत्तियाँ मुँह खोले खड़ी हैं।

स्वप्न में दुर्दैवग्रस्त राजा सिर पीट कर रोना ही चाहते थे कि उनकी आँखें खुल गयीं। देखा तो सामने न सड़क थी, न टूटी-फूटी हाँडी। उन्होंने अपने को सजे-सजाये शयनागार में सोने की पलँग पर आराम से लेटे पाया। आसपास दास-दासियों का दल सिर झुकाये, हाथ जोड़े खड़ा था। कोई पंखा झलता था और कोई हाथ-मुँह धोने के लिए महाराज के आगे गुलाबजल बढ़ाता था। एक ओर प्रभाती गायी जा रही थी; दूसरी ओर त्रिपाठियों का दल मंगलपाठ करता था।

राजा जनक अपने ऐश्वर्य का प्रत्यक्ष रूप देख कर बड़े आश्चर्य में पड़ गये और आँखें मूंद कर स्वप्न की दुर्दशा पर विचार करने लगे। उनके मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि जो कुछ स्वप्न में दिखायी पड़ा है, उसको सत्य मानूँ या जो अब दिखायी पड़ रहा है, उसको ? बहुत देर तक वे इसी उधेड़-बुन में पड़े रहे और कुछ भी निश्चय नहीं कर पाये। विकट समस्या थी।

राजा मन में भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क करते रहे। राजसभा में पहुँचने पर उन्होंने बड़ी गंभीरता से अपने प्रसिद्ध पंडितों को इस प्रश्न का उत्तर देने को कहा : "यह सत्य है कि वह ?"

पंडितों को सारी बात का पता तो था नहीं, इसलिए वे इस गूढ़ पहेली को कैसे सुलझाते ! सब के सब एक वाक्य में उलझ गये। राजा इसके अतिरिक्त विशेष कुछ बताते नहीं थे। दिन भर बुद्धिपीड़न के पश्चात् पंडितों ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कुछ दिनों का समय माँगा। समय मिल गया।

फिर क्या था। बड़े-बड़े शास्त्रों का मंथन शुरू हुआ। व्यग्रचित्त राजा जनक ने बाहर से भी अनेक धुरंधर पंडितों को बुला कर उसी समस्या में जोत दिया। इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दिये बिना न तो किसी को घर जाने की अनुमति थी, न किसी और बात की चिंता करने की।

समय बीतने लगा।

एक दिन राजा जनक पालकी में घूमने निकले। उनके आगे घोड़े पर राजमंत्री और पीछे अनेक सवार चल रहे थे। नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों की सैर करने के बाद राजा ने एक संकीर्ण गली में जाने की इच्छा प्रकट की। राजमंत्री आगे बढ़ कर लोगों को रास्ते से हटाने लगे। तब तक पालकी गली के द्वार पर रुकी रही। मंत्री जी की दृष्टि गली में बैठे हुए एक महाकुरूप नवयुवक पर पड़ी। उन्होंने चिल्ला कर सक्रोध कहा : "अरे ! कौन है ? दूर हट, महाराजाधिराज की सवारी आ रही है।"

नवयुवक भी तन गया। बैठे ही बैठे तिरस्कारपूर्वक उत्तर दिया : "क्या तू अंधा है ? देखता नहीं, यहाँ एक आदमी बैठा है ? मैं अपनी जगह से क्यों हटूँ ? राजा के वास्ते यदि रास्ता कम है तो उनसे कहो, सवारी दूसरे रास्ते से ले जाएँ, नहीं तो क्या पैदल चलना. . . ."

मंत्री जी तिलमिला उठे। बात काटी गयी थी। किंतु उन्होंने स्वयं बल-प्रयोग करना उचित नहीं समझा और तत्काल लौट कर सब कुछ राजा जनक से कह सुनाया।

राजमंत्री विवश हो कर उस नवयुवक के पास गये और नम्रतापूर्वक बोले : "ब्रह्मचारी जी ! पास ही मिथिलानरेश अपनी पालकी में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं. . . .।"

नवयुवक ने वक्र-दृष्टि से मंत्री की ओर देख कर कर्कश स्वर में कहा : "जाओ-जाओ, अपने राजा-महाराजा से कह दो, मैं उससे अभी मिलने नहीं आ सकता. . . ."।

राजमंत्री ने भय दिखाते हुए चेताया : "पर यह महाराज की आज्ञा है. . . ."

"हाँ-हाँ, सुन लिया।"—नवयुवक बोला : "यदि वह न्यायासन पर विराजमान होता तो सच है, किसी को भी अपने सामने साधिकार बुलवा सकता था। लेकिन इस समय तो वह जनमार्ग पर खड़ा है। यहाँ भी वह अपने को राजा और मुझे एक निर्बल और तुच्छ व्यक्ति समझ कर अपने पास आने की आज्ञा देता है ! क्या यह उचित है ?"

"आप क्या कहते हैं ?"—मंत्री अभी अनुनय में लगा था।

"ऐसा व्यक्ति जो स्वयं न्याय के मार्ग पर नहीं चलता, दूसरों को कैसे चलाएगा ?"—वह कुरूप ब्रह्मचारी बोलता गया : "जाओ, राजा को बता दो, सार्वजनिक स्थान में सबके अधिकार बराबर हैं। मैं उसके इस अनुचित आदेश का पालन कभी नहीं कर सकता।"

मंत्री जी लाल-पीले हो कर लौट आये और राजा से कहने लगे : "महाराज ! वह बड़ा ही दुर्मुख और उद्दंड है। लात का देवता बात से नहीं मानेगा। आज्ञा हो तो बँधवा कर घसीट लाऊँ।"

किंतु राजा जनक किंचित भी उत्तेजित नहीं हुए। वे उस नवयुवक के पास पैदल पहुँचे। उन्होंने सविनय पूछा : "श्रीमान, मैं आपका परिचय चाहता हूँ। आप कौन हैं, किस प्रयोजन से यहाँ पधारे हैं ?"

नवयुवक ने भी सावधानी से कहा : "मैं विप्रवर कहोड पुत्र का अष्टावक्र हूँ। मैंने सुना है कि राजा जनक के किसी जटिल प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर कोई भी पंडित नहीं दे पा रहा है। इसलिए राजा यह सोचते रहे हैं कि इस देश में अब कोई विद्वान नहीं रह गया। सो मैं उनका संशय मिटा कर यहाँ की विद्वन्मंडली का मान बचाने आया हूँ।"

राजा के हर्ष और विस्मय का ठिकाना न रहा। वे उस नवयुवक को दूसरे दिन राजसभा में पधारने का सादर निमंत्रण दे कर वापस चले गये।

दूसरे दिन अष्टावक्र ठीक समय पर राजसभा में पहुँचे। वहाँ पचासों शास्त्रशूर महापंडित राजा को घेर कर बैठे थे।

अष्टावक्र का पहला पैर दरबार में पड़ा था कि सब के सब खिलखिला पड़े। व्यंग्यमय हँसी से सारा दरबार गूंज उठा।

अष्टावक्र एक तो अल्पवयस्क थे, दूसरे महाकुरूप। उनका छोटा-सा शरीर आठ जगह से टेढ़ा-मेढ़ा, बेडौल और भद्दा था। और ऐसा व्यक्ति पंडितों की नाक रखने आया था। पर उन्हें हँसते देख कर अष्टावक्र भी अट्टहास करने लगे। राजा जनक को बड़ा विस्मय हुआ। अष्टावक्र की ओर अभिमुख हो कर वे बोले : "विप्रदेव ! मेरे पंडितों के हँसने का तो एक कारण है, लेकिन आपके हँसने का कारण मैं नहीं समझ सका।"

अष्टावक्र ने कहा : "महाराज ! मेरे हँसने का भी एक कारण है। . . . ."—हँसने वालों की ओर अपनी अँगुली उठा कर वे बोले : "मैं इस मूर्ख-मंडली को देख कर हँस रहा हूँ। आश्चर्य ही है ! ऐसे मूर्खों की सहायता से आप कैसे इतना बड़ा राज्य चलाते हैं ? इनमें तो कुछ भी बुद्धि-विवेक नहीं है। यदि होता तो मेरे वाह्य रूप पर दृष्टि न डालते। ज्ञानी का परिचय उसके ऊपरी अंगों से नहीं, बुद्धि तत्व से मिलता है। भूखा आदमी अन्न को मुख्य मानता है, न कि बरतन को। प्यासा आदमी जल को महत्व देता है, न कि अच्छे-बुरे पात्र को। खेद है कि ये पंडित नामी जीव मनुष्य की परीक्षा करना भी नहीं जानते। मेरा तो शरीर ही टेढ़ा है, लेकिन इनकी तो बुद्धि ही टेढ़ी जान पड़ती है। राजन ! यही मेरे हँसने का कारण है।"

इस फटकार को सुन कर पंडितगण चुप हो गये। सभी बगलें झाँकने लगे।

अष्टावक्र ने राजा से उनका वह प्रश्न पूछा। राजा जनक ने अपना प्रश्न दुहराया: "यह सत्य है कि वह?"

अष्टावक्र क्षण भर के लिए मौन रहे। फिर मुस्कराते हुए बोले: "राजन! जैसा प्रश्न है, वैसा ही उत्तर भी होना चाहिए।...तो सुनिए। जैसा यह है, ठीक वैसा ही वह भी है।"

राजा ने कहा: "आपके इस उत्तर से तो मेरी शंका नहीं मिटी।"

अष्टावक्र ने भी उत्तर दिया: "लेकिन यही आपके प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर है। इसे समझने की चेष्टा कीजिए। आपकी भूल यह है कि आप एक संदेह में उलझ गये और सीधी-सी बात को स्पष्ट न बता कर गोलमाल शब्दों में पहेली बुझाने लगे। यदि इन पंडितों के आगे आप सारी बातें खोल कर रख देते, तो संभवतः इनमें से कोई न कोई आपके चित्त का भ्रम दूर कर देता। अब पहले आप अपने प्रश्न का रहस्य बताइए। उसके बाद मैं अपने उत्तर की व्याख्या करूँगा।"

राजा जनक ने स्वप्न का सारा वृत्तांत बता कर अष्टावक्र से पूछा: "पंडित जी! अब बताइए कि मैं स्वप्न की बातों को सत्य मानूँ या प्रत्यक्ष जीवन को?"

"मैंने ठीक उत्तर दिया है। दोनों में कोई भेद नहीं।..."—अष्टावक्र बोले: "जैसा स्वप्न था, वैसा ही यह संसार भी है। दोनों ही मिथ्या और क्षणभंगुर हैं। इसका प्रमाण यह है कि स्वप्न में आपको जो दुख हुआ था और जागने के बाद जो सुख, दोनों ही इस समय सुलभ नहीं हैं। आप उनका ध्यान कर सकते हैं, उन्हें अब पा नहीं सकते। स्वप्न और संसार में अंतर इतना ही है कि एक की असत्यता शीघ्र ही ज्ञात हो जाती है, दूसरे की देर में। मेरा तो विश्वास है कि संसार के स्वरूप का बोध कराने के लिए ही भगवान ने स्वप्न-संसार की सृष्टि की है।"

अष्टावक्र के उत्तर से राजा को थोड़ी-बहुत शांति मिली। उन्होंने फिर पूछा: "ज्ञानी जी! यदि यह सब सचमुच ही मिथ्या है, तो आखिर सत्य क्या है?"

अष्टावक्र ने कहा: "सत्य तो केवल वह है, जो इन सबका अनुभव करता है। उसे जानने-पहचानने का यत्न कीजिए। उसका नाम है ब्रह्म या आत्मा। ज्ञान होने पर मनुष्य उलझनों में नहीं फँसता।"

राजा मान गये कि अष्टावक्र आयु और शरीर से छोटे हो कर भी विद्या-बुद्धि से महान एवं सच्चे सद्‌गुरु हैं। उन्होंने श्रद्धापूर्वक उनसे ज्ञान का उपदेश देने का आग्रह किया।

अष्टावक्र ने सगर्व कहा: "राजन! मैंने अभी तक आपको जितना ज्ञान दिया है, उसकी गुरुदक्षिणा दे कर तब आगे कुछ माँगिए।"

राजा जनक ने तुरंत हीरे-मोती और सुवर्ण से भरे कई थाल मँगवा कर अष्टावक्र के सामने रख दिये। किंतु अष्टावक्र सारी राजसंपत्ति को ठुकराते हुए बोले: "जनक! हम यहाँ धन या मान के लोभ से नहीं आये हैं। हमें तो यह प्रमाणित करना था कि हमारा देश विद्वानों से शून्य नहीं है। यदि आप मेरे उपदेश से सचमुच संतुष्ट हैं, तो मैं जो कुछ मागूँ, बस वही मुझे दीजिए।"

राजा इसके लिए तैयार हो गये।

तब अष्टावक्र ने कहा: "आप मुझे शुद्ध हृदय से अपना तन-मन-धन तीनों समर्पित कीजिए।"

राजा जनक ने उनके आगे पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर दिया।

उसी समय कहीं से एक कष्ट-पीड़ित दीन-हीन ब्राह्मण रोता-गाता राजसभा में आया। राजा ने उसके दुख का वृत्तांत पूछना चाहा, लेकिन तुरंत ही उन्हें ध्यान आया कि मैं तो अपने अंग प्रत्यंग दूसरे को दे चुका हूँ। अतएव स्वेच्छा से मुँह खोलना भी ठीक न होगा। वे चुप रहे। ब्राह्मण वारंवार अपनी कष्ट-कथा सुना कर राजा से धन की याचना करने लगा। राजा ने सोचा कि सामने जो धन पड़ा है, उसीमें से कुछ दे दूं। किंतु उसी क्षण उन्हें ध्यान आया कि धन पर भी तो अब दूसरे का अधिकार है। वे चुप ही रहे। राजा का यह व्यवहार देख कर ब्राह्मण भरी सभा में उनको धिक्कारने लगा। बहुत खरी-खोटी सुनाया। राजा को इससे बड़ा दुख हुआ। पर वे तत्काल यह सोच कर स्वस्थचित्त हो गये कि मैं अपना मन भी तो दूसरे को सौंप चुका हूँ। अतएव किसी की व्यक्तिगत बातों से प्रभावित होना अनुचित है। वे चुपचाप शांत ही रहे।

अष्टावक्र ध्यान से उनकी ओर देख रहे थे। शांत खड़े राजा से उन्होंने पूछा : "आप कौन हैं ?"

राजा ने कहा : "जनक।"

अष्टावक्र ने फिर पूछा : "इस शरीर में जनक जी कहाँ रहते हैं—पेट में, सिर में या मुँह में ?"

राजा कुछ नहीं बता पाये। तब अष्टावक्र ने कहा : "अब आप ब्रह्मज्ञान का रहस्य अवश्य समझ गये होंगे।"

राजा 'मेरा मुझमें कुछ नहीं' का अनुभव करते हुए बोले : "गुरुदेव ! अब तो मैं सर्वस्व त्यागकर वन को जाना चाहता हूँ। यहाँ रहने की इच्छा नहीं होती।"

अष्टावक्र ने पूछा : "आपके पास क्या बचा है, जिसे त्याग कर संन्यास लीजिएगा ?"

राजा फिर चुप हो गये। अष्टावक्र पुनः बोले : "राजा जनक ! आप अपने तन-मन-धन को अब अपना न समझ कर उसे मेरी वस्तु समझिए। अपका सर्वस्व अब पराया हो चुका है। उसकी ममता छोड़ दीजिए। अब मैं आपके हाथों में इसको उसी भाँति सौंपता हूँ, जैसे कोई किसी को अपनी थाती सम्हाल कर रखने के लिए देता है। अपने तन-मन-धन को अपनी नहीं, दूसरे की वस्तु समझ कर उसकी यत्नपूर्वक रक्षा कीजिए। अहंकार त्याग कर सबमें अपने को और अपने में सब को देखिए। यही आप जसे लोकनेता का राजधर्म है और यही ब्रह्मज्ञान है। देहधारी हो कर भी आप विदेह बन कर एकाग्रचित्त हो कर्तव्य-धर्म करें।"

ज्ञानकुंज, दूधपूरा,
समस्तीपुर, दरभंगा।

●●

गोविंदजी

ऐतिहासिक चिंतन-प्रक्रिया और कल्पना

इतिहास में कल्पना का संबंध इस लोक के मानवीय कार्यों और उनके परिणामों के अवबोधन से रहता है। इतिहास-संरचना में प्रयुक्त कल्पना को विद्वानों ने 'इतिहासमूलक कल्पना' नाम दिया है। इतिहासमूलक कल्पना से एम० वाइट का तात्पर्य है **"अतीत के भीतर प्रविष्ट होने, उसे समझने तथा उसका पुर्नविधान करने की आकांक्षा।"** टी० रोपर ने **'इतिहासमूलक कल्पना'** की व्याख्या करते हुए उसे विदेशीय तथा सुदूर अतीत के व्यक्तियों की चेतना में अनुप्रविष्ट हो सकने की क्षमता बताया है। उसके कथनानुसार इसका प्रयोग करने का आशय है ऐसे लोगों की चेतनाओं और भावनाओं में हमें प्रवेश दिला देना जो कि एक विशेष दृष्टि से हमसे अत्यधिक पृथक होते हैं। उसका विश्वास है कि यदि हम अतीत की यथावत उपस्थापना की जगह उसकी अपने संदर्भ में महत्वपूर्ण उपस्थापना चाहते हैं तो यह अनिवार्य है।[1] इतिहासमूलक कल्पना के लिए डिल्थे ने अवबोधन ('अंडरस्टैंडिंग') शब्द का प्रयोग किया है और जैसा कि एच० पी० रिक्मैन का विचार है, रोपर की 'इतिहासमूलक कल्पना' की धारणा डिल्थे की 'अवबोधन' की धारणा से अभिन्न है।[2] रोपर के अनुसार 'इतिहासमूलक कल्पना' ही इतिहासकार की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह इतिहास के साक्ष्यों के संचयन, व्यवस्थापन तथा व्याख्या में समर्थ हो कर अतीत को बोधगम्य बनाता है।

ऐतिहासिक अनुसंधान में कल्पना के प्रयोग की बात ऐसी है जो अनेक प्रकार के प्रश्नों को जन्म देती है। क्या यह अनुशासनबद्ध उपागम (डिसिप्लिड एप्रोच) का आधार बन सकती है? ऐतिहासिक साक्ष्यों अथवा प्रमाणों के संग्रहण-संचय तथा व्याख्या में यह कौन-सी भूमिका

---

[1] **'मीनिंग इन हिस्ट्री', एच० पी० रिकमैन द्वारा संपादित, पृष्ठ ४३।**

[2] **वही, पृष्ठ ४३-४४।**

अभिनीत करती है? ये प्रश्न ऐसे हैं जिन पर, इस संदर्भ में, विचार-विमर्श करना आवश्यक है।

यों तो कल्पना का क्षेत्र अत्यंत विशाल है किंतु विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रयोग अनुशासन की विभिन्न मात्राओं में किया जाता है। दिवास्वप्न अथवा रोमांस-लेखन में यह प्रायः अनियंत्रित होती है किंतु विज्ञान संबंधी सिद्धांत-परिकल्पन अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान में उनके विभिन्न प्रकार की बौद्धिक प्रक्रियाओं से संबद्ध तथा प्राप्त उपकरणों से संबंधित होने के कारण इसका नियंत्रित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, वह इतिहासकार, जो कल्पनात्मक रूप से किसी ऐतिहासिक चरित्र के मस्तिष्क में अथवा किसी युग की आत्मा में प्रवेश पा लेने का दावा करता है और किसी व्यक्ति या युग के विचारों, अभिप्रायों अथवा भावनाओं का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण प्रस्तुत करता है, उसके लिए अपने निष्कर्ष की पुष्टि में तत्कालीन पत्रों, व्याख्यानों तथा समसामयिक उल्लेखों के रूप में प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐतिहासिक चिंतन एक दृष्टि से ज्ञान की तरह है। अपने समुचित उद्देश्य के लिए चिंतन का प्रत्येक प्रकार कोई न कोई विशिष्टता रखता है। यहाँ इस क्षण, इस कमरे में बैठे हुए जिस वस्तु का मुझे प्रत्यक्ष बोध होता है, वह यह कमरा है, यह टेबुल है, यह काग़ज़ है, यह क़लम है। इतिहासकार जिस वस्तु का चिंतन करता है, वह अशोक अथवा अकबर है, उसके क्रिया-कलाप हैं, उसकी नीति है। ऐतिहासिक चिंतन का प्रतिपाद्य विषय वे घटनाएँ हैं जिनका घटित होना समाप्त हो चुका है और घटित होने की अवस्थाएं अब अस्तित्व में नहीं रह गयी हैं। घटनाएँ केवल उसी अवस्था में ऐतिहासिक चिंतन की परिधि में आती हैं जब वे और अधिक प्रत्यक्ष बोधगम्य नहीं रह जातीं। अतः ज्ञान के वे संपूर्ण सिद्धांत, जो प्रत्यक्ष परिचय को ही ज्ञान-तत्व समझते हैं, इतिहास को असंभाव्य बना देते हैं।

दूसरी दृष्टि से, इतिहास, विज्ञान के सदृश होता है, क्योंकि दोनों में ज्ञान अथवा जानकारी तर्कसिद्ध होती है। किंतु जहाँ विज्ञान अव्यक्त सामान्य स्थापनाओं के जगत में निवास करता है जो एक अर्थ में प्रत्येक स्थल पर हैं और दूसरे अर्थ में कहीं नहीं हैं; जो एक अर्थ में सभी समय में हैं और दूसरे अर्थ में किसी समय में नहीं हैं; वहाँ इतिहासकार उन्हीं वस्तुओं एवं कार्यों के संबंध में विचार-विमर्श करता है अथवा तार्किक ढंग से निष्कर्ष निकालता है जो अव्यक्त न हो कर यथार्थ और ठोस होते हैं, सार्वजनीन न हो कर वैयक्तिक होते हैं। वे काल और स्थान की सीमा से परे न हो कर उससे बँधे होते हैं—किंतु वह काल और स्थान 'अब' और 'यहाँ' न हो कर 'तब' और 'वहाँ' होता है। अतः इतिहास को उन सिद्धांतों के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता जिनके अनुसार ज्ञान का विषय अमूर्त और स्थिर होता है।

इतिहास के पीछे एक सामान्य ज्ञान-सिद्धांत रहता है जिसके अनुसार इतिहास में दो मूलभूत बातें होती हैं—स्मृति तथा प्रमाण-पुरुष या आप्त वचन। यदि कोई घटना या कार्यावस्था ऐतिहासिक रूप में ज्ञात है तो सर्वप्रथम उससे कोई अवश्य ही परिचित हुआ होगा; फिर, उसने उसको अपनी स्मृति में सुरक्षित रखा होगा; फिर उसने उसको किसी अन्य व्यक्ति से कहा होगा

अथवा लिपिबद्ध कर दिया होगा ; और अंत में उस दूसरे व्यक्ति ने पहले व्यक्ति के कथन को सत्य स्वीकार कर लिया होगा। इस प्रकार इतिहास, किसी अन्य की स्मृति पर विश्वास करना है। विश्वास करने वाला इतिहासकार है और जिस पर विश्वास किया गया वह उसका प्रमाण-पुरुष और उसका कथन आप्त वचन है।

यह सिद्धांत ध्वनित करता है कि ऐतिहासिक सत्य, जहाँ तक वह इतिहासकार को किसी भी दशा में सुलभ है, उसे केवल इसलिए सुलभ है, क्योंकि वह अपने प्रमाण-पुरुषों के पूर्व निष्पन्न वचनों के अंतर्गत बने-बनाये रूप में विद्यमान रहता है। ये वचन अथवा कथन उसके लिए एक पवित्र पाठ सदृश होते हैं जिनका मूल्य पूर्णतः उस पाठ-परंपरा की अखंडता पर आधारित रहता है जिसे वे प्रस्तुत करते हैं। अतः उसको उसमें किसी भी प्रकार का सम्मिश्रण नहीं करना चाहिए, और न परिवर्तन-परिवर्धन करना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार इसके अतिरिक्त जो सबसे बड़ी बात है वह यह है कि इतिहासकार को कभी भी उसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि वह अपने आप ही संचयन करने तथा यह निश्चित करने का साहस करता है कि उसके प्रमाण-पुरुषों के कुछ कथन महत्वपूर्ण हैं और कुछ महत्वहीन, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि वह अपने प्रमाण-पुरुषों की आलोचना कर रहा है और कोई अन्य निष्कर्ष निकाल रहा है। सिद्धांत के अनुसार उसका यह कार्य निश्चित ही ऐसा है जिसको करने का उसको अधिकार नहीं। यदि वह उनमें कुछ जोड़ता है, अपने निर्माण-कौशल के प्रदर्शन हेतु कुछ प्रक्षेप करता है और उन्हें अपने ज्ञान के अतिरिक्त रूप में स्वीकार करता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह किसी कारणवश प्रमाण-पुरुष के कथनों की अपेक्षा किसी अन्य बात पर विश्वास कर रहा है। उसका यह कार्य भी सिद्धांतानुसार ही उसकी अधिकार-सीमा के बाहर है। सर्वाधिक चिंतनीय अवस्था तब की है जब कि वह अपने प्रमाण-पुरुषों का प्रतिवाद करता है और यह निश्चय करने का साहस करता है कि प्रमाण-पुरुषों ने तथ्यों को ग़लत ढंग से प्रस्तुत किया है; वह उनके कथनों को अविश्वसनीय समझ कर उनको अस्वीकार करते हुए विपरीत बातों पर विश्वास करता है और अपनी पद्धति के नियमों के विपरीत एक निम्नतम कोटि का अपराध करता है। संभव है कि प्रमाण-पुरुष वाचाल एवं अर्थवादी रहा हो, अस्थिरमति, इधर-उधर की तथा द्वेषपूर्ण बातें करने वाला रहा हो; यह भी संभव है कि उसने जान-बूझ कर या अनजान में ही तथ्यों को ग़लत ढंग से प्रस्तुत किया हो, किंतु इन सब दोषों के सम्मुख इतिहासकार निरुपाय है। इस सिद्धांतानुसार जो कुछ उसके प्रमाण-पुरुष ने कह दिया है, इतिहासकार के लिए वही सत्य है और संपूर्ण प्राप्त सत्य है, और कुछ नहीं।

सामान्य ज्ञान-सिद्धांत के आधार पर निकाले गये इतिहास के जिन परिणामों की चर्चा ऊपर की गयी है, उसे कोई भी इतिहासकार संभवतः स्वीकार नहीं करेगा। प्रत्येक इतिहासकार यह जानता है कि अवसर पाने पर वह प्रमाण-पुरुष के कथनों में उपर्युक्त तीनों पद्धतियों के अनुसरण-क्रम में अपनी ओर से कुछ न कुछ सम्मिश्रण करता है। वह उनमें से जिन्हें महत्वपूर्ण समझता है, उनका चयन करता है और शेष को छोड़ देता है। वह उन बातों को अंतर्विष्ट करता है जो प्रमाण-पुरुषों द्वारा स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी हैं। वह जिन आप्त वचनों को मिथ्या समझता है, उनका संशोधन अथवा अस्वीकरण कर आलोचना करता है। वस्तुतः प्रत्येक इतिहासकार

सामान्य ज्ञान-सिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी संचयन, निर्माण तथा आलोचनाओं के अपने निजी अधिकारों का प्रयोग करता है। निस्संदेह उसके ये अधिकार तथाकथित सिद्धांत के प्रतिकूल हैं, किंतु प्रमाण-पुरुषों के कथनों की असंगतियों एवं प्रतिवादों को यथासंभव कम करने के लिए उसकी कार्य-पद्धति के ये अपरिहार्य अंग हैं। इतिहासकार द्वारा अपने इन निजी अधिकारों का प्रयोग एक प्रकार का बौद्धिक विद्रोह है जिसको करने के लिए वह प्रमाण-पुरुषों की असामान्य असंगतियों द्वारा बाध्य कर दिया जाता है, फिर भी जो उसकी स्वाभाविक, शांतिमय एवं आस्थावान शासन-पद्धति को विश्रृंखल नहीं बनाता।

इतिहासमूलक कल्पना अथवा कॉलिंगउड की शब्दावली में ऐतिहासिक चिंतन की वैयक्तिक स्वतंत्रता अपने सर्वाधिक सहज रूप में संचयन-कार्य में देखी जा सकती है। वह इतिहासकार, जो सामान्य ज्ञान-सिद्धांत के अनुसार कार्य करने तथा अपने प्रमाण-पुरुष के कथनों को ठीक उसी रूप में पुनर्प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, एक ऐसे परिदृश्य-चित्रकार के समान होता है जो चित्रकला के उस सिद्धांतानुसार कार्य करने का प्रयत्न करता है जिसका लक्ष्य प्रकृति का अनुकरण करना है। परिदृश्य का अंकन करते समय चित्रकार प्राकृतिक वस्तुओं के वास्तविक रूप-रंग का अनुकरण तो करता है किंतु ऐसा करते समय वह सर्वदा संचयन, सरलीकरण तथा व्यवस्थापन का आधार लेता है। चित्र में जो कुछ अंकित होता है, उसका उत्तरदायी प्रकृति नहीं, वरन कलाकार होता है। इसी प्रकार कोई भी इतिहासकार, चाहे वह अति सामान्य ही क्यों न हो, अपने प्रमाण-पुरुषों का केवल अनुकरण ही नहीं करता। यद्यपि वह अपने मन से भी कोई चीज़ नहीं भरता है, किंतु वह उन बातों को हमेशा छोड़ देता है जिन्हें आवश्यक नहीं समझता। अतः जब वह इतिहास लिखता है तो उसमें वर्णित बातों का उत्तरदायी वह होता है न कि प्रमाण-पुरुष। इस प्रश्न पर वह स्वतंत्र है।[३]

इतिहासकार के संचयन-कार्य के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वह अगणित घटनाओं में से, जो काल की अनंत प्रक्रिया में घटित होती हैं, क्या चुने और क्या छोड़ दे, किसे ऐतिहासिक दृष्टि से संगत माने और किसे असंगत। जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं, इतिहासकार अपने अनुशीलन-विषय में से जो कुछ चयन करता है, उसमें स्पष्ट रूप से व्यक्तिपरकता होती है। वह उनमें से अपनी रुचि, शिक्षा-दीक्षा, संस्कार तथा प्रकृति के अनुकूल ही चयन करता है और संभवतः अपने युग के पूर्वग्रह से भी प्रभावित रहता है। यह संचयन देश और काल, अनुसंधान-सीमा तथा अध्ययन पक्ष की ओर संकेत करता है जो व्यवहारतः आवश्यक है, किंतु सिद्धांततः कम महत्व का होता है। यह इतिहासकार की निजी सीमाओं को प्रदर्शित करता है जो इतिहास में विभिन्न घटनाओं के तुलनात्मक महत्व के संबंध में किसी निर्णय की ओर संकेत नहीं करता।

अब प्रश्न रह जाता है कि इतिहासकार महत्व एवं संगति की दृष्टि से कैसे संचयन करे? जैसा कि डिल्थे ने कहा है, अवबोधन अथवा इतिहासमूलक कल्पना हमें जीवन के भीतर पैठने

---

[३] **आर० जी० कॉलिंगउड : 'आइडियां आफ़ हिस्ट्री', पृष्ठ ३६-३७।**

की अंतर्दृष्टि देती है और संचयन, जो महत्व का निर्धारण करता है, जिये हुए मानव-जीवन का अनुगामी होता है। मानव-जीवन में अगणित घटनाएँ घटित होती हैं, किंतु उनमें जो अप्रमुख होती हैं, उन्हें हम भूल जाते हैं; जो प्रमुख होती हैं, जो व्यक्ति को विकास के पंथ पर आगे बढ़ाती हैं, जो युग पर अपनी छाप छोड़ जाती हैं तथा स्मृति में जम जाती हैं, वे निर्दिष्ट होती हैं और कभी-कभी लिख ली जाती हैं। जब हम किसी व्यक्ति, समूह अथवा किसी युग के संबंध में विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि न्यूनाधिक मात्रा में वे उन मूल्यों और आदर्शों के चारों ओर केंद्रित रहते हैं जो महत्वपूर्ण होने के अधिकारी होते हैं। सबल कारणों तथा कारण-समूहों द्वारा विषयीगत रूप से अधिकृत तथा इतिहासकार की कल्पना द्वारा गृहीत ये मूल्य और आदर्श तथ्यों की महत्ता और संगति के विषयगत निर्धारण के लिए कम से कम सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं—हालाँ कि वे सिद्धांत ही सब कुछ नहीं हैं। इस बात को सही ढंग से रखने के लिए यह पूछना कि इतिहास में अर्थशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र कैसे महत्वपूर्ण हैं, अति सूक्ष्म तथा संभवतः असंगत प्रश्न है। किंतु प्राप्त प्रमाणों पर इतिहासमूलक कल्पना के प्रयोग द्वारा हम यह निश्चय करने में समर्थ हो सकते हैं कि धर्म ने इतिहास में निश्चित भाग लिया है। तब, वैयक्तिक धर्म अथवा युग-धर्म की विशेषताओं को जानना तथा धर्म की कसौटी पर तथ्यों का मूल्यांकन और संचयन अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। एक ऐतिहासिक वातावरण में राजनीतिक दिशा-निर्देश करने वाले सूत्र प्रदान कर सकती है, तो दूसरे युग में अर्थशास्त्र उसका महत्वपूर्ण भाग सिद्ध हो सकता है। दूसरे शब्दों में, इतिहासकार तथ्यों के संचयन तथा वर्गीकरण में अप्रसिद्ध घटनाओं से प्रारंभ नहीं करता है। जिस ऐतिहासिक घटना-धारा के मूल-स्रोत का पता लगाने का वह प्रयत्न करता है, वह पहले ही उस धारा में भाग लेने वाले व्यक्तियों द्वारा अभिप्रायपूर्णता के साथ अनुभव किया जा चुका है, उन्होंने पहले ही तथ्यों का संचयन तथा उनकी व्याख्या एवं अपने कार्यों का मूल्यांकन कर दिया है। ये व्याख्याएँ तथा मूल्यांकन इतिहासकार के लिए केवल आँखों-देखे ऐतिहासिक वर्णन के रूप में ही वहाँ नहीं हैं वरन वैधानिक नियमों, व्यापारिक व्यवहारों, स्मृतिपत्रों, आलेखों, धर्मोपदेशों, कविताओं, चित्रों आदि के रूप में भी सुरक्षित हैं। चूँकि इतिहासकार इन प्रमाण-सामग्रियों की व्याख्या कल्पनात्मक रूप से करता है, अतः वह केवल अपरिचित व्यक्तियों के मस्तिष्क में ही प्रवेश नहीं करता, वरन घटनाओं के बीच के संबंधों तथा स्वरूपों को भी उसी रूप में ग्रहण करता है जिस रूप में वे भाग लेने वाले व्यक्तियों के सम्मुख आये थे।[४]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐतिहासिक चिंतन की वैयक्तिक स्वतंत्रता सर्वाधिक सहज रूप में तथ्यों के संचयन-कार्य में देखी जा सकती है। इतिहासकार की इस स्वतंत्रता का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट प्रदर्शन उसके ऐतिहासिक निर्माण में पाया जाता है। मान लीजिए कि इतिहासकार के प्रमाण-पुरुष किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया की बीच की अवस्था को अवर्णित छोड़ देते हैं और केवल इधर और उधर की अवस्था को ही बताते हैं। तब, बीच की अवस्था को वह अपनी कल्पना द्वारा ही पूर्ण कर सकता है। इतिहासकार का यह चित्र-भाग, यद्यपि वह इसमें अपने

---

[४] एच० पी० रिकमैन : मीनिंग इन हिस्ट्री, पृष्ठ ४७-४८।

प्रमाण-पुरुषों के प्रत्यक्ष कथनांशों को रख सकता है, उसके उन निजी कथनों से भी युक्त होता है जो उसके अपने सिद्धांतानुसार, उसकी अपनी पद्धति तथा प्रसंगानुकूलता के प्रनियमों के अनुसार तर्कपूर्ण एवं अनुमानात्मक होते हैं । अपने कार्य के इस भाग में वह अपने प्रमाण-पुरुषों पर कभी भी आधारित नहीं रहता। अपने कथनों का प्रमाण वह स्वयं अपने आप होता है और अपनी ही शक्तियों पर आश्रित रहता है।

इतिहासकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता का सर्वाधिक स्पष्ट रूप उसकी इतिहास विषयक आलोचना में पाया जाता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए प्रयोग द्वारा प्रकृति को सताता है और तब विज्ञान को एक समुचित पद्धति मिल जाती है, उसी प्रकार इतिहास भी तब अपनी एक तर्कसंगत व्यवस्था पा लेता है जबकि इतिहासकार अपने प्रमाण-पुरुषों को कठघरे में खड़ा कर के प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों द्वारा उनसे अनेक ऐसी सूचनाएँ निकलवा लेता है जिनको उन लोगों ने अपने आप्त वचनों में इसलिए नहीं व्यक्त किया, क्योंकि वे उनको छिपाना चाहते थे अथवा उनको उनका ज्ञान ही नहीं था।

यहाँ इतिहासकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता अपने पूर्ण रूप में व्यंजित होती है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि एक इतिहासकार के गुणों से समन्वित होने के कारण उसमें यह सामर्थ्य है कि वह अपने प्रमाण-पुरुषों द्वारा कथित किसी बात को निश्चित रूप से अस्वीकार दे और उसके स्थान पर किसी दूसरी बात को प्रस्थापित कर दे। यदि ऐसा संभव है तो ऐतिहासिक सत्य की कसौटी यह बात नहीं हो सकती कि अमुक बात किसी प्रमाण-पुरुष द्वारा कथित है। प्रमाण-पुरुष की यह तथा-कथित विश्वसनीयता और उसके कथन ऐसे हैं जो विवादास्पद हैं। इतिहासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रश्न का उत्तर स्वयं दे। अतएव यदि वह अपने प्रमाण-पुरुष द्वारा कथित बात को स्वीकार कर लेता है तो वह अपने बल पर स्वीकार करता है। इसलिए स्वीकार करता है कि वह उसके ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इतिहास को 'स्मृति' और 'प्रमाण-पुरुष' पर संस्थापित करने वाला सामान्य ज्ञान सिद्धांत कमज़ोर भित्ति पर आधारित और भ्रमपूर्ण है। इतिहासकार के लिए कोई प्रमाण-पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि तथाकथित प्रमाण-पुरुष उसी अभिमत पर दृढ़ रहते हैं जिसे केवल इतिहासकार प्रस्तुत कर सकता है। फिर भी, सामान्य ज्ञान-सिद्धांत किसी विशिष्ट तथा सापेक्ष सत्य के संबंध में बलपूर्वक कह सकता है। और चूंकि इतिहास अपने प्रमाण-पुरुष पर आधारित नहीं होता, अतएव वह स्मृति पर भी आधारित नहीं है। इतिहासकार उन तथ्यों एवं घटनाओं की पुनः खोज कर सकता है, जो इस अर्थ में पूर्णतः विस्मृत कर दी गयी हैं कि उनसे संबंधित कोई भी कथन प्रत्यक्षदर्शियों की अटूट परंपरा द्वारा उसके पास नहीं पहुँचा है। वह उन घटनाओं का भी अनुसंधान कर सकता है जिनके घटित होने का ज्ञान उसके अनुसंधान के पहले किसी को भी नहीं था। यह कार्य वह कुछ तो अपने उपलब्ध साधनों में आये हुए कथनों की आलोचनात्मक व्याख्या द्वारा करता है और कुछ अलिखित साधनों के प्रयोग द्वारा। आप्त वचनों या लिखित साधनों का भी वह विभिन्न प्रकार की संगतियों से वास्तविक अर्थ निर्धारित करता है, क्योंकि उसके बिना उनका या तो कोई अर्थ ही नहीं रहता अथवा उन्हें किसी भी अर्थ में ग्रहण

किया जा सकता है। अर्थ-निर्धारण की समस्या यद्यपि भाषा की समस्या है तथापि उसका समाधान इतिहासकार को ही करना पड़ता है। निश्चित रूप से उसके ये कार्य इतिहासमूलक कल्पना के ही अधीनस्थ रहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक सत्य की कसौटी क्या है? सामान्य ज्ञान-सिद्धांतानुसार यह इतिहासकार द्वारा प्रस्तुत कथनों तथा उसके प्रमाण-पुरुषों एवं आप्त वचनों का पारस्परिक ऐक्य है, किंतु जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, यह उत्तर भी भ्रमपूर्ण है। प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रेडले ने 'दि प्रीसपोजीशन ऑफ़ क्रिटिकल हिस्ट्री' नामक अपने एक प्रारंभिक निबंध में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। यद्यपि बाद में वे उस उत्तर से संतुष्ट नहीं रहे, फिर भी वह उत्तर ऐसा नहीं है, जिसे विवेकरहित कहा जा सके। प्रस्तुत प्रश्न के संबंध में ब्रेडले महोदय का उत्तर था कि हमारा सांसारिक अनुभव यह शिक्षा देता है कि कुछ घटनाएँ घटित होती हैं और कुछ नहीं घटित होतीं। यह अनुभव ही वह कसौटी है जिस पर इतिहासकार अपने प्रमाण-पुरुषों के कथनों को कस कर उनकी सत्यता की परख करता है। यदि उसके प्रमाण-पुरुष उससे कहते हैं कि अमुक प्रकार की घटनाएँ घटित हुईं जो इतिहासकार के अनुभव के अनुसार नहीं घटित होती हैं, तो वह उन पर अविश्वास करने के लिए मजबूर है, और वे घटनाएँ, जिनकी सूचना वे देते हैं, ऐसी हैं जो उसके अनुभव के अनुसार घटित होती हैं तो वह उनको स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र हैं।[१]

ब्रेडले महोदय के इस मत के विरोध में कई आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। जैसा कि कॉलिंगउड ने संकेत किया है, प्रस्तावित मापदंड अथवा कसौटी यह नहीं है कि क्या घटित हुआ, वरन यह है कि क्या घटित हो सका। वास्तव में यह काव्य में स्वीकारणीय अरस्तू के मापदंड के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतएव यह इतिहास और कथा के भेद को स्पष्ट करने की क्षमता नहीं रखता। इस प्रकार यह मापदंड एक इतिहासकार के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए भी है। अतः यह आलोचनात्मक इतिहास की कसौटी अथवा मापदंड नहीं हो सकता।

दूसरी बात जिसकी ओर कालिंगउड ने संकेत किया है वह यह है कि चूँकि यह मापदंड या कसौटी यह नहीं बता सकती कि क्या घटित हुआ, अतः उसके लिए हमें सूचना देने वाले के आधारभूत कथनों पर ही विश्वास करना रह जाता है। जब हम उसका उपयोग करते हैं तो उन सभी बातों को स्वीकार कर लेते हैं जिसे सूचना देने वाला बतलाता है, बशर्ते कि उनमें संभावना की तनिक भी गुंजाइश हो। यह अपने प्रमाण-पुरुषों पर अपराध लगाना नहीं है, वरन उनकी बातों को आँख मूँद कर स्वीकार कर लेना है जो इतिहास की आलोचनात्मक प्रकृति के विपरीत है।

कॉलिंगउड ने एक तीसरी बात भी ब्रेडले महोदय के मत के विरोध में प्रस्तुत की है। उसके मतानुसार इतिहासकार का उस संसार का अनुभव जिसमें वह रहता है उसे उसके प्रमाण-पुरुषों के केवल उन्हीं कथनों के परीक्षण में (निषेधात्मक रूप में भी) सहयोग दे सकता है, जहाँ

---

[१] **आर० जी० कालिंगउड : आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, पृष्ठ २३८-९।**

तक वे इतिहास से संबंधित नहीं हैं, वरन प्रकृति से संबंधित है जिसका कोई इतिहास नहीं। प्राकृतिक नियम हमेशा से यथावत रहे हैं। आज जो कुछ प्रकृति के विपरीत है वह दो हज़ार वर्ष पूर्व भी प्रकृति के विपरीत था। किंतु मनुष्य-जीवन की प्राकृतिक परिस्थितियों से भिन्न, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ विभिन्न युगों में एक दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि प्रत्येक युग की परिस्थितियों पर एक ही सिद्धांत लागू नहीं हो सकता।[६] अतएव ब्रेडले महोदय की ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पूर्णतया तर्कसम्मत नहीं कही जा सकती।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इतिहासकार को अपने प्रमाण-पुरुषों के कथनों में से महत्वपूर्ण एवं प्रमुख कथनों के संचयन के अतिरिक्त दो पद्धतियों से अपने प्रमाण-पुरुषों के कथनों की सीमा का अतिक्रमण करना चाहिए। प्रथम पद्धति आलोचनात्मक है, जिसकी व्याख्या का प्रयत्न ब्रेडले महोदय ने किया है तथा दूसरी पद्धति रचनात्मक है। जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, रचनात्मक इतिहास, प्रमाण-पुरुषों के कथनों तथा उनके द्वारा संकेतित अन्य कथनों के बीच प्रक्षेप (इंटरपोलेशन) है। तदनुसार, यदि हमारे प्रमाण-पुरुष यह कहते हैं कि महात्मा बुद्ध एक दिन वैशाली में थे और बाद के किसी दिन पाटलिपुत्र में थे और इन दोनों स्थानों के बीच उनकी यात्रा के संबंध में कुछ नहीं बताते, तो हम अपने विवेक से उस बीच की उनकी यात्रा को कल्पना से पूरा कर सकते हैं।

प्रक्षेप के इस कार्य में दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं। प्रथमतः, यह किसी प्रकार, स्वच्छंद अथवा मात्र काल्पनिक नहीं हैं वरन अपरिहार्य हैं। कांट की शब्दावली में इसे 'प्रागनुभव' (अ प्रॉयराइ) कह सकते हैं। यदि हम महात्मा बुद्ध के कार्यों के वृतांत्तों को अपने काल्पनिक विवरणों, जैसे उन मनुष्यों के नाम जिनसे बुद्ध मार्ग में मिले थे, उनके पारस्परिक संवाद आदि से भरते हैं तो यह संरचना स्वच्छंद होगी। वास्तव में यह ऐसी संरचना होगी जो ऐतिहासिक उपन्यासकार द्वारा की जाती है। किंतु यदि इतिहासकार की संरचना में ऐसी ही बातें सम्मिलित हैं जिनको साक्ष्य के आधार पर मान लेना अनिवार्य हो जाता है तो यह एक प्रकार का यथार्थ ऐतिहासिक निर्माण है जिसके बिना इतिहास हो ही नहीं सकता। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इतिहास के रचनाक्रम में साक्ष्य स्वयं अपने को विस्तारित और संगठित करने की प्रेरणा इतिहासकार को देता है। जो इतिहासकार साक्ष्य का जितना अनुसरण करता है, वह उतना ही प्रामाणिक माना जाता है।

द्वितीयतः, इस पद्धति में जो कुछ निर्णीत है वह अनिवार्यतः काल्पनिक है। यदि हम समुद्र की ओर दृष्टिपात करते हैं और एक पोत को देखते हैं; और पाँच मिनट पश्चात पुनः दृष्टिपात करते हैं और एक अन्य स्थान पर उसे देखते हैं तो हम इस बीच की अवस्था की, जिसे हम नहीं देख रहे थे, कल्पना करने के लिए वाध्य हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि हमसे कहा जाता है कि बुद्ध अमुक क्रमिक कालों में अमुक-अमुक स्थानों पर रहे तो हम एक स्थान से दूसरे स्थान की उनकी यात्रा की कल्पना करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

---

[६] वही, पृष्ठ ३९।

कॉलिंगउड ने उपर्युक्त दोनों विशेषताओं से समन्वित इतिहासकार की इस क्रिया-शक्ति को 'प्रागनुभव कल्पना' नाम दिया है। वस्तुतः यह 'प्रागनुभव कल्पना' ही इतिहासकार की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह प्रमाण-पुरुष के कथनों के बीच के रिक्त स्थानों को भर सकता है और ऐतिहासिक वर्णनों अथवा वृत्तांतों के नैरंतर्य को बनाये रख सकता है। इतिहासकार को अपनी कल्पना का प्रयोग करना चाहिए, यह एक सामान्य प्रकरण है। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मेकाले ने अपने 'इतिहास' शीर्षक एक निबंध में लिखा है: "अपने वर्णन को प्रभावशाली एवं आकर्षक बनाने के लिए एक कुशल इतिहासकार में सशक्त कल्पना का होना अति आवश्यक है।"[७] किंतु इस प्रकार का कथन इतिहास-संरचना में इतिहासमूलक कल्पना के योगदान का अल्पानुमान करता है जो वास्तव में आलंकारिक नहीं वरन रचनामूलक होती है। इसके बिना इतिहासकार के पास अलंकृत करने के लिए कोई वृत्तांत ही नहीं रह जाता। इतिहास-संरचना में यह कल्पना अनिवार्य है जो स्वच्छंद कल्पना की भाँति चंचल एवं अस्थिर न हो कर अपने 'प्रागनुभव' रूप में इतिहास विषयक रचना का संपूर्ण कार्य संपादित करती है।

इस संबंध में यहाँ दो भ्रांत धारणाओं के उत्पन्न हो जाने की संभावना है। प्रथम तो यह सोचा जा सकता है कि कल्पना द्वारा हम केवल उसी को अपने समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं जो अवास्तविक और काल्पनिक है। यह धारणा एकांगी और एकपक्षीय है। इतिहास-संरचना में इस प्रकार की कल्पना का न तो कोई महत्व है, न कोई उपयोग। यदि मैं यह कल्पना करता हूँ कि मेरा एक मित्र, जो थोड़े समय पहले मेरे घर से गया है, अब अपने घर में प्रविष्ट हो रहा है तो मेरी यह कल्पित बात घटना की यथार्थता पर अविश्वास करने का कोई कारण उपस्थित नहीं करती।

द्वितीयतः, 'प्रागनुभव कल्पना' का उल्लेख असंगत या असद्भासपूर्ण प्रतीत हो सकता है। क्योंकि यह सोचा जा सकता है कि कल्पना मूलतः चंचल, उच्छृंखल एवं अस्थिर मन की अस्थिर उपज है। यह धारणा भी एकांगी है। इतिहास संबंधी कार्य के अतिरिक्त 'प्रागनुभव कल्पना' के दो अन्य महत्वपूर्ण कार्य हैं। एक कार्य स्वतंत्र है किंतु किसी भी अर्थ में उच्छृंखल नहीं है, जैसे कलाकार का परिकल्पन। एक उपन्यासकार उपन्यास-लेखन में किसी कहानी की रचना करता है जिससे विविध पात्र विविध रूप में आ कर कहानी में भाग लेते हैं। यद्यपि सभी पात्र और घटनाएँ सामान्य रूप से काल्पनिक होती हैं तथापि उपन्यासकार का संपूर्ण उद्देश्य कार्यरत चरित्रों तथा विकसित होती हुई घटनाओं को उनकी आंतरिक आवश्यकता द्वारा निश्चित क्रम में प्रदर्शित करना होता है। कथा, यदि वह एक अच्छी कथा है तो, जिस रूप में विकसित होती है उसकी अपेक्षा किसी अन्य रूप में वह विकसित हो ही नहीं सकती; और जिस प्रकार उसका विकास होता है उससे भिन्न प्रकार के विकसन की कल्पना उपन्यासकार कर ही नहीं सकता। इस विषय में इसी के सदृश अन्य दूसरी कलाओं में भी 'प्रागनुभव कल्पना' कार्य करती है। प्रागनुभव कल्पना का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है संभव बोधक्षमता के विषयों का, जो वास्तव में

---

[७] **मेकाले : 'एसे ऑन हिस्ट्री', पृष्ठ ७२।**

अनुभूत नहीं हैं, प्रस्तुतीकरण तथा संपूर्ति। इसे हम प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक परिकल्पना कह सकते हैं। जैसे पृथ्वी के अंतर्गत अथवा चंद्रमा के पृष्ठ भाग के प्रत्यक्ष दर्शन की कल्पना करना। इतिहास-मूलक कल्पना, इन कल्पनाओं से प्रागनुभव होने के अर्थ में भिन्न नहीं है, वरन इस अर्थ में भिन्न है कि उसका विषय अतीत है जो हमारी संभव बोधक्षमता से परे है। यद्यपि अब उस अतीत का अस्तित्व नहीं है, किंतु कल्पना द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है।

इस प्रकार, इतिहासकार द्वारा निर्मित अपने विषय का चित्र, चाहे वह घटनाओं की शृंखला का हो अथवा कार्यों की अतीतावस्था का, उसके प्रमाण-पुरुषों के कथनों द्वारा प्रस्तुत निश्चित रूप से निर्धारित बिंदुओं के बीच फैले हुए कल्पनात्मक संरचना के एक जाल की तरह प्रतीत होता है; और यदि ये बिंदु अत्यधिक समीपस्थ हैं तथा प्रत्येक से उसके आसन्न बिंदु पर ताने हुए जाल-सूत्र सतर्कता के साथ प्रागनुभव कल्पना द्वारा—कभी भी केवल स्वच्छंद कल्पना द्वारा नहीं—बनाये जाते हैं तो संपूर्ण चित्र इन सामग्रियों पर पुनर्विचार करने से निरंतर सत्य प्रमाणित होता है और यथार्थ का प्रदर्शन अधिक स्पष्टता से करते हैं। इस संदर्भ में यह बात स्मरणीय है कि प्रमाण-पुरुषों के कथनों द्वारा निर्धारित बिंदु, जिन पर इतिहासकार अपनी इतिहासमूलक कल्पना का जाल बनाता है, तभी तक यथार्थ एवं वास्तविक हैं जब तक कि वे उसके आलोचनात्मक चिंतन की सीमा में आते हैं। उसके बाहर उनका कोई महत्व नहीं; अतः वे असत्य से भिन्न नहीं हैं।

स्वयं ऐतिहासिक चिंतन के अतिरिक्त अन्य ऐसा कुछ नहीं है जिस पर पुनर्विचार करने से उसके परिणाम या निष्कर्ष सत्य प्रमाणित हो सकते हों। इतिहासकार ठीक उसी ढंग से सोचता है जिस ढंग से जासूसी उपन्यास का नायक सोचता है। जिस प्रकार जासूसी उपन्यास का नायक विविध प्रकार के प्राप्त संकेतों द्वारा अपराध-घटना का एक काल्पनिक चित्र निर्मित करता है और अपराधी का निश्चय करता है, उसी प्रकार इतिहासकार भी इतिहास की प्राप्तव्य सामग्री द्वारा इतिहास के संपूर्ण चित्र का अपनी कल्पना से निर्माण कर उसकी सत्यता को प्रदर्शित करता है। प्रारंभ में यह सत्य समर्थन की प्रतीक्षा करता हुआ एक सिद्धांत मात्र होता है जो शून्य से उद्भूत होता है। जासूस के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उस साहित्यिक रूप (जासूसी उपन्यास) की स्वीकृत पद्धतियाँ आदेश देती हैं कि: जब उसकी रचना पूर्ण हो जाएगी तब अपराधी किसी परिस्थिति विशेष में आ कर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा और उस परिस्थिति विशेष का औचित्य शका से परे हो जायेगा। किंतु इतिहासकार जासूस की अपेक्षा कम भाग्यशाली होता है। यदि अब तक के प्राप्तव्य सूचनाओं एवं प्रमाणों के अध्ययन के पश्चात उसे यह निश्चय हो जाय कि कालिदास के नाटकों को भास ने लिखा अथवा अशोक ने अपने पिता की हत्या के पश्चात शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया तो उसे इस तथ्य को स्वीकार करने वाला उनका कोई स्वहस्तलिखित प्रमाण पाना आवश्यक है। अन्यथा वह अपने निष्कर्षों को किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकेगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इतिहासकार प्रमाण-पुरुषों द्वारा निर्धारित घटना-बिंदुओं के बीच की दूरी को अपनी कल्पनात्मक संरचना-जाल से भरता है। कल्पनात्मक संरचना

का संपूर्ण दायित्व तो उस पर रहता ही है, प्रमाण-पुरुषों द्वारा कथित घटना-बिंदुओं के निर्धारण का दायित्व भी अपरोक्ष रूप से उसी पर रहता है। अपने तथाकथित प्रमाण-पुरुषों के कथनों को चाहे तो वह स्वीकार करे या अस्वीकार करे, उन्हें संशोधित करे, या उनकी पुनर्व्याख्या करे; वास्तव में प्रमाण-पुरुषों के कथनों की सम्यक आलोचना करने के पश्चात जिस वर्णित वस्तु की रूपरेखा वह तैयार करता है, उसका दायित्व उसी पर होता है। उसकी वर्णित वस्तु या कथन की कसौटी यह बात कदापि नहीं हो सकती कि वह प्रमाण-पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार, इतिहासकार द्वारा निर्मित अतीत का चित्र उसकी निजी प्रागनुभव कल्पना की उपज है जिसकी अपनी संरचना में प्रयुक्त साधनों का औचित्य-प्रदर्शन आवश्यक है। ये साधन वस्तुतः मूल स्रोत होते हैं, अर्थात उन पर केवल इसलिए विश्वास किया जाता है कि वे इतिहासकार की दृष्टि में न्यायसंगत हैं। क्योंकि कोई भी साधन या स्रोत दोषपूर्ण हो सकता है, हो सकता है कि अभिलेख पढ़ने वाले ने ग़लत पढ़ा हो अथवा असावधान संगतराश ने ग़लत लिख दिया हो। कुशल इतिहासकार को इसी प्रकार के दोषों तथा अन्य भ्रांत कथनों का अनुसंधान एवं संशोधन करना होता है। वह ऐसा केवल तभी कर सकता है जबकि इस बात पर वह विचार करे कि अतीत का वह चित्र जिसकी ओर साक्ष्य उसे ले जाते हैं, तर्कसंगत, समुचित अविच्छिन्न तथा सार्थक है। प्रागनुभव कल्पना, जो इतिहास की संरचना करती है, इतिहास की समालोचना के साधन भी प्रस्तुत करती है।

बाह्य साधनों से संग्रहीत किंतु स्वतंत्र, इतिहासकार द्वारा निर्मित, अतीत का चित्र इस प्रकार प्रत्येक विवरण में एक काल्पनिक चित्र होता है और प्रत्येक बिंदु पर इसका प्रयोजन प्रागनुभव कल्पना का प्रयोजन होता है। जो कुछ भी उसके भीतर समाविष्ट होता है, वह इस-लिए नहीं कि उसकी कल्पना निश्चेष्ट रूप से उसे स्वीकार कर लेती है, वरन इसलिए कि वह उसको सक्रिय रूप से चाहती है, उसकी माँग करती है।

यहाँ इतिहासकार और उपन्यासकार के बीच का सादृश्य, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। दोनों के कार्य-व्यापार का लक्ष्य एक ऐसा चित्र बनाना होता है जो कुछ अंशों में घटनाओं का विवरण होता है, तथा कुछ अंशों में परिस्थितियों का वर्णन, भावनाओं का प्रदर्शन एवं चरित्रों का विश्लेषण। प्रत्येक का लक्ष्य अपने चित्र को पूर्ण रूप से सामंजस्यपूर्ण एवं सुसंगत बनाना होता है जहाँ प्रत्येक चरित्र और प्रत्येक परिस्थिति शेष से ऐसी बँधी हुई होती है कि वह चरित्र इस परिस्थिति में वैसा कर ही नहीं सकता वरन करता है। हम दूसरे रूप में उसके करने की कल्पना भी नहीं कर सकते। उपन्यास तथा इतिहास दोनों ही बोधगम्य और सार्थक होने चाहिए। दोनों के लिए जो कुछ आवश्यक है उसके अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। दोनों अवस्थाओं में इस आवश्यकता की निर्णायिका है कल्पना-शक्ति। उपन्यास और इतिहास दोनों ही आत्मव्याख्यात्मक, आत्मौचित्यविधायक तथा आत्मशासित सक्रियता की उपज हैं और दोनों स्थिति में यह सक्रियता प्रागनुभव कल्पना है।

जहाँ तक कल्पना के कार्य का संबंध है, इतिहासकार तथा उपन्यासकार के कार्यों में कोई भेद नहीं है। भेद उनमें यह है कि इतिहासकार का चित्र सत्य का प्रकाशन करता है। उपन्यास-

कार के सम्मुख केवल एक कार्य होता है। वह कार्य है ऐसे सामंजस्यपूर्ण एवं संश्लिष्ट चित्र का निर्माण जो बोधगम्य एवं सार्थक हो। इतिहासकार का दुहरा कार्य होता है और दोनों को उसे करना पड़ता है। उसे उन परिस्थितियों तथा घटनाओं का चित्र निर्मित करना होता है जैसा वे वस्तुतः रहीं तथा घटित हुई थीं। यह अतिरिक्त अनिवार्यता उस पर रचना-प्रणाली के कुछ विशिष्ट नियमों के पालन का दायित्व आरोपित करती है जिससे उपन्यासकार या कलाकार मुक्त रहता है। हाँ, यदि उपन्यासकार ऐतिहासिक कथावस्तु को लेता है तो उसे भी कुछ अंशों में दुहरा दायित्व निभाना पड़ता है।

इतिहास में (अन्य गंभीर विषयों में भी) कोई भी उपलब्धि अंतिम नहीं होती। किसी भी समस्या को सुलझाने के निमित्त प्राप्तव्य प्रमाण ऐतिहासिक पद्धति के प्रत्येक परिवर्तन तथा इतिहासकारों के सामर्थ्य-सीमा के उतार-चढ़ाव के साथ बदलते रहते हैं। जिन सिद्धांतों की कसौटी पर प्रमाण परखे तथा व्याख्यापित किये जाते हैं, वे भी बदलते रहते हैं; क्योंकि प्रमाण की व्याख्या करना एक ऐसा कार्य है जिसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तत्संबंधी अपने संपूर्ण ज्ञान अर्थात इतिहास विषयक ज्ञान, मानव और प्रकृति के ज्ञान, गणित के ज्ञान, दर्शन के ज्ञान आदि को प्रस्तुत करे। और, मात्र ज्ञान ही क्यों, प्रत्येक प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों और स्वत्वों का प्रस्तुतीकरण भी आवश्यक है, और ये सब चीज़ें ऐसी हैं जो निरंतर परिवर्तित होती रहती हैं।

किंतु न तो इतिहासविषयक ज्ञान का उपादान अर्थात बोधक्षमता की सीमा में आने वाला वर्तमान सामग्री का विवरण और न प्रमाणों की व्याख्या में सहयोग देने वाली इतिहासकार की प्रतिभा ही उसके ऐतिहासिक सत्य की कसौटी प्रस्तुत कर सकती है! जैसा कॉलिंगउड ने संकेत किया है, इस सत्य की कसौटी वस्तुतः अतीत के काल्पनिक चित्र का निदर्शन, इतिहास का प्रत्यय स्वयं ही है। इतिहास का यह प्रत्यय या विचार अंतर्जात एवं प्रागनुभव है। यह मनोवैज्ञानिक कारणों की एक आकस्मिक उपज नहीं है। यह एक ऐसी भावना है, एक ऐसी मानसिक रूपरेखा है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान का अंग बना कर रखता है। इस कोटि की अन्य भावनाओं अथवा विचारों की भाँति यह एक ऐसा विचार है जो अनुभूत तथ्यों के ठीक-ठीक समरूप नहीं होता। कोई भी इतिहासकार, चाहे वह कितना भी निष्ठापूर्वक और दीर्घ अवधि तक कार्य करे, यह नहीं कह सकता कि उसका कार्य अंतिम रूप से पूर्ण हो गया है और उसके द्वारा निर्मित अतीत का चित्र ठीक वैसा ही है जैसा उसे होना चाहिए। किंतु वह भावना अथवा कल्पना, जो इतिहास की धारा को शासित करती है, स्पष्ट, युक्तिपूर्ण एवं सार्वभौमिक होती है, हालाँकि इतिहासकार के कार्य के परिणाम, दोषपूर्ण एवं अपूर्ण हो सकते हैं। वस्तुतः यह भावना इतिहासमूलक कल्पना का एक आदर्श है जो चिंतन के आत्मावलंबी, आत्मनिश्चायक एवं आत्मसमर्थक रूप की भाँति होती है।[८]

—६८ रामबाग, इलाहाबाद-३।

---

[८] **कॉलिंगउड : आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, पृष्ठ २४८–९।**

कृष्णनंदन 'पीयूष'

• •

तीन छोटी कविताएँ

आकाशदीप

चलो न,
आकाशगंगा में नहा आयें हम दोनों;
कलंकी बादलों ने तुम्हें छूआ भर था
(मुझे तो बिजलियों ने डँस ही लिया था)
फिर भी हम जीवित रहे;
समय की नील सर्पिल लहरियों में नाव खेते रहे
दूर का कोई स्वप्नवाही पोत कहीं भटक न जाये,
इसीलिए तूफ़ान में भी हम आकाशदीप बालते रहे

उपेक्षा

रोज ही कितने पत्र तुम्हें लिखता हूँ :
दूर जाने वाला हर दिशा-भ्रमित खग
मेरा ही संदेशा ले जाता है;
रात की तनहाई में जाती हुई हवा से पूछना,
मेरा ही संदेश वह ढोती है;
पर एक तुम हो !
जो उत्तर क्या दे पायीं ?
पत्र पढ़-पढ़ कर फेंक दिये जो तुमने,
वही मेरी मेज पर धूल बन लौट आयी !!

सहज ज्ञान

सत्य सदा नन्हा होता है
वट-वृक्ष के बीज-सा,
व्याख्या होती है बड़ी--
डालियाँ, पत्ते-छायातप-सी !
पर हम जो छतरी तानने वाले हैं
व्याख्या को ही ज्ञान समझते हैं,
अन्वय, टीका, भाष्य को ही
सत्य की पहिचान समझते हैं !
अजीब बात है यह :
टहनियों को ही मूल मान बैठे हैं :
अपने अज्ञान को ही ज्ञान मान ऐंठे हैं !!

•

मिरजान हाट,
भागलपुर-१।

●●

छायाएँ गिरती हैं

●

हाँ, हो हताश। फिर ललक भरे। फिर स्पंदित
हलके, हलके, हलके
छलके कंपन में,
मन्मथित, तीव्र भावावेगों में
व्याकुल, व्याकुल, व्याकुल,
तुम किसको ढूँढ़ रही हो
तुम किसको ढूँढ़ रहे हो
नारी, नारी, नारी
और पुरुष-शिशु ?
आओ,
आओ संगीत-लयों में लिपटे हम खो जायें
सूखे, हरियाले मैदानों के पार
नदियों के तट पर बैठे
हौले-हौले हम चले जाँय अंधे गर्भों में
संगीत, रहःआलाप रहें, पदचाप रहें
लयबद्ध साथ उठती-गिरती
उठती-गिरती
वेलाएँ रहें समय देती
बेछोर, दिशाएँ सदा रहें राहें गढ़ती
हम रहें मकानों में आश्वस्त, सुरक्षित
चिमनियाँ सुबह औ' शाम
धूँआ नभ में बिखेरती रहें...
वह गिरती है,
वह उठा रहा है उसको बाँहों से, झुक कर
रुक कर, रुक कर, रुक कर,
वह उठती है...
पाँवों में हो कर लोट-पोट वह
बाल नोचता है अपने,
वह नहीं पिघलती;
तनी खड़ी है एक दिशा में देख रही है,
फिर बालों में उँगलियाँ फँसा
उसको समेट लेती है अपने वक्षस्थल में।
छायाएँ गिरती हैं...
हम गुजर रहे हैं एक दूसरे की बगलों से
सदा-सदा से, संध्या की धुँधली छाया में
संधिप्रकाश, प्रकाश, प्रकाश
वेला में
हो कर हताश। फिर ललक भरे। फिर स्पंदित
हलके, हलके, हलके
छलके कंपन में,
मन्मथित, तीव्र भावावेगों में
व्याकुल, व्याकुल, व्याकुल,
तुम किसको ढूँढ़ रही हो
तुम किसको ढूँढ़ रहे हो
नारी, नारी, नारी
और पुरुष-शिशु ?

ग्रीष्म

●

पत्तों के अंतहीन
गिरने के सदृश
लिखीं मैंने
कविताएँ।
बहुत दिनों से
मैंने नहीं लिखी कविता कोई भी।
पर लगता है (शब्दहीन...)
अब भी कहीं
गिर रहे हैं पत्तों पर पत्ते! ...

●

८८८ कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद-३।

भक्त विनायक

●

कहानी

अंधड़ और छप्पर

——"ए बुड्ढे, केवल पाँच ईंट लाता है और पटकता है इतनी ज़ोर से कि. . . .बंद कर देंगे कल से।"

"अरे राजा. . . ."—आगे परमेसुरी कुछ कह नहीं सका। मूँछों में ही हँसा कि इकट्ठा की हुई सुर्ती की पीक से लार टपक पड़ी। खखार कर ज़ोर से थूका और सिर से गमछा उतार कर मुँह पोंछ लिया। बगल में खिलखिला कर ईंटें पटकते हुए मंजी ने कहा: "हट रे बुढ़वा।"

ज़िंदगी में केवल दो काम किया है परमेसुरी ने——गाड़ी हाँकना और कहानी कहना। और इनमें उसे कलाकार का आनंद मिला है। अगर उसकी जवानी में इनमें से कोई एक छूट जाता तो वह ज़िंदा न रहता। अब तो दोनों में से एक भी नहीं रहा, पर वह ज़िंदा है। ज़िंदा ही नहीं, जीवित रहने की पूरी लालसा उसके मन में है, और किसी से कम नहीं। ईंटें ढोना वह क्या जाने?

अपनी गाड़ीवानी की ज़िंदगी में मंजी जैसी कितनी छोकरियों को बोली बोलते हुए उसने रुला कर छोड़ा है, कितनी को लुभा कर अपने गले पर। दूर से ही घसियारिनों को देख कर बिरहे की कोई कड़ी उभारता। दायें हाथ का कुहनी के आगे का हिस्सा खुरपी सहित उनके सिर पर रहता और वे परमेसुरी की गाड़ी की ओर मुँह कर के खड़ी हो जातीं। उनके बीच से टेरता और टिटकारता निकल जाता वह—धीना वाला गाड़ीवान।

एक पेड़ की आड़ में बैठ कर परमेसुरी सुस्ताने लगा। दूर पर ही मंजी अपनी सहेलियों के साथ तमाशा देखने के लिए खड़ी हो गयी।

"अरे बुड्ढ़ा, भगवान के काम में भी जँगरचोरी करता है! कैसे पचेगा?"

दोपहर में काम बंद हुआ तो वह मंगला को देखने के लिए गिरता-पड़ता भगा। सचमुच, इसकी आधी तेज़ी से भी वह भगवान के मंदिर के लिए ईंटें नहीं ढोता रहा।

पहुँचते ही बुड्ढा टटोल कर लड़के का शरीर देखने लगा। वह एक पुश्तैनी पंखे से हवा कर रहा था: "कहीं दरद तो नहीं है?"

"नहीं काका।"

"तबीयत खूब हल्की है?"

"एकदम।"—फिर उसने हुलास के साथ पूछा: "आज तो रोटी-जूस मिलेगा काका?"

"जरूर!"—कहते हुए परमेसुरी वहीं खटिया की पाटी पकड़ कर बैठ गया। आया था तभी से, बहुत ज़ोर की धूप लगने के कारण आँखों से दिखायी नहीं पड़ रहा था। अब धीरे-धीरे कुछ सूझने लगा। वह मंगला के हाथ से ले कर पंखा झलने लगा।

"मैं बहुत दुबरा गया काका?"

"हाड़ रहेगा तो मांस हो जायेगा।"—वह फिर बायें हाथ से लड़के का शरीर टटोलने लगा: "एकदम गल गये।"

दोनों के बीच बहुत देर तक बातें होती रहीं। विषय बराबर बदलते रहे। उसी दौरान में परमेसुरी ने एक बार फिर हीरा के मरने की बात आँखें पोछते हुए चलायी। यह भी बताया कि उसके मरने के बाद किस प्रकार तुम्हारी माँ तुम्हें ले कर भगी जा रही थी। पर गाँव वालों ने पकड़ा। मैंने तुम्हें छीन लिया। फिर भी वह रुकी नहीं, चली गयी। एक बार फिर परमेसुरी ने मंगला का मुँह चूम लिया। "तुम्हें ले कर चली जाती तो मेरा बंस ही डूब गया होता। मुझे कौन पानी देता?"—बुड्ढे ने यह भी विचार प्रकट किया कि अगले साल तुम्हारा ब्याह ज़रूर कर दूंगा। ज़िंदगी का कोई ठिकाना नहीं, कब लुढ़क जाऊँ! जीते जी तुम दोनों को एक साथ देख लूँ।

अगर बात नहीं हुई तो केवल एक विषय पर। जानते हुए भी दोनों ही मौन रहे। चर्चा करने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ी। पता नहीं, किसे कहाँ चोट लग जाय! मंगला में इतना साहस नहीं हुआ कि पूछ सके, काका कुछ खाया। और बुड्ढे की इतनी हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि अपनी ओर से कह दे, बेटा शाम को जूस दिया जायेगा।

परमेसुरी की वारिस वाली बात पर मंगला अपना दिमाग़ लड़ा रहा था।—किसके लिए? कौन-सी ऐसी संपत्ति गँजी है, जिसे बेलसना है। क्या भूखों मरने के लिए भी आदमी को वारिस चाहिए? माँ के साथ चला गया होता तो. . . .पर वहाँ कौन-सा राज रजता? पराया बाप! यहाँ कुछ भी है तो खून का रिश्ता है।

मंगला क़स्बे के हाई स्कूल में पढ़ता है। एक साल फेल नहीं हुआ होता तो इस वर्ष फ़ाइनल परीक्षा की तैयारी करता। सात-आठ बरस की अवस्था तक क़स्बे में घूम-घूम कर पैसा माँगता और गाली-गलौज करता। आँखें मटका-मटका कर सिनेमा के गाने रस ले-ले कर गाता। कोई नयी बात—सजे-सँवरे जोड़े, ओहार पड़े इक्के-रिक्शे—देखता तो दूसरी ओर मुँह कर के सीटी मारता। परमेसुरी बुलाने जाता तो उसे चिढ़ाते हुए उड़नछू हो जाता। सूरज-डूबे, कभी-कभार घंटों रात गये, घर लौटता। परमेसुरी खाना नहीं देता, रस्सी में बाँध कर खूब पीटता। मंगला थूक कर चाटता तो कहीं जा कर छूटता। पर सुबह उठते ही सारी प्रतिज्ञा

टूट जाती। लेकिन रमाधीन दूबे के पाले जो पड़ा तो उन्होंने कूट कर उसे आदमी बना दिया। अपने स्कूल में ज़बरदस्ती उसका नाम दर्ज किया। एकाध किताब-कापी की मदद कर देते, किसी लड़के से ही माँग कर। जब तक उनके स्कूल में रहा, फ़ीस माफ़ थी। जवानी में एक बार दूबे महाराज की ऊख परमेसुरी ने मिल तक पहुँचायी थी, उसकी नेकी वे ज़िंदगी भर मानते रहे।

अब तो मंगला सयाना ही नहीं, लोगों की दृष्टि में समझदार भी हो गया है। कभी-कभार परमेसुरी खुद कहता है, तुम्हारी उमिर में हम लोग दिन-भर गुल्ली-डंडा खेलते थे। वह अपनी उस उम्र की कितनी ही रोमांचकारी घटनाएँ नमक-मिर्च लगा कर घंटों सुनाता है। दोनों मित्र-भाव से रस लेते हैं। छुट्टी के दिनों में खुद रिक्शा चलाता है मंगला। दस-पंद्रह दिन दशहरे-दीवाली की छुट्टी, डेढ़ महीने का ग्रीष्मावकाश। इतने का उपयोग वह मिहनत करके पैसा कमाने में करता है, ताकि पढ़ाई के दिनों में किसी तरह बीत सके। उसी में बूढ़े का भी तो गुजर करना है। कुछ करने लायक़ नहीं है, लेकिन छाया तो किये हुए है।

मंगला के पानी माँगने पर परमेसुरी ने अलमुनिया के गिलास में हँडिया से पानी उँड़ेल कर दिया। वह गटर-गटर पी गया। बूढ़ा वहीं पसर कर सो गया।

दो घंटे बाद परमेसुरी निकला तो मंगला से कहता गया, संझा बेला जल्दी ही लौटूँगा। ज्यादे हड़बड़ाना नहीं। आसमान की ओर देखा तो काफ़ी धुंध दिखायी दे रहा था।

पैसे की लालच में एक दिन खूब जम कर रिक्शा चला देने के कारण मंगला की तबीयत ख़राब हो गयी। धूप में शहर से क़स्बे का दो चक्कर लगाया। उस दिन गर्मी ख़ूब बढ़ गयी थी। रिक्शा खड़ा कर के नाली में दोनों पैर डाल कर ठंढाता रहा, ताव लग गया। आज पनरहिया हो रहा है, कमाई तो सब खतम, कर्ज ने भी धावा बोल दिया है। लाचार हो कर परमेसुरी को कुछ करना पड़ा। अपने तो भूखों भी रह सकता है। पर मंगला के लिए कुछ जुगाड़ बैठाना चाहिए। गोबरधन साहु के यहाँ धरम का काम चल रहा है। वहीं लगा-लपटा कुछ पा जाता है। कोई हिसाब नहीं, वही चना-चबेना भर को।

गोबरधन साहु. . . .गोबरा. . . .टिकुलिया पाढ़ा की कितनी ही बातें घुमड़ती हैं, परमेसुरी के मन में। टिकुलिया पाढ़ा बहुत बड़ा अड्डा हो गया था, परमेसुरी के गाड़ीवानी के दिनों में. . . .यह नाम कैसे पड़ा ? बस इतना मालूम है, गोबरा एक औरत भगा कर ले आया और सड़क के किनारे, दो ही दिनों में आम से लगी एक मामूली-सी दुकान खड़ी कर ली। बीबी और दूकान दोनों को ख़ूब सजाता। मूँगफली, लेमनचूस, गुड़, रेवड़ी, लकठा, तरह-तरह का भूँजा सजा कर बैठती वह और उसके माथे पर पैसे बराबर (नये नहीं) टिकुली. . . .

क़स्बे के मनचले छोकरे और स्कूली लड़कों के लिए तो वह एक ख़ासा अड्डा हो गया था। खेत की ओर निकले हुए किसान भी दो-चार मिनट हँस-बोल लेते। आटा, चावल, आलू, गोइठा आदि भी रखने लगी। रात को भी राही-बटोही रुकने लगे।

परमेसुरी साथियों सहित रात का बसेरा वहीं लेता। लिट्टी-चोखा लगता और कहानी जहाँ से छूटी रहती, फिर उठायी जाती। रानी सारंगा, सोरठी-बृजभार, राजा ढोलन, सब उसकी ज़बान पर, क्षेपक के साथ। ख़ूब रस ले-ले कर पात्रों को गालियाँ देते हुए कहता। बीच-बीच में

गाते समय फूली वाली आँख को चाँपे कानों में उँगली डाल कर ललकारता, तीर की तरह स्वर ऊपर चढ़ता और आसमान में मँड़राने लगता। आसपास के चार-छह गाँव के लोग कान लगाते, चला है धीना वाला. . . .

. . . .सिव के मंदिर में सदाबिरिज बैठा होगा। मेरा नान्हे का मीत, संरगा ने मन में सोचा और कहाँरों से बोली :

गोड़ तोर लागीला अगिला कँहरवा ये प्यारे
सुनि लेहु अरज हमार जी,
तनी एक डड़िया छिपवता ये बाबा प्यारे
सीब पूजनि हम जाब जी।

क़स्बाती छोकरों ने जब गोबरा के ख़िलाफ़ बखेड़ा खड़ा किया तो परमेसुरी ही उनके सामने डटा था। गोबरा वो ने आड़ में ले जा कर कहा था : मैं तुम्हारी नेकी कभी नहीं भूलूंगी। उसकी टिकुली चमक रही थी, दाँत खिले हुए थे और आँखें हँस रही थीं।

तीन दिन घूमते रहने पर भी जब कहीं कर्ज़ नहीं मिला तो राधाकृष्ण के मंदिर पर काम करने चला परमेसुरी। गोबरधन साह ईंट नहीं छूने देते थे : "तू तो एक लड़का बरोबर भी काम नहीं करेगा। चार पैसे को मँहगा है।"

"पुन्न होगा सरकार। छोकड़े को जूस देना है।"

"पुन्य ले कर क्या करेंगे ?"

अब तो गोबरा नहीं, गोबरधन साह हो गया है। टिकुलियापाढ़ा कभी का उजड़ चुका। क़स्बे में एक बड़ी-सी आढ़त खुल गयी है। उन्हीं के यहाँ परमेसुरी को भी दो पैसा मिल जाता है। गोबरा ने रोज़गार शुरू किया था। परमेसुरी अपनी रोज़ी के फेर में रहता। दस-बीस नहीं, पचास साल तक हाड़-तोर मेहनत की है परमेसुरी ने। उसी में पसीने के साथ उसका सब कुछ बह गया। और उतने ही समय में डंडी मारने वाला गोबरा, गोबरधन साह हो गया। लेकिन परमेसुरी का क्या क़सूर ? वह हरदम पसीना बहाने के लिए तैयार है। मूँछों का गुर्रा दिये, तोंद पर हाथ फेरते कभी-कभी गोबरधन साह निकलते, तो कमर झुकाये हुए परमेसुरी उनका मुँह ताकता रह जाता, कोई बात कहने के लिए। परमेसुरी के लिए केवल जवानी थी, जिंदगी नहीं।

आसमान का धुंध और गहरा होता जा रहा था। उसका मन रह-रह कर मंगला पर टिक जाता। छप्पर बिल्कुल गल चुका है। किसी ओर से आड़ भी नहीं है। ज़रा पहले निकल चलता तो इधर-उधर से रस्सी बाँध कर ठीक कर देता। नहीं फिर आज घर भी उजड़ा। पर पैसा मिलने वाला है, चुपके जा भी नहीं सकते। उसी पैसे के भरोसे आज रोटी-जूस देना है।

परमेसुरी को सात आने पैसे मिले, दो दिनों के। लाख चिरौरी करने पर भी अठन्नी नहीं हुई, दो पैसा और मिल गया। उतने में ही भगवान से दुआ देने को मनाता हुआ वह दुकान की ओर चला। रास्ते में कौलूसिंह मिल गये, बचपन के लँगोटिया यार। रेलवे में पैटमैन थे।

रिटायर हो कर घर आये हैं, पिंसिन मिलती है। परमेसुरी से साल-छह महीने छोटे हैं, पर हैं अभी काफ़ी हट्टे-कट्टे।

दोनों आदमी मिले तो परमेसुरी मँहगी की शिकायत करने लगा : "हर चीज़ में दो आना छह पैसा बढ़ा दिया है बनियों ने। किरासिन तेल की कुछ न पूछो। पाँच आने बोतल से सीधें साढ़ें सात आने कर दिया है। लूट मची है, लूट। और चीजों के बिना तो काम भी चल सकता है, पर तेल बिना कैसे चलेगा ?"

परमेसुरी मैली रस्सी में बँधी छूछी गंदी घरिया हाथ में लटकाये हुए था।

कौलूसिंह दीन-दुनिया की अधिक ख़बर रखते थे। बनियों की दुकान पर कभी अखबार पढ़ लेते। स्टेशन पर जाते तो गपसड़ाका में राजनीति-अर्थनीति की चर्चा सुनते। कुछ बोल भी देते: "सभी चीज़ों पर हर साल टैक्स बढ़ रहा है। सामान क्यों न मंहगा मिलेगा !"

"लेकिन किरासिन बिना काम कैसे चलेगा ?"—परमेसुरी ने भुनभुनाते हुए कहा: "आज अँजोरिया भी नहीं है।"

"मंगला की हालत कैसी है ?"

"ठीक है। कह तो रहा है, भूख लगी है। उसी के लिए दो दिन से मर रहा हूँ। अब हियाव एकदम नहीं करता।"

"हाँ,"—कौलूसिंह ने हुँकारी भरी: "और देशों में बूढ़ों को गुजारा मिलता है। जवानी में खटने के बाद आदमी कुछ दिन चैन करता है। पर यहाँ तो वही हय-हय खच-खच मरते दम तक।"

"आराम कहाँ,"—कहते हुए परमेसुरी ने पैर आगे बढ़ाया। आज कौलूसिंह से उसे ईर्ष्या हो रही थी। ज़िंदगी में उन्होंने सरकार का काम किया, उन्हें पिंसिन मिलती है। पर जितना मैंने किया, उतना वे सात जन्म में नहीं किये। वे तो साल में महीने पंद्रह दिन की छुट्टी ले कर आते और आराम से घर रहते। मेरे लिए तो आराम गऊमाँस। और मुझे बुढ़ापे में क्या मिला ? मेरे बच्चे के लिए पाव भर पिसान मोहाल है। मैंने सरकार का काम नहीं किया, लेकिन आराम भी नहीं किया। कोई मेरी हड्डियों से पूछे. . .परमेसुरी हीरा को पहले गाड़ीवान बनाना चाहता था। पर बाद में कौलूसिंह की पैंटमैंनी पर लट्टू हो गया। कौलूसिंह ने खुद लड़के को भर्ती कराने का ज़िम्मा लिया था, पहले महीने की तनख़्वाह की शर्त पर। लेकिन उस साल हैज़े में हीरा जाता रहा, परमेसुरी को ठोकर खाना बदा था जो।

आसमान का रंग और खराब होने लगा। परमेसुरी तेज़ी से घर की ओर बढ़ा। अँधेरा-सा छाने लगा था।

पहुँचते ही मंगला की देह और माथा छुआ : "अब तो एकदम ठीक है।"

"काका, जोरों की भूख लगी है।"—मंगला बड़ा ही खुश नज़र आ रहा था। परमेसुरी सामान जुटाने लगा। "काका, जो मुझे करना चाहिए, वह तुम्हें करना पड़ रहा है। बुढ़ापे में यही आराम दे रहा हूँ।"

"सब ठीक है।"—बुड्ढा रसोई में जुट गया। ढिबरी उठा कर देखा तो तेल नदारद। अब पछतावा होने लगा, क्यों न ले लिया, जो ही महँगा-सहता मिल रहा था। अब कैसे काम चलेगा ? पर लेता कैसे ? पिछला बकिऔता भी तो काट लिया। केवल डेढ़ पाव आटा दिया है ! चार पैसा परोरा के लिए भी नहीं छोड़ा।

परमेसुरी ने चूल्हा जलाया और दाल की हँड़िया उस पर रख दी। आँच खूब तेज़ लगा रहा था जिसमें ज़रा भी देर न हो। दाल में उबाल आ गया। वह सीझने लगी। पर देखते ही देखते अंधड़ आ गया। ऐसे में चूल्हा जला रखना खतरे से खाली नहीं था। एक भी चिनगारी उड़ी तो छप्पर जलते देर नहीं लगेगी। उसने चूल्हा बुझा दिया और दाल भीतर रख दी।

"हवा पट पड़ने दो, अभी बनाते हैं। घबड़ाना नहीं।"

मंगला ने कुछ भी नहीं कहा। पर अंधड़ का वेग बढ़ने लगा। छप्पर काफ़ी पुराना था। ज़ोरों से हिलता। बाहर से ढेरों धूल झोंक उठती।

"दाल अच्छी तरह से ढंक दो काका। धूल पड़ जाएगी तो खाने लायक नहीं रहेगी।"

परमेसुरी को सूझ नहीं रहा था। उसकी आँखें धूल से भर गयी थीं। उधर से चूर भी गिरता। फिर भी आँखें मलते हुए उठा। दाल को एक ओर अच्छी तरह ढँक कर रख दिया और थाली का आटा एक गमछी में बाँधने लगा। गमछी काफ़ी फट चुकी थी। किसी प्रकार एक कोने में आटा बाँध लिया।

अंधड़ रह-रह कर ज़ोर पकड़ रहा था। परमेसुरी मन ही मन डर रहा था, कहीं छप्पर न उड़ जाय या गिर पड़े और उसी के नीचे दोनों दब जायँ। अभी-अभी एक ऐसा तेज़ झोंका आया कि एक ही साथ दो टट्टियाँ कुछ दूर घसीट ले गया, क़रीब आठ-दस हाथ दूर।

अब बूँदें भी गिरने लगीं। परमेसुरी को और भी डर लगा। टट्टियाँ उड़ चुकी थीं। पानी पड़ते ही बौछार आने लगेगी। लड़का भीग जाएगा। बड़ी मुसीबत हुई। अब क्या किया जाय ? देखते ही देखते बूँदें तेज़ पड़ने लगीं। अब तो किसी के दालान में भी भाग कर नहीं जा सकते। बौछार आने लगी। क्या करे बूढ़ा ? उसने मंगला की चारपाई आड़ में खींची। पर अब आड़ कहाँ ? हर जगह तो खुली थी। कहीं भी बौछार पहुँच सकती थी। उसने एक टाट बिछा कर लड़के को ज़मीन पर लिटा दिया। बौछार की ओर चारपाई खड़ी कर दी। फिर भी बौछार वहाँ तक कुछ न कुछ पहुँच जाती थी। परमेसुरी को जो भी दो-चार कपड़े मिले, उसने मंगला के ऊपर डाल दिया। रह-रह कर बिजली कौंध जाती। मंगला की दृष्टि पड़ी तो परमेसुरी चारपाई का गोड़ा पकड़े नंगा खड़ा था। उसने अपनी आँखें नहीं बंद कीं। सोचा, ऐसे ही बिजली चौंके तो काका को देखता रहूँ।

परमेसुरी रह-रह कर मंगला से पूछ लेता : "बौछार तो नहीं आ रही है ? ठीक तो हो ?" और फिर कपड़ों के भीतर हाथ डाल कर उसका शरीर टटोलने लगता। बिजली की कौंध में बूढ़े का नंगा शरीर मंगला की आँखों के सामने नाच उठता। वह परमेसुरी की ज़िंदगी भर की कमाई का हिसाब बैठा रहा था, कि वह एक साबूत झोपड़ी भी नहीं कर सका।

"काका, बौछार आ रही है,"—मंगला ने टूटी आवाज़ में कहा।

अब बूढ़ा क्या करे? उसने तो आड़ करने का बहुत प्रयत्न किया। पर अब चौआई बहने लगी। किसी तरफ़ से भी झोंका आ जाता, इसलिए बचाव बहुत मुश्किल हो गया था। परमेसुरी ने स्पर्श से अनुभव किया कि मंगला के ऊपर का टाट कुछ-कुछ गीला हो गया है। चारपाई को इधर-उधर खिसकाते समय उसने ज़मीन पर पानी अनुभव किया। अब तो उसके प्रमाण सूख गये। वह मंगला के चारों ओर टटोलने लगा, पर अभी ज़मीन सूखी लग रही थी। अब उसे पता चला कि बौछार से काफ़ी पानी भीतर आ रहा है और ज़मीन पर सोने लायक़ एकदम नहीं।

लाचार हो कर उसने खटिया बिछा दी और मंगला को उसी पर कर दिया। चारपाई टालते वक़्त पैर लग जाने के कारण दाल लुढ़क गयी। पर उसके लिए दाल की चिंता एकदम नहीं रह गयी थी। उसने फिर मंगला का शरीर एक बार टटोला। उसे कुछ गरम-सा लगा। उसने महसूस किया कि लड़के का पूरा बचाव नहीं कर पा रहा हूँ। अगर बुख़ार दुहराया तो फिर भगवान ही बचायें। बौछार भी बढ़ती ही जा रही थी।

उसने सोचा, उड़ी हुई टट्टियों को खींच लाये। कुछ आड़ हो जाएगा। बाहर चला तो कहीं सूझ नहीं रहा था। तब तक मंगला की आवाज़ आयी, ऊपर से पानी चू रहा है। तभी हवा का एक इतना तेज़ झोंका आया कि परमेसुरी को लगा जैसे उसके पैर बँध गये। उसे कोई भारी चीज़ गिरने की आवाज़ सुनायी पड़ी। छप्पर तो नहीं उड़ा। और वह आगे न बढ़ कर मंगला की ओर दौड़ा।

"काका, शायद मलहवा आम की डार गिरी है...."

—द्वारा श्री देवदत्त तिवारी,
३२१।८, रसा रोड ईस्ट, फर्स्ट लेन,
कलकत्ता - ३३।

●●

अशोककुमार झा

●●

रेखाचित्र

साहित्यवाचस्पति बख्शी जी–कुछ निकट से

साहित्यिक महत्व के स्थानों का भारतीय मानचित्र कहीं नज़र नहीं आता। यदि भविष्य में ऐसा कभी हुआ तो मध्यप्रदेश राज्य के दुर्ग ज़िले में स्थित खैरागढ़ नामक एक छोटे-से क़स्बे को उसमें एक वहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा। छत्तीसगढ़ अंचल का यही तो वह साहित्यिक तीर्थ है जहाँ बाबू पुन्नालाल बख्शी ने अपने घर जन्म लिये बालक का नाम रखा पदुम-लाल। सन १८९४ ई० में जन्मा यही बालक आगे चल कर अपने स्थान का भगीरथ सिद्ध हुआ जिसने साहित्याकाश की गौरवगंगा को खैरागढ़ की ओर प्रवाहित कर दिया। कायस्थों के बख्शी परिवार की साहित्यिक पौराणिक एवं ब्राह्मण भक्ति की धर्मनिष्ठ परंपरा की पृष्ठभूमि में पले-बढ़े बालक का एक आचार्य बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

लेकिन हिंदी के तत्कालीन नामधारी लेखकों एवं पत्रकारों को उस समय एक घोर आश्चर्य अवश्य हुआ था जब स्वर्गीय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक सच्चे जौहरी की तरह इस हीरे को पहचाना और अपनी 'सरस्वती' की विरासत इनके हाथों सौंप दी। बख्शी जी उन दिनों मुश्किल से पचीस-तीस के रहे होंगे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक हो कर उन्होंने राजनंदगाँव के स्टेट हाई स्कूल में मास्टरी कर ली थी। इसी बीच अपने लेखों के माध्यम से उन्होंने आचार्यप्रवर द्विवेदी जी को इतना प्रभावित किया था कि जब उन्हें अनिद्रा रोग बुरी तरह सताने लगा और सरस्वती-संपादन के कार्यभार से मुक्त होना उनके लिए अनिवार्य हो गया और एतदर्थ इलाहाबाद के इंडियन प्रेस वालों ने उनसे ही अपना उत्तराधिकारी के चुनने को कहा तो उन्होंने बख्शी जी का ही नाम प्रस्तावित कर दिया। हिंदी के नामधारी लेखक और पत्रकार अवाक रह गये जब उन्होंने सुना कि सरस्वती-संपादन के लिए द्विवेदी जी ने एक ऐसे अपरिपक्व नवयुवक को चुन लिया है जो मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ अंचल का निवासी है।

बख्शी जी के 'सरस्वती'-संपादक नियुक्त होने के बाद ही लेखकों ने उनसे असहयोग आरंभ कर दिया। ये बख्शी जी की अग्निपरीक्षा के दिन थे और स्व० द्विवेदी जी के निर्वाचनयोग्यता को भी चुनौती थी। बख्शी जी डिगे नहीं। अविचल रूप से उन्होंने बिना किसी कटुता के इन परिस्थितियों का सामना किया और दिन-दिन भर, रात-रात भर परिश्रम कर के उन्होंने 'सरस्वती' की शुद्ध, उदात्त एवं निर्मल परंपरा का निर्वाह किया, छद्म नामों से अनेक लेख लिखे और कितने ही नये लेखक तैयार किये। और फिर तो धीरे-धीरे 'सरस्वती' की अकलुष निर्मल धारा में वे लोग भी अवगाहन करने लगे जिन्होंने बख्शी जी को मझधार में छोड़ कर कुछ दिनों पहले किनाराकसी कर ली थी। लेकिन इस घनघोर परिश्रम ने बख्शी जी के स्वास्थ्य को कुछ ऐसा चौपट कर दिया कि कई बार उन्हें 'सरस्वती' का संपादन छोड़ कर अपने घर वापस जाना पड़ा।

बख्शी जी को पढ़ने का नशा है। उनके छोटे-से गाँव खैरागढ़ के पुस्तकालय में विपुल संख्या में उच्च कोटि की पुस्तकें हैं। इस अवस्था में भी प्रति दिन सुबह-शाम बख्शी जी को कल-बल करते किशोरों के मध्य अविचल रूप से किसी पत्रिका अथवा किसी पुस्तक में तल्लीन देखा जा सकता है। बच्चों का शोरगुल उनके अध्ययन में कोई व्याघात नहीं पहुँचाता। एक बार पढ़ने की एकाग्रता के संबंध में उन्होंने मुझे बताया था : "यदि मैं पढ़ना चाहूँ तो बगल में बजते नगाड़ों से भी मुझे कोई कष्ट नहीं होता।"

कुछ वर्षों तक बख्शी जी ने खैरागढ़ राजपरिवार के कई लोगों को साहित्यिक दीक्षा भी दी थी। शायद उन दिनों वे किसी राजकुमारी को पढ़ाया करते थे। एक शाम जब वे पहुँचे तो किताबों की एक आलमारी में उलझ गये। उलटते-पलटते क़रीब हजार पृष्ठों वाली किसी भारी-भरकम किताब पर वे अटके। शायद किसी पाश्चात्य लेखक का कोई उपन्यास था। कुछ समय तो आलमारी के सामने खड़े-खड़े ही उसके कितने पृष्ठ पलटते गये। कुछ थकावट महसूस हुई तो पास रखी आरामकुर्सी पर बैठ गये। न जाने कब कौन बिजली जला गया : और बख्शी जी पढ़ते गये—पढ़ते गये। उपन्यास जब समाप्त हुआ तो एक विशिष्ट संतोष एवं आनंद की दृष्टि से पुस्तक बंद करते हुए जो उन्होंने ऊपर देखा तो घड़ी रात के ग्यारह बजा रही थी। कोई आधी नींद से जागा तो देखा—अरे, बख्शी जी तो अभी तक घर नहीं गये।

स्कूल-कालेज के दुष्ट छोकरे ऐसे व्यक्तियों की इन निजी विशिष्टताओं को बढ़ा-चढ़ा कर बताने से भला कब चूकने वाले। बख्शी जी की ऐसी पढ़ाई को ले कर उन्होंने खैरागढ़ में एक गप्प छोड़ रखी है : जैसी की बख्शी जी की नित्य की आदत है, वे खैरागढ़ से डोंगरगढ़ जाने वाली सड़क पर एक दिन घूमने जा रहे थे। हाथ में कोई मोटी-सी पुस्तक थी। आमनेर के रपटा से जो उन्होंने पढ़ाई शुरू की तो किताब खत्म होने पर उन्होंने देखा कि चौबीस मील की दूरी पर स्थित डोंगरगढ़ तक वे जा निकले हैं।

बख्शी जी संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य एवं दर्शनशास्त्र के स्नातक हैं। बी० ए० के बाद बख्शी जी ने विश्वविद्यालय तो छोड़ ही दिया लेकिन पढ़ने का नशा कभी उतरा नहीं। कभी बँगला सीखी तो ये रवींद्र, बंकिम और शरत के साहित्य को मूल रूप में पढ़ा। हमेशा वे

कुछ न कुछ पढ़ते ही रहे। घर पर रहते हुए तीन बार उन्होंने एम० ए० की तैयारी की और हर बार अलग-अलग विषय में। लेकिन नियति को यह स्वीकार नहीं था कि बख्शी जी को डाक्टर होने के लिए एम० ए० करना पड़े। पहली बार उन्होंने अंग्रेज़ी में एम० ए० की तैयारी की थी, दूसरी बार संस्कृत में और तीसरी बार दर्शनशास्त्र में, लेकिन कभी वे स्वयं बीमार हो गये तो कभी उनका कोई पुत्र अस्वस्थ हो गया और कभी आखिरी गाड़ी ही छूट गयी। फिर भी इन तीनों विषयों के स्नातकोत्तर अध्ययन ने बख्शी जी को एक पारंगत विद्वान अवश्य बना दिया और इसीलिए उन्हें सहज ही आचार्यत्व भी मिल गया। आज तो राजनंदगाँव के दिग्विजय महाविद्यालय का हिंदी विभाग बख्शी जी के आचार्यत्व में धन्य है और सागर विश्वविद्यालय भी गौरवान्वित है जिसके द्वारा प्रदत्त 'डॉक्टरेट' उन्होंने स्वीकार किया है।

सारल्य और विनय की तो मिसाल हैं बख्शी जी। एक अति साधारण धोती—काफ़ी ऊपर, क़रीब-क़रीब घुटनों तक उठी हुई, और एक अत्यंत साधारण पापलिन का कुर्ता—सामने बटन वाला नहीं, एक ओर कंधे पर नाड़े वाला, और घिस कर टेढ़ी-सी हो गयी चप्पल, आँखों पर मोटे फ़्रेम तथा बहुत मोटे काँच का चश्मा और सिर पर छोटे-छोटे बाल-आधे से ज़्यादा पके हुए जो काफ़ी दिनों से ट्रिमिंग न होने के कारण कान की कलियों पर काफ़ी आगे-पीछे नज़र आते हैं। अपने ऊँचे माथे पर बख्शी जी प्रायः अपनी उँगलियाँ फेरते रहते हैं। कभी-कभी तो यह क्रिया इतनी तेज़ हो जाती है कि सामने वाले दर्शक को लगे, बख्शी जी घनघोर सिरदर्द से परेशान हैं। लेकिन ऐसा कुछ नहीं होता। वे जब भी ऐसा कुछ करते दीख पड़ें, आप निश्चित जानिए, शास्त्रीय मस्तिष्क के अजस्र स्रोत से कोई नव्य ज्ञानधारा फूटने वाली है।

बड़ों के प्रति आदर और सम्मान कोई बख्शी जी से सीखे। बालक पदुमलाल जब साहित्य के आचार्य हो गये तो एक बार किसी विशुद्धतावादी सज्जन ने उनसे कहा : "बख्शी जी, आपका नाम भाषा के शुद्ध शब्द पद्म का विकृत रूप है। आप अपने को पद्मलाल क्यों नहीं कहते ?" बख्शी जी की आँखें सजल हो उठीं। शायद उनमें माँ की ममता और पिता का प्यार अपना प्यारा बेटा ढूँढ़ रहा हो। उन्होंने कहा : "यह नाम मुझे अपने माता-पिता के द्वारा दिया गया है। कितने प्यार से वे लोग मुझे इसी नाम से पुकारा करते थे। इसे शुद्धता-विशुद्धता की कसौटी पर कसने वाला मैं कौन हूँ ?"

बख्शी जी उन लोगों में से नहीं हैं जिन पर कोई नयी बात जुनून की तरह सवार हो और फिर वह उतर जाय। वे स्थिरमति हैं और जिस काम में लगते हैं उसमें निष्ठा, लगन और रुचि से लगे रहते हैं। इसीलिए कभी उनकी गति तेज़ और कभी मंद नहीं होती। वे संतुलित चाल से चलने के आदी हैं। आज की तेज़ रफ़्तार से वे बहुत घबराते हैं। हमारे विद्यालय के स्नेह सम्मेलन के लिए बख्शी जी एक बार आमंत्रित किये गये। बंबई मेल से क़रीब छह घंटे की सफ़र के बाद शाम को साढ़े सात-आठ बजे वे बड़े आराम से रायगढ़ पहुँच सकते थे। लेकिन उनकी सूचना मिली कि वे रात को साढ़े बारह बजे वाली पैसेंजर से रायगढ़ पहुंचेंगे। हम सब स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर हाजिर थे। जब गाड़ी आयी तो तमाम पहले और दूसरे दर्जे के डिब्बे छान मारे। कुछ निराश-से छात्रगण जब एक दूसरे की ओर देखने लगे तभी मैंने देखा, बख्शी जी बंद कालर का

कोट पहने, हाथ में बिस्तर लिये कुछ दूर खड़े हैं। नमस्कार इत्यादि के पश्चात मैंने कहा: "पैंसेजर की यात्रा से तो आपको काफ़ी तकलीफ हुई होगी। मेल से आते तो तनिक भी कष्ट न होता।" उनका जवाब था: "मुझे मेल की तेज़ रफ्तार से बड़ी घबराहट होती है, न जाने कैसा-कैसा लगता है। इसीलिए मैं हमेशा पैंसेंजर से ही यात्रा करता हूँ।"

और बख्शी जी की अनौपचारिकता का क्या कहना। सामने वाला चाहे कितना भी अकिंचन क्यों न हो, चाँद छूने के लिए कभी अपने को बौना महसूस नहीं करता। मास्टर जी-मास्टर जी करते सभी लोग बख्शी जी के सान्निध्य एवं साहचर्य का आनंद प्राप्त करते हैं। सारी बस्ती उन्हें मास्टर जी ही कहती है। यहाँ तक कि स्वयं उनकी पत्नी, घर के बच्चे और बच्चों के बच्चे भी। 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि, कालेज की प्रोफ़ेसरी और विश्वविद्यालय की डॉक्टरेट से भी बख्शी जी की 'मास्टरी' में कोई फ़र्क नहीं आया। आप आज भी उन्हें मथुरा टेलर या ऐसे ही किसी अन्य अति साधारण व्यक्ति के साथ पूरी तन्मयता से ब्रिज के खेल में मशगूल देख सकते हैं। उनकी बेतक़ल्लुफी का एक दृष्टांत प्रस्तुत है।

जब हमारे विद्यालय के स्नेह-सम्मेलन के लिए वे रायगढ़ आये तो प्रिंसिपल साहब तमाम अध्यापकों और छात्रों के साथ उनके स्वागत के लिए प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे और बाहर एक अच्छी-सी कार और बख्शी जी को ठहराने के लिए नगर के उस सर्वोत्कृष्ट भवन 'सेवाकुंज' का इंतज़ाम था जिसे तमाम मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों और राष्ट्रपति तक के स्वागत का सौभाग्य मिल चुका है। बख्शी जी से साक्षात्कार हुआ ही था कि मेरे नमन के उत्तर में उन्होंने छूटते ही कहा: "क्यों, हमें अपने यहाँ ही ठहराओगे न?" मैं क्या कहता और क्या न कहता! अपने यहाँ चलने को कहता तो इतने परिश्रम से किया गया 'सेवाकुंज' का सारा इंतज़ाम बेकार हो जाता और यह भी कैसे कह देता कि अपने यहाँ नहीं, कहीं और ले चलना है। सामने प्रिंसिपल साहब खड़े थे। मेरा धर्मसंकट समझते हुए उन्होंने कहा: "एक बहुत अच्छे स्थान 'सेवाकुंज' में हम लोगों ने आपका प्रबंध किया है।" आखिर बख्शी जी वहीं ले जाये गये। लेकिन दूसरे ही दिन एक छात्र को ले कर बख्शी जी मेरे यहाँ आ गये। कहने लगे: "इतनी भव्यता और अतिशय आतिथ्य से मुझे कैसा-कैसा लगता है। मैं तो तुम्हारे यहाँ ही ठहरूँगा।" और फिर वे दूसरे दिन तक मेरे साथ ही रहे। उस दिन रायगढ़ के एक-एक साहित्यकार को उन्होंने पूछा। उनकी सूची में श्री आनंदी सहाय से ले कर बंदे अली फ़ातिमी, डा० गोविंदप्रसाद शर्मा, मुकुटधर पांडेय, स्व० वनमालीप्रसाद शुक्ल और पं० लोचनप्रसाद पांडेय तक के नाम थे। अंतिम दो साहित्यकारों को उन्होंने विशेष रूप से पूछा। वे दोनों 'सरस्वती' के पुराने लेखक रह चुके थे। और शाम होते-होते उन्होंने उन दोनों से मिलने की इच्छा भी प्रकट की। स्व० पांडेय जी और शुक्ल जी तो बख्शी जी को अपने बीच पा कर अतीत की स्मृतियों में खो गये।

यों तो अपने लोग और पुरानी स्मृतियों से जुड़ा अपना पुराना स्थान सबको प्यारा होता है, लेकिन बख्शी जी इन सब पर जान देते हैं। सागर विश्वविद्यालय ने जब उन्हें 'डॉक्टर' की उपाधि से सम्मानित करने का निश्चय किया तो अपने नवयुवक शिष्यों के आग्रह पर बख्शी

जी किसी तरह उपाधि ग्रहण करने सागर जाने के लिए तैयार हुए। उन्हीं शिष्यों का आग्रह था कि बख्शी जी 'शेव' भी करा लें। वे तैयार भी हो गये लेकिन गप्पें हाँकने के जातीय गुणों में पारंगत उनका प्रिय नापित निश्चित समय तक पहुँच नहीं पाया। बस, बख्शी जी ने उस दिन से दाढ़ी ही बढ़ा ली, लेकिन किसी दूसरे नाई से उन्होंने 'शेव' नहीं कराया। और अब तो अपनी अधपकी पतली-सी दाढ़ी में बख्शी जी की निस्पृहता और उभर आयी है तथा वे ताॅल्सतॉय एवं टैगोर की परंपरा के एक संत ही लगते हैं। अपने लोगों से बख्शी जी का यह लगाव शायद उनकी एक कमज़ोरी भी बन गया और वे कुछ ऐसे होमसिक हो गये कि खैरागढ़-राजनंदगाँव छोड़ कर अधिक दिनों के लिए कहीं रह ही न सके। शायद यह भी एक प्रमुख कारण रहा हो जिससे इलाहाबाद में उनका स्वास्थ्य ख़राब रहने लगा और 'सरस्वती' का संपादन छोड़ कर उन्हें कई बार घर आ जाना पड़ा। और अंतिम बार तो इंडियन प्रेस वालों ने बख्शी जी को यह सुविधा भी दी कि वे खैरागढ़ में रहते हुए ही 'सरस्वती' का संपादन कर दिया करें। लेकिन बख्शी जी का हाथ इतना काँपने लगा कि वे कुछ लिख ही नहीं सकते थे। इंडियन प्रेस वालों ने उन्हें एक लिपिक की भी सुविधा दे दी। कुछ दिनों तक बख्शी जी ने इसी तरह 'सरस्वती' का संपादन किया लेकिन लिपिक की लिखाई भी अशुद्धियों से मुक्त न होने के कारण बख्शी जी को बड़ा असंतोष रहता और इसलिए सरस्वती-संपादन से उन्होंने सन १९५४ ई० में अवकाश ले लिया।

बख्शी जी की एक दूसरी कमजोरी है उनका क्रोध, जिसे दस-बीस साल में किसी ने शायद एक-आध बार देखा हो। लेकिन ग़ुस्सा जब उन्हें आया है तो दस-दस और सौ-सौ रुपयों के नोट तक उन्होंने फाड़ डाले हैं। चाय और धूम्रपान की अतिशयता भी बख्शी जी पर खूब हावी है। जब कभी उनके साथ डेढ़-दो घंटे का सौभाग्य मिलता, बस, इतनी ही देर में चाय के दो-तीन दौर हो जाते। बगल में उनकी प्रिय सिगरेट सीज़र्स और एक विशिष्ट बीड़ी के दो-दो पैकेट माचिस की डिब्बी के साथ रखे होते हैं। बीड़ी और सिगरेट के ये पैकेट 'घर के अंदर' और 'घर के बाहर' जैसा कोई फ़र्क नहीं जानते। एक बीड़ी और उसके बाद एक सिगरेट, बस, यही क्रम अबाध रूप से चलता रहता है। न जाने कितने पैकेट सीज़र्स और बीड़ियों के बख्शी जी एक दिन में फूँक जाते हैं। कुछ साल पहले उन्हें गले में जो भयंकर बीमारी हो गयी थी, जिसे कई विशेषज्ञों ने कैंसर भी कह दिया था, उसका कारण भी शायद यही 'चेन स्मोकिंग' ही रहा हो।

बख्शी जी अत्यंत धर्मभीरु हैं और ब्राह्मणों के प्रति उनकी श्रद्धा अलौकिक है। एक दिन चाय की मेरी जूठी खाली प्यालियाँ अंदर ले जाने के लिए उनके घर के कुछ बच्चे आये तो बख्शी जी ने उनसे कहा: "जाव, पी लेव, पंडित जी के जूठा है—तर जाहू।"

बख्शी जी महान आस्तिक हैं। जीवन-संघर्ष के कठिन क्षणों में वे प्रायः खैरागढ़ के रुक्खड़ महादेव के सुनसान मंदिर में देखे जा सकते हैं। कई बार रुक्खड़ स्वामी की रहस्यमयी अनुकंपा का उन्हें निजी अनुभव है। शायद यही कारण हो, बख्शी जी के व्यक्तित्व में शंकर की सरलता और फक्कड़पन की अमिट छाप है। खैरागढ़ की कटुता का गरल पचा कर आज तो वे सचमुच नीलकंठ बन चुके हैं।

बख्शी जी को पुनर्जन्म में भी गहरा विश्वास है। एक बार उनके ही घर में सामने एक बच्ची को देख कर मैंने पूछा : "ये कौन, मास्टर जी ?" बख्शी जी अधमुँदी आँखों से मुस्कराते हुए कहने लगे : "हमार महतारी हैं। एक बार हमका सपना दइन कि हम आवथन। हम कहेन, अब आवथौ जब हमार मरे के दिन आय है। का करहू अब आय के।. . . .हमार महतारी के नाम रहै मंटोरा। बड़ा शरम आवै उनका ये नाम से। एक बार अस्पताल माँ डाक्टर जब उनका नाम पूछिन तौ झट्टै कहिन—मनोरमा। तौ हमहूँ इनका नाम रखेन मनोरमा। ये हमार नतनिन हैं—हमार महतारी।"

'पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी' एक ऐसा नाम है जिससे हिंदी एवं अहिंदीभाषी समस्त छात्र-जगत परिचित है। माध्यमिक कक्षाओं से ले कर विश्वविद्यालय-स्तर तक की पाठ्यपुस्तकें बख्शी जी ने तैयार की हैं। बंगाल, आसाम, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश—इन सारे राज्यों में बख्शी जी की पाठ्य-पुस्तकें चलती हैं। यदि इन सब की रायल्टी उन्हें मिलती होती तो आज वे एक पूँजीपति साहित्यकार होते। लेकिन अपने अवधूत फक्कड़पन के कारण तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति से कुछ भी अधिक उन्होंने कभी चाहा ही नहीं। जब कभी गृहस्थी में शादी-व्याह जैसा मोटे खर्चे का कोई काम आया—उन्होंने अपने लेखों के ढेर से कुछ चुनी हुई सामग्री निकाल ली—एक किताब तैयार हो गयी और ज़रूरत की रक़म पर चटपट किसी प्रकाशक से सौदा तय हुआ।

बख्शी जी कथा-साहित्य के बड़े प्रेमी हैं। टॉमस हार्डी, रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र, एंतन चेखोव और ताल्स्तॉय की प्रशंसा करते उनका मुँह सूखता है। एक बार वे कहने लगे: "मैंने अपने बचपने में देवकीनंदन जी की 'चंद्रकांता' पढ़ी थी। तब से न जाने उसे कितनी बार पढ़ गया हूँ। आज भी पढ़ता हूँ तो वही आनंद प्राप्त होता है जो पहली बार पढ़ने से मिला था। खत्री जी की शैली में जादू है। उपन्यास और कहानियों में ऐसी चुंबकीय शक्ति तो होनी ही चाहिए।" कथा-साहित्य के एक सच्चे आचार्य की तरह बख्शी जी ने हिंदी कथा-साहित्य के इतिहास को एक औपन्यासिक परिवेश में 'कथाचक्र' नाम से प्रस्तुत किया है। कथा-साहित्य के समीक्षात्मक इतिहास की इसमें एक अद्भुत, अभिनव, रोचक प्रणाली देखने को मिलेगी।

यों तो बख्शी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में कुछ कविताएँ भी लिखीं और कहानियाँ भी। उनकी कहानी 'झलमला' पारिवारिक सौहार्द एवं मधुर स्मृतियों के प्रस्तुतीकरण में आज भी अपना सानी नहीं रखती। अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य विमर्श' में बख्शी जी ने साहित्यशास्त्र संबंधी शाश्वत प्रश्नों का समाधान भी प्रस्तुत किया है—और वह भी अत्यंत सहज, सुबोध शैली में। लेकिन साहित्य-वाटिका की जिस क्यारी को बख्शी जी ने सर्वाधिक सजाया-सँवारा है, वह है वैयक्तिक निबंध। साहित्य की इसी विधा के माध्यम से उन्होंने हिंदी को उसका चार्ल्स लैंब प्रदान किया है।

—रायगढ़ (म० प्र०)।

●●

सहवर्ती साहित्य

●●

सिंधी

एन० एन० बठेजा

●

सिंधी भाषा और साहित्य

सिंधु सभ्यता की प्राचीनता का कुछ परिचय 'मोअन जो दड़ो' से मिलता है जिसका काल ईसा से ३००० वर्ष पूर्व माना जाता है। ऋग्वेद में 'सिंधु' शब्द का कई बार प्रयोग आने से माना जाता है कि वेदों का आरंभ भी सिंधु देश में सिंधु नद के तट पर ही हुआ है। उस समय सिंध प्रांत, पंजाब, कश्मीर और कंधार आदि सिंधु देश में ही सम्मिलित थे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय भी सिंधु देश की सीमा के अंतर्गत माना जाता था। देवल ऋषि, पतंजलि और पाणिनि का प्रादुर्भाव भी इसी प्रांत में माना जाता है। ५१६ ई०-पू० में ईरानियों ने इस देश पर आक्रमण किया जिन्होंने 'सिंधु' शब्द को 'हिंदु' में बदल दिया और सारे देश का नाम 'हिंदुस्तान' पड़ गया।

३३० ई०-पू० में सिकंदर ने इस देश पर आक्रमण किया। उसके बाद चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक ने भी इस देश पर राज्य किया। अतः पाली में लिखे बौद्ध साहित्य का इस भाषा पर प्रभाव पड़ा। मीरपुर खास नामक नगर में खोदे हुए खंडहर 'काहू जो दड़ो' इस प्रमाण को पुष्ट करते हैं।

हिंदू राजाओं का राज्य इस प्रांत में ७१२ ईसवी तक रहा। उसके बाद अरबों की सेना ने ब्राह्मण-वंश के अंतिम अधिपति दाहरसेन को जीत कर धार्मिक अत्याचार मचाया जिसके कारण बहुत से हिंदू सिंध छोड़ कर कच्छ, सौराष्ट्र, राजस्थान और गुजरात की तरफ़ चले गये। ऐसी ही स्थिति अंग्रेज़ों की दासता से देश की मुक्ति होने पर उससे जुड़े हुए बँटवारे के फलस्वरूप पैदा हुई जब कि लगभग २० लाख हिंदू सिंध छोड़ कर भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में जा बसे।

आजकल की सिंधी भाषा का स्वरूप, जो व्राचड अपभ्रंश की शाखा मानी जाती है, अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ ग्यारहवीं शताब्दी में स्थिर हुआ। डॉ० ट्रंप, कैप्टन स्टैक और ग्रियर्सन आदि के मतानुसार सिंधी का संस्कृत से संबंध अन्य भाषाओं से भी अधिक निकटता का है।

सिंधी साहित्य का आधुनिक इतिहास लगभग १७०० ईसवी से आरंभ होता है। काज़ी काज़न, शाह अब्दुल करीम, शाह अब्दुल लतीफ़ भिटाई, सचल, रोहल, सामी, बेकस, दलपति आदि सिंधी साहित्य के आदि कवि हैं। किशिनचंद बेवस इस पीढ़ी के अंतिम कवि तथा सिंधी कविता की आधुनिक धारा के प्रवर्तक हैं।

बँटवारे के पश्चात जो अच्छे कवि जीवित रहे और भारत में आये, वे हैं लेखराज अज़ीज़, सोभराज फ़ानी, परसराम ज़िया, हरूमल सदारंगाणी (ख़ादिम), नारायण श्याम, हूँदराज दुखायल, राम पंजवाणी, प्रभु छुगाणी, हरी दिलगीर, देवनदास आज़ाद, खीअलदास फ़ानी आदि। १९४८ के बाद कविता-क्षेत्र को जिन्होंने अपनाया है उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं अर्जुन शाह, आंचल शर्मा, सुगन आहूजा, कृष्ण राही, मोती प्रकाश, दयाल आशा, गोवर्धन महबूबाणी आदि।

सिंधी गद्य तथा कहानी-साहित्य के १९२३ से प्रवर्तक हैं श्री जेठमल परसराम, लालचंद जगत्याणी, नारायणदास मलकाणी, भेरूमल मेहरचंद, परमानंद, मेवाराम आदि, जिनके बाद प्रभदास भेरूमल, अमरलाल हिङोराणी, आसानंद मामतोरा, उत्तम, ईश्वर आंचल, तीर्थ वसंत, कुमारी पोपटी हीरानंदाणी, राम पंजवाणी, सुगन आहूजा, सुंदरी उत्तमचंदाणी, कीर्त बाबाणी, कलाप्रकाश, कला रीझसिंघाणी, कृष्ण खटवाणी, गोविंद माल्ही, लोकनाथ जेटले, मोतीप्रकाश, मोहन कल्पना, चंद्रा आध्वाणी, ईश्वरी जोतवाणी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सिंधी की पहली कहानी मुंशी उधाराम थाँवरदास मीरचंदाणी की लिखी हुई 'राइ दियाच और सोरठ' थी जिसको कैप्टन स्टैक ने देवनागरी लिपि में १९४९ में अपनी व्याकरण की पुस्तक में प्रकाशित किया। दीवान केवलराम सलामतराम और मिर्ज़ा कलीच बेग के नाम भी आरंभिक कहानी-लेखकों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास-साहित्य में भी राम पंजवाणी, गोविंद माल्ही, पोपटी हीरानंदाणी, सुंदरी उत्तमचंदाणी, चंदूलाल जयसिंघाणी आदि के कई सामाजिक तथा राजनीतिक उपन्यास लोकप्रिय हैं।

श्री जैरामदास दौलतराम बिहार के राजपाल रह कर, सारा जीवन राजनीति में बिता कर भी वृद्धावस्था में सिंधी भाषा की खोज में लगे हुए हैं।

प्रिंसिपल लालसिंह अजवाणी अँग्रेज़ी के विद्वान और महत्वपूर्ण आलोचक हैं। आपकी आलोचना तीव्र और सारगर्भित होती है। 'उछल', 'मिट्टीअ जा पुतला' आदि आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। प्रोफ़ेसर मंघाराम मलकाणी ने नाटक, काव्य, इतिहास, एकांकी, आख्यान, ध्वनिनाट्य आदि लिख कर सिंधी साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त किया है।

प्रोफ़ेसर राम पंजवाणी लोकगीतों द्वारा देश-विदेश में जा कर सिंधी भाषा की सेवा की है। नाटक, कहानी, कविता, उपन्यास आदि सभी साहित्यिक क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'आहे नाहे', 'गौतम बुद्ध', 'अनोखा आज़मूदा' आदि आपकी लोकप्रिय कृतियाँ हैं।

प्रोफ़ेसर लेखराज 'अज़ीज़' एक उच्च कोटि के कवि और साथ ही तीव्र आलोचक भी हैं। 'कुल्याते अज़ीज़', 'शाहराणी शम-अ', 'सुराही' आदि उनकी मुख्य कृतियाँ हैं।

प्रोफ़ेसर कल्याण आदवाणी ने भारत में आकर सन १९५८ में 'शाह जो रसालो' का संपूर्ण प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है। शाह, सामी, सचल पर आपने प्रामाणिक आलोचनात्मक प्रबंध भी लिखे हैं। आपका 'अभिज्ञान शाकुंतल' का सिंधी अनुवाद भी बहुत लोकप्रिय हुआ है। 'राज़ व नियाज़' में उन्होंने सिंधी में दोहा छंद का पुनरुद्धार किया है।

तीर्थ वसंत ने 'कँवर भगत' की सुप्रसिद्ध जीवनी लिखी है। 'चिणजूँ', 'वसंत-वर्षा' आदि आपकी अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

स्वर्गीय परसराम ज़िया की कविताएँ बहुत ही लोकप्रिय रही हैं। आप अपनी बच्चों की कविताओं के लिए भी विख्यात हैं।

सर्वतोमुखी प्रतिभा से संपन्न प्रोफ़ेसर कुमारी पोपटी हीरानंदाणी की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं : 'हिकु पुष्पु पंद्रह मुखिड़ियूँ', 'मंजू', 'हसरतानि जी तुर्बत', 'स्त्री समाज', 'रंगीन ज़माने जूँ ग़मगीन कहाण्यूँ' आदि। डॉक्टर हरूमल सदारंगाणी 'ख़ादिम' ने सिंधी में रुबाइयाँ और कभी-कभी कहानी और निबंध लिखे हैं। श्री दयाराम वसणमल मीरचंदाणी ने सिंधी के व्याकरण की दो प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। हूँदराज 'दुखायल' विनोबा भावे के संग से प्रभावित भूमि-उद्धार, देश-भक्ति तथा लोकगीतों के निर्माता तथा प्रचारक हैं। प्रोफ़ेसर चेतन माड़ीवाला की पुस्तक 'साँभरि जे दर्सिनीअ ताँ' सिंधी साहित्य में पहली आत्मकथात्मक पुस्तक है। वे ऐतिहासिक विषयों के भी प्रामाणिक लेखक हैं डॉक्टर लक्ष्मण खूबचंदाणी पूना विश्वविद्यालय में सिंधी विभाग के अध्यक्ष हैं। भाषा-विज्ञान से संबद्ध आपके कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉक्टर एन० एच० साम्ताणी काशी विश्वविद्यालय में पाली के प्राध्यापक हैं। साथ ही वे 'सिंधु लोक' नामक सिंधी का एक मासिक पत्र निकाल रहे हैं। नारायण भारती ने लोकगीतों के संग्रह की तीन-चार पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

गोवर्धन महबूबाणी की भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत 'लात्यूँ' और 'नयी बस्ती' के अतिरिक्त 'जीवन जोति' और 'दादीअ जूँ आखाण्यूँ' अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। के० एच० नागराणी का उपन्यास 'अमर दीप' बहुत प्रसिद्ध है।

यहाँ स्वर्गीय परसराम 'ज़िया' की एक कविता का तथा उनके अनुयायी दयाल 'आशा' की एक ग़ज़ल का अनुवाद दिया जा रहा है। कहानी लोकनाथ जेटले की प्रस्तुत की जा रही है।

—जयहिंद कालेज,
बंबई।

दो कविताएँ

●●

मैं क्या चाहता?

●

परसराम 'ज़िया'

पता नहीं मैं मौन में क्या कहना हूँ चाहता
रहस्य शायद शांति का प्रकट करना चाहता

पश्चात्ताप के आँसुओ ! वेग से बहते चलो
गंगा-जल से दोषों के धब्बे धोना चाहता

जो मरता है वह जीता है, मैं न जीना चाहता
इसी कारण इस दुनिया में नहीं मरना चाहता

हँसता हूँ एक बार तो सौ बार रोना पड़ता है
क्या करें ऐसी हँसी को, इसलिए रोना चाहता

साक़ी भर दे जाम मुझको, शोक भुलाना चाहता
वेदना को घोल कर मैं प्याले में पीना चाहता

प्रियतम यदि करुणा करे, शूल फिर कैसे मिले ?
इसलिए अकरुण उसको देखना हूँ चाहता

मैं तो यही चाहता, समझे-बूझे न कोई मुझे
क्योंकि समझ-बूझ के समय से मैं भागना हूँ चाहता

प्रेम में मैं मौन रह कर कोलाहल मचाना चाहता
अणु-अणु की मुखर जिह्वा एक बार बनना चाहता

गगन-मंडल में आह निष्फल पहुँच कर वापस मुड़ी
तूफ़ान बन कर हठ उसी का मिट्टी में मिलाना चाहता

बिंदु हूँ मैं सिंधु बनने की प्रबल आशा मुझे
स्वयं बन कर अथाह सागर जग को डुबाना चाहता

ग़ज़ल

●

दयाल 'आशा'

प्रेम साने स्निग्ध जन हम
केवल स्नेह का क्रय करते हैं।
मुँह मोड़ गये विलग हो तुम
हम अंत तक निभाते आते हैं।

दुखोद्गार समय का किसी से करें हम क्यों
सानंद उसे सौ बार सहने वाले हैं।

जीवन में हमने न किसी को सताया
किया प्रेम मानो घोर पातक वाले हैं।

अनुराग का मद भरा है नयनों में
बंदी बना दो हम दंड पाने वाले हैं।

सांसारिक औषधि का न हम पर प्रभाव कोई
सदा विरह में बीमार रहने वाले हैं।

जगत में जीने की कोई 'आशा' रही ना
केवल कृपा आपकी चाहने वाले हैं।

●

अनु० : एन० एन० बठेजा

लोकनाथ जेटले

●

कहानी

गाँव का गौरव

उस दिन का वातावरण गंभीर था। जहाँ नित्य हावभाव, प्रफुल्लता और चमक-दमक रहती थी, उसी दिन वहाँ मानों मृत्यु की छाया फैली हुई थी। गाँव के सभी पंच और बनजारे बैठे हुए थे। किंतु सभी की गरदनें झुकी हुई थीं और आकृति से विवशता टपक रही थी।

सामने गदेलों पर तकियों के सहारे बाहर तीन नाटे व्यक्ति बैठे हुए थे जिनकी तोंदें बाहर निकली हुई थीं। वर्ण उनका गौर था और गदेलों पर ऐसे भारी-भरकम पड़े हुए थे मानों दीवारें गिरी पड़ी हों। वैसे तो वे शिष्ट दीखते थे किंतु आँखों में कोई तग़ादा नज़र आ रहा था।

कुछ समय की चुप्पी के बाद मौन वातावरण में क्षोभ उत्पन्न कर एक व्यक्ति ने कहा : "क्यों भाई, रकम थोक खाताबही में लिख दें ? नगद भुगतान करो या सीधा जवाब दो। दो-दो वर्ष तक खाता चालू नहीं रह सकता।"

उसकी भर्त्सना ने अधिक घबराहट पैदा कर दी। व्याकुल चेहरों पर मृत्यु की रेखा खिंच गयी। दृष्टि धरातल में लीन हो गयी। वातावरण क्षुब्ध हो उठा।

अढ़तियों के पास एक शिष्ट पुरुष बैठा था। सिर पर सफेद पगड़ी, गले में दुपट्टा। उज्वल पहनाव और उससे अधिक उज्वल छवि थी उसकी। दर्शनीय व्यक्ति, किंतु आकृति बुढ़ापे से जर्जरित। यह व्यक्ति किसी गंभीर विचारधारा में निमग्न हो गया। अढ़तिये की झिड़की सुन कर वह चौंक उठा। गरदन को ऊपर उठाया। प्रथम क्षण में चेहरे पर खिन्नता थी तो दूसरे पल में मुस्कराहट छा गयी। मुख पर आभा उमड़ पड़ी। स्वाभिमान की रेखाएँ मुँह पर झलकने लगीं। उसने विश्वस्त स्वर में कहा : "नहीं, डूबी रकम के खाते में नहीं लिखना। दमड़ी-दमड़ी का हिसाब चुका देंगे।"

"माना, जैसी रबी में हुई, तैसी खरीफ़ में भी होगी।"—अढ़तिये ने अपनी तोंद हिलाते हुए कहा : "रकम रोकड़ निकाल कर यहाँ ढेर कर दो। हुंडी का हिसाब अब नहीं चलेगा। कल सूर्योदय से पहले ऋण का भुगतान करना होगा।"

"ऐसा ही होगा।"—मुखिया ने कहा : "हिसाब फैलाओ, जुमला हिसाब कितना बैठता है ?"

"बनजारों से पूछ लीजिए, सामने बैठें हैं। एक-एक से पूछ लीजिए कि उनके मद में कितनी रकम है। फिर जोड़ लगा दीजिए।"

सब से पूछा गया। किसी के मदे सात सौ, किसी के प्रति एक हज़ार, किसी के खाते बारह सौ निकले। कुल मिला कर पंद्रह हज़ार रुपये निकले।

"पंद्रह हज़ार..."—मुखिया से चीख़ निकल गयी। किंतु दूसरे क्षण में उसने अपने को सम्हाल लिया और कहा: "रकम पाई-पाई सूद सहित दी जायगी। इसमें कोई मीन-मेख नहीं होगा।"

पंच और अढ़तिये विस्मय में थे कि मुखिया पंद्रह हज़ार रुपये नक़द आख़िर लाएगा कहाँ से। उनकी यह इच्छा न थी कि मुखिया किसी ग़ैर के आगे जा कर हाथ फैलाए और याचक बने। किंतु ऐसा ग़ैर व्यक्ति भी तो वहाँ पास-पड़ोस में नहीं था। हाँ, आरेजन गाँव वाला एक सेठ गंगाराम कौड़ीदार था। उसके पास रोकड़ तो बहुत थी किंतु सूद कमर तोड़ने वाला था। दस दे कर पंद्रह का सोना बंधक कर लेगा। घर और गहने गिरवी कर देगा। किंतु ऐसे कृपण के आगे मुखिया हाथ कैसे फैलाए! नहीं-नहीं, पंचों को यह स्थिति ठीक नहीं जँची। जो कंजूस कौड़ियों का भी लेखा-जोखा रखता है, उसके आगे मुखिया याचक बने! कदापि नहीं।

पंचों ने आपस में कानाफूसी की और प्रत्येक बनजारे ने कहा: "औरतों के आभूषण देंगे,—किंतु मुखिया को किसी के पास कदापि नहीं जाने देंगे।" एक पंच ने उठ कर कहा: "हम अपनी गृहणियों के आभूषण ले आते हैं और अढ़तियों के आगे धरते हैं। रोकड़ के बदले सोना ले।"

मुखिया ने धैर्य से कहा: "रामजी भला करेंगे। चिंता नहीं करो। निश्चित हो कर अपने बच्चों के साथ विश्राम करो। कल सवेरे सात बजे फिर पंचायत इकट्ठी होगी। अढ़तियों को कौड़ी-दमड़ी का हिसाब चुकता कर दूंगा।"

पंच और बनजारे उठ खड़े हुए। किंतु उनके पाँव आगे चलने को नहीं करते थे। उनको पता था कि मुखिया के पास इतने नक़द रुपये तो हैं नहीं, फिर सवेरे तक वह इतनी रक़म कहाँ से लाएगा। सभी बहुत ही परेशान थे। इतने में अढ़तिये भी उठ कर चलने लगे। थोड़ा आगे बढ़े तो एक व्यक्ति बाशामल भी उनके साथ हो लिया। बाशामल भी गाँव का एक पंच था। उसको अढ़तियों के पीछे जाते देख कर एक पंच ने कहा: "हो तू के कुत्ते की तरह पूँछ लटकाता लोरता जा रहा है। बेहूदा, ढीठ! समझता है कि हम उसे जानते ही नहीं। उसकी नस-नस का हमें पता है। चला है गाँव की पगड़ी उतारने! कुत्तों के समान उसे नहीं किया तो देख लेना।"

मुखिया की बैठक खाली हो गयी। पंच और बनिये सब अपने-अपने घर चले गये। मुखिया अकेला रह गया और कुछ सोचता रहा।

कंबर गाँव लाड़काणा (सिंध) ज़िले में, लाड़काणा के बाद दूसरे नंबर में व्यापार की मंडी थी। बीस-पचीस गाँव पास में थे। सौदागरी अच्छी होती थी। सवेरे गाँवों से बनिये गधे और घोड़े दौड़ाते आते और अपने काम की चीज़ें ले कर अपने गाँवों को लौट जाते थे। नगर में धान की सैकड़ों बैलगाड़ियाँ आतीं। अनाज की मंडी में बहुत ही चहल-पहल लगी रहती। नानबाइयों के देगचों पर खुरपियों की ठनाठन लगी रहती। फेरीवालों की बन पड़ती थी। पल भर में

उनके खोमचे ख़ाली हो जाते थे। झट से दाढ़ियाँ झुला कर बाज़ार में घूमने वाले लोग वाणिज्य की वस्तुएँ खरीदते थे। यहाँ वहाँ सब जगह दाढ़ियों का झुरमुट बन जाता। कंबर के बाज़ार, वाह! वाह! देखने योग्य थे।

यहाँ के व्यापारी अपना माल सक्खर या शिकारपुर से लेते थे। व्यापारी प्रथा के अनुसार माल उधार-पट्टे पर लेते थे। फ़सल उतरने पर अढ़तियों के द्वारा रक़म सेठियों को पहुँचा देते थे। किंतु दुर्भाग्यवश उस वर्ष रबी की फ़सल नहीं हुई थी। इसलिए बनजारे उस वर्ष के वकाये का भुगतान नहीं कर सके। फिर दूसरी बार भी बाहर से माल उधार पर ले आये। बनिये विश्वासपात्र थे। पीढ़ियों से सेठियों के साथ उनका लेन-देन होता रहा था। किंतु हाल ही में कंबर के पाँच-छह बड़े व्यापारी धान के सट्टे में बड़ी हानि पा चुके थे। और दिवालिया होने की नौबत पर पहुँच चुके थे।

खरीफ़ की फ़सल को भी पाले ने चौपट कर दिया था। बनिये असमंजस में पड़ गये। इस दशा का लाभ उठा कर बाशामल ने अढ़तियों और सेठियों को भड़का कर कहा: "कंबर गाँव के बनिये दिवालिये बन चुके हैं, फ़सल चौपट हो गयी है और अपना उधार डूबा समझो।"

बाशामल भी नगर का एक शिष्ट व्यक्ति था किंतु मुखिया से उसकी कुछ अनबन हो गयी थी। बाहर से उसने कुछ भी सूचित नहीं किया किंतु भीतर ही भीतर वह कुढ़ता था और मुखिया को नीचा दिखाने की योजनाएँ सोचता रहता था और यह अवसर पा कर उसने आँच सुलगा दी।

मुखिया ने रात को नौ बजे अपनी घोड़ी तैयार की। इससे पहले उसने अपने कामदार को मश्की घोड़े पर रवाना किया। कामदार हवा से होड़ बद कर घोड़े को उड़ाता चला। मुखिया पीछे से घोड़ी पर तेज़ गति से जा रहा था। मुखिया नवाब ग़ैबीखान के पास जा रहा था। नवाब ग़ैबीखान सिंध के नवाबों का अग्रणी था। बड़ी संपत्ति का स्वामी। ग़ैबी देरे से ले कर बाँध तक सारी भूमि उसकी थी। भूमि की कोई थाह नहीं थी। मीलों में फैली हुई थी। वार्षिक आय भी कई लाखों की थी।

ग़ैबी देरे का गाँव खीरथर पर्वत की तराई में था। गाँव छोटा था किंतु था बहुत ही दर्शनीय: नवाब ने गाँव का आकार भी बदल दिया था। गाँव के सभी मकान पक्की ईंटों से बने हुए थे। कच्ची ईंटों का एक भी मकान नहीं था। बाज़ार भी मनोहर था। कौन कहेगा कि यह गाँव है! शोभनीय पक्की ईंटों वाला वह एक छोटा-सा नगर दीखता था। नवाब के पास करोड़ों की संपत्ति थी। उनको स्वयं पता नहीं था कि उनके पास कितनी संपत्ति और नकदी तथा आभूषण थे। नवाब के ज़ेवरात का हिसाब तोलों में नहीं, मनों में लगाया जाता था। तराजू से ही उनकी तोल की जाती थी। लाड़काणा और कराची की सभी बैंकों में नवाब के खाते में बहुत-सी रक़म जमा थी।

नवाब स्वयं तो करोड़ों का स्वामी था ही, उसके गाँव के बनिये भी संपन्न थे। प्रत्येक के पास कम से कम आधे लाख की संपत्ति थी। मुसलमान भी सभी आनंद में थे। बनिये संपन्न हुए नवाब की कृपा से। नवाब का एक उसूल था। वह साल भर एक ही बनिये से सौदे-सुलुफ़ का व्यवहार करता था। बस एक वर्ष में ही वह बनिया संपन्न हो जाता था। दूसरे वर्ष नवाब लेन-

देन दूसरे बनिये से करता तो वह भी समृद्ध हो जाता था। इसी प्रकार प्रति वर्ष अपने गाँव के किसी एक बनिये से ही पारी-पारी से व्यवहार करता था। इसलिए गाँव के सभी बनिये धनाढ्य थे।

नवाब की शान-शौक़त का क्या कहना ! कहते हैं, जब सर ग्राहम सिंध के गवर्नर हो कर आये, तब ग़ैबीख़ान से उसके कोट में मिलने गये। यह भी कहा जाता है कि नवाब ने कोट के द्वार से अपने महल तक चाँदी के रुपये बिछा दिये। वे रुपये उसने फिर गाँव के किसानों, मज़दूरों, ग्वालों, भैंस चराने वालों और ऊँट चलाने वालों को बाँट दिये। लेडी ग्राहम के लिए कराची से ख़ास हीरों से जड़ा दस हज़ार रुपये का चंदनहार मँगा कर उसने उसे भेंट किया था और सर ग्राह्म को एक ऐसा देसी तमंचा सौग़ात में दिया था जिसका दस्ता हीरों से जड़ा हुआ था। इसके बदले में सर ग्राहम ने उनकी समग्र भूमि का कर माफ़ कर दिया। ऐसा था वह नवाब ग़ैबीख़ान।

मुखिया का जो कामदार पहले वहाँ रवाना हुआ था, वह रात को साढ़े बारह बजे घोड़ी को सरपट भगाता नवाब के कोट पर पहुँचा। बाहर चौकीदार खड़े थे। कामदार ने चौकीदारों को मुखिया के आने की सूचना दी। पहरेदार विस्मय में पड़ गये कि मुखिया स्वयं आधी रात को आ रहा है, इसलिए उन्होंने तुरंत ही कोट के भीतर सूचना भेज दी।

नवाब के दीवान ने, जो नवाब के पास किसी समय भी जा सकता था, जब मुखिया का आना सुना तब तुरंत ही उठ कर खड़ा हुआ और नवाब के विशेष प्रासाद में सूचना भेजी। दासियों ने भीतर सूचना दी। आखिर नवाब ने जो मुखिया का आना सुना तो वह अपना जूता भी भूल गया। नंगे पाँव, बग़ल में पाग दबा कर लपकता कोट से बाहर आया। पीछे से दीवान और कोट के भीतर रहने वाले सभी बनिये, कामदार तथा अन्य विशेष व्यक्ति आ रहे थे। नवाब के प्रसन्नता की कोई सीमा न थी। वह कहने लगा: "सुबहान अल्ला! वल् रब्ब दा फ़सल वेखो। बावन गोठाँ दा मुखी, पिंड जुल आया सी, बलें-बलें। अज किथों मींह उठा सी।" (= ईश्वर धन्य है! प्रभु की कृपा तो देखो। बावन गाँवों का मुखिया स्वयं पधार रहा है। वाह जी वाह! आज कहाँ से वृष्टि आ रही है।)

नवाब पाँव बढ़ाता गाँव से बाहर निकला तो उसने देखा कि मुखिया की घोड़ी भी चौकड़ी मारती आ रही थी। नवाब ने आगे बढ़ कर मुखिया का स्वागत किया और स्वयं घोड़ी की लग़ाम पकड़ी। मुखिया नीचे उतरा तो नवाब ने थोड़ा झुक कर उसे गले लगाया और अपना कंधा पहले मुखिया के बायें, फिर दायें कंधे पर लाया। इस प्रकार कई बार कंधों का परिवर्तन हुआ। मुखिया भी उसी प्रकार अपने कंधे को घुमा रहा था।

नवाब ने कहा: "खुदा दी मेहर, अज सादी तक़दीर खुल गयी सी। मुखी साहिब, तुसाँ बंदे पै मेहर कीती सी। भली आये, जी आये, सादा नूर ठंडा ! (= ईश्वर की कृपा, आज हमारा भाग्योदय हुआ है! मुखी साहेब, आपने हम अनुचर पर कृपा की है, भले पधारे जी, आये, हमारे नेत्र शीतल हो गये।)

मुखिया, नवाब और दूसरे सब मिल कर कोट में आये और एक विशेष कमरे में आ कर बैठे। औपचारिक आवभगत आरंभ हुई। मुखिया ने कहा: "नवाब साहिब प्रसन्न हो, चाक-चौबंद, बाल-बच्चे, भाई-भाई, ढोर-ढोठे..."

नवाब उत्तर में कहता गया : "रब्ब दा फ़ज़ल, अल्ला दर दुआ, मालक दी मेहर, तुवादे बंदे, गुलाम. . ."

मुखिया तब तक कहता रहा : "ख़ैर सलाह, ताज़ी, हृष्ट-पुष्ट, बाल-बच्चे, गौएँ भैंसे. . ."

"खुदा ख़ैर करे। मुखी साहिब। सादा नसीब खुल गया। सी जो तुसाँ पिंड बंदे पै निवाज़श कीती सी। हुणु तुसी खेवेदे की ?"

मुखिया ने उत्तर दिया : "इस समय खाने-पीने की आवश्यकता नहीं। मुझे सूर्योदय से पहले अपने गाँव में वापस पहुँचना है। किसी आवश्यक कार्य से मैं यहाँ आया हूँ।"

"भले आये, जी आये, करो हुकुम करो मुखिया साहिब !"

मुखिया ने नवाब को समस्त वार्ता ज्यों की त्यों सुना दी। बिना किसी विलंब के नवाब ने अपने दीवान को आज्ञा दी। रुपयों की बोरियाँ भरी जाने लगीं, जिनको घोड़ों की पीठ पर लादा गया। किंतु नवाब मुखिया को छोड़ना नहीं चाहता था। उसने कहा : "आप ऐसे कैसे जायेंगे ! न कुछ खाया न पिया !" अंततः नवाब ने उसे ताज़ा दूध चाँदी के बर्तन में पिलाया और उससे बचन लिया कि थोड़े ही दिनों में फिर आ कर उसका आतिथ्य स्वीकार करेगा।

मुखिया रात को तीन बजे ग़ैबी देरे से वापस सवार हुआ और अरुणोदय से पूर्व आ कर उसने अपनी बैठक में प्रवेश किया। रुपयों की बोरियाँ बैठक के एक कोने में इकट्ठी करा कर चद्दरों से ढँका दीं।

सात बजे से पहले ही पंच और बनिये आ कर इकट्ठे हुए। बिचारे बनजारे शून्यमनस्क, उद्विग्न और शोकातुर थे। रात भर उनको नींद नहीं आयी थी। नगर और मुखिया के सम्मान का प्रश्न था। एक बार यदि सेठियों को समय पर रक़म नहीं मिली तो सारे नगर का दिसावर में विश्वास उठ जायगा। बनिये उधार नहीं ले सकेंगे, उनकी हुंडी का कोई भरोसा नहीं करेगा। व्यापार नष्ट हो जायगा। लेन-देन ढीला पड़ जायगा। एक तरफ़ नगर का गौरव नहीं रहेगा तो दूसरी ओर आर्थिक दशा बिगड़ जायगी। बड़ी समस्या थी।

सब पंच और बनिये भगवान का स्मरण करते मुखिया की बैठक पर जमा हो गये। सब असमंजस में थे कि आख़िर क्या होगा। उनको यह पता ही नहीं था कि रात के अँधेरे में काया ही पलट गयी थी।

आख़िर मुखिया आया। सबने उनका स्वागत किया किंतु चेहरे सबके उतरे हुए तथा मुस्कानरहित थे। मुखिया की आकृति भी गंभीर और शांत थी। स्वाभिमान की रेखाएँ उसके आनन पर झलक रही थीं। गरदन ऊँची थी और आँखों में संतोष-भरी चमक। बनियों को कुछ आश्वासन हुआ किंतु रात भर में धन कहाँ से आया होगा। दमड़ी-कौड़ी कैसे चुकायी जायगी ? उनकी समझ में कुछ नहीं आता था। मन में व्याकुलता थी तो हृदय में शोक।

सब अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। मुखिया ने भी अपना आसन ग्रहण किया। अढ़तिये तूलों के सहारे बैठे थे। बैठक में सन्नाटा छाया हुआ था। कोई तिनका गिरता तो भी स्पष्ट शब्द होता। बिचारे पंचों की साँस फूल रही थी। अढ़तिये अपनी तोंद पर हाथ फिरा रहे थे।

वाशामल के मुख पर पाजीपन छाया हुआ था। नज़र बचा कर उसने अढ़तियों की आँख से संकेत किया।

आखिर एक अढ़तिये ने मुँह खोल कर कहा : "मुखिया साहिब, फिर क्या कहते हो ?"

"श्रीमान जी ! जैसी आज्ञा करें।"

"आज्ञा और कौन-सी है, रक़म निकालो।"

"श्रीमान जी, रक़म की कोई कमी नहीं। इसी क्षण लीजिए।"

"इसी क्षण लीजिए ! मुखिया साहिब, मुँह से बोलने से इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। हमें तो रक़म चाहिए, दिलासा नहीं।"

मुखिया उठा, बैठक के पीछे वाले कोने की ओर चलने लगा। अढ़तिये ने उसका हाथ पकड़ कर कहा : "ऐसे हम जाने नहीं देंगे। इस तरह बहाना बना कर चल दो, यह कदापि नहीं हो सकता।"

मुखिया ने आश्वस्त स्वर से कहा : "ज़रा शांति रखिए, रुपये बहुत हैं।"

"शांति काहे की ? अपने वचन का पालन करो।"

मुखिया ने कहा : "जी हाँ, अवश्य, कृपा कर के मेरे हाथ को छोड़ दीजिए।"

अढ़तिये ने हाथ छोड़ा। मुखिया बैठक के पीछे वाले कोने में गया। अढ़तिये मुँह घुमा कर देखने लगे। पंच और बनजारे बहुत ही उत्कंठित दीखते थे। सबका दम मानो घुटा हुआ था। सबका श्वास नेत्रों में स्थिर था।

इतने में मुखिया ने ढेर पर से चादर हटायी और यह क्या. . .सब अचंभे में पड़ गये, सबकी आँखें फैल गयीं। अपनी दृष्टि पर किसी को विश्वास नहीं होता था। अढ़तिये आँखें मल कर रुपयों को देखते थे और रुपये देख कर आँखों को मलते थे। फिर रुपये देखते, फिर आँखें मलते।

मुखिया ने कहा : "कलदार तैयार हैं। ठोंक-बजा कर ले लीजिए।" अढ़तियों और वाशा-मल के छक्के छूट गये। पंचों के मुख पर मुस्कराहट आ गयी। होंठ खिल उठे। गौरव से गरदनें ऊँची हो गयीं। अढ़तिये हक्के-बक्के हो गये। क्षण भर में कलदार खनकने लगे और बोरियाँ भरी जाने लगीं।

नगर में देखो तो नवजीवन का संचार हो गया। सब के चेहरे प्रफुल्लित हो उठे। आनंद-प्रमोद छा गया। चौक-चौक पर प्रसाद और मीठा जल बँटने लगा। गुड़ मंडी, अनाज मंडी, सब्जी बाज़ार और बजाज बाज़ार में मीठे चावलों के देगचों में उबाल आने लगे। सारे नगर ने मिल कर पेट भर कर मिष्ठान्न से तृप्ति की। आया-गया, अपना-पराया, जाट-जुलाहों से ले कर नगर के कुत्तों ने भी पेट भर तृप्ति पा ली। गाँव की मर्यादा और गौरव की सुरक्षा हो गयी। मुखिया की पगड़ी की पैज सुरक्षित हुई।

अनु० : एन० एन० बठेजा

●●

विवेचना

बच्चनसिंह

शहर में घूमता आईना

•

**उपेंद्रनाथ अश्क का उपन्यास। नीलाभ प्रकाशन।
प्रथम संस्करण सन १९६३। मूल्य: १०.००।**

कथा-साहित्य की आलोचना आलोचक से व्यापक मानसिक संघटन और चिंतन की अपेक्षा रखती है। कहानी-उपन्यास की विविधताएँ और प्रयोग आलोचना के सुनिर्दिष्ट मानों पर प्रश्नचिह्न लगाते रहते हैं। कविता और नाटक के संबंध में निर्धारित मान्यताओं में कम अंतर आता है क्योंकि वे स्वयं अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील होते हैं। देखते-देखते कथानक और चरित्र के संबंध में पूर्वनिश्चित धारणाएँ ध्वस्त हो गयीं। 'टॉपलेस' वस्त्रों की तरह कथानक-चरित्रहीन उपन्यासों का अन्वेषण किया गया। और आज उपन्यास को परिभाषित करना अत्यंत कठिन हो गया है। यूरोप और अमरीका में रूप की दृष्टि से बिखरे हुए उपन्यास लिखे गये और वे जीवन को अपेक्षाकृत अधिक समग्रता तथा गहराई में आकलित करने में समर्थ हुए हैं। कथ्य के महत्व के साथ ही रूप का महत्व बँधा हुआ है। सुंदर रूप-विन्यास जीवनहीन होने पर अनाकर्षक होगा, परंतु बिखरा हुआ उपन्यास जीवंत होने के कारण सशक्त और आकर्षक होगा। सच तो यह है कि आज के जीवन को, जो पहले की तरह सुनिर्मित नहीं है, सुगठित उपन्यास अभिव्यक्त नहीं कर सकते। आज उपन्यासगत रूप का रंगारंग जीवन की अनिवार्य माँग का फल है।

'शहर में घूमता आईना' अपने रूप-विन्यास में नया होने, तथा गठित उपन्यास-परंपरा से अलग जा पड़ने के कारण अधिक लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सका है। इसमें संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, स्मृतियों, अंतर्स्मृतियों आदि का जो अंतर्भाव किया गया है वह इसे एक अनोखा रूप देता है। इससे यह प्रश्न लगा हुआ है कि : वह कौन-सा कथ्य है जिसके लिए इस नवीन

रूप-विन्यास की अनिवार्यता आ पड़ी? क्या इसमें वस्तु और रूप का अभेद स्थापित हो पाया है? लेखक का वह कौन-सा 'विज़न' है जो इसी रूप में ही अँट सकता था, दूसरे में नहीं। इस आईने में उभरने वाले चित्र किस सीमा तक एक संपूर्ण चित्र आँक पाते हैं? और वह चित्र पाठकों की संवेदना को किस प्रकार परिष्कृत करता है?

इस आईने में अश्क के सुपरिचित नायक चेतन का चित्र मुख्य रूप से उभरता है। जो लोग इसमें जालंधर देखते हैं वे सैरबीन देखने के पुराने अभ्यासी हैं अथवा पूरे सिने चित्र में न रम कर केवल फ़ोटोग्रैफ़ी के सहारे दुनिया का सैर कराना चाहते हैं। जालंधर चेतन से अलग नहीं है, न हो ही सकता है। कोई भी शहर जो मैं हूँ वही है। मेरे आप में जो भेद होगा वही एक शहर के संबंध में भी होगा। या यों कहिए कि यह आईना खुद चेतन है जिसमें एक-एक कर के जालंधरी छवियाँ प्रतिबिंबित होती हैं। या फिर सारे चित्रों में चेतन उभरता है। तो क्या जहाँ चेतन नहीं उभरता वहाँ का चित्र कक्ष की शोभा मात्र है? लगता है, चेतन अंशों में चेतन है। बद्दा भी चेतन है और बांशी राम भी। चेतन कितना चेतन है, कितना बद्दा, कितना हकीम दीनानाथ, आदि इसका विचार आगे होगा। फ़िलहाल सैरबीन में उभरने वाले चित्रों को देख लिया जाय।

यह जो मुँह चियारे दिखायी पड़ता है, चौधरियों का दीसा है—नक़्शानवीस। 'वह माईया. . . .' की गाली देने वाला बद्दा है। लट्ठे की मैली कमीज़ और उटंग पायजामा पहने रामदित्ते हैं। 'ठल्लू जड़िये दा पुत्तर' दीनानाथ गंजीना-ए-अमलियात की साधना करते-करते हकीम बन बैठा है! दो गदरायी हुई जवान लड़कियाँ देखिए—अक्की और अंबो। ये हुनर साहब रहे और ये हैं निश्तर। 'सदाकत' के खुले हुए पृष्ठ। ये बैतबाज़ गुंडे हैं। फलक पर एक ख़ूबसूरत मुसलमान लड़का दिखायी दे रहा है—हमीद। रुद्रसेन आरया गीता का अनुवाद फ़रमा रहे हैं। यह मक्खन-सा नर्म मुलायम लड़का कौन है?—रजत। जीवट की तस्वीरें भी हैं—बिल्ला-देबू। यह खालसा होटेल है। यह बांशीधर हैं। यह आया जालंधरी योगी। यह विधवा कुंती है जो हँस रही है। यह देखिए—बेकिनार झील अर्थात चंदा। यहीं पर सैरबीन की रील चुक जाती है। मंच पर झाँक कर चले जाने वाले तो दसियों चित्र हैं—बेशुमार चेहरे हैं।

इन चरित्रों के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है—हिंदू-मुसलमानों के झगड़े, खालसा होटेल की लड़ाई, गली-कूचे का लंबा विवरण-वर्णन, ज्ञानयोग-कर्मयोग की चर्चा, सत्याग्रह आंदोलन की झलकियाँ, शेरो-शायरी आदि-आदि।

इस उपन्यास के ताने-बाने में चेतन को बुना गया है। या सारी बुनावट या टेक्स्चर चेतन है। इस बुनावट में चेतन कैसा बन पड़ा है—इसे दो तरीक़ों से देखा जायगा: एक तो स्वयं चेतन की पहचान करते हुए, दूसरे टेक्स्चर का विश्लेषण करते हुए। दोनों विवेचनाएँ प्रकारांतर से चेतन की ही व्याख्याएँ होंगी। पहले चेतन को ही देख लिया जाय। यह चेतन 'गिरती दीवारें' का चेतन है—अपनी अल्हड़ सुंदरी साली पर प्यार लुटाने वाला। चेतन वही है—अपनी सुंदरी अल्पवयस्का साली का एक अधेड़ उम्र के एकांउटेंट से विवाह कराने के लिए दायी। इस अपराध के बोध से उसे निष्कृति नहीं मिलती। अपराध-भावना के दंश से वह चारों ओर भटकता

है। यह उसके जीवन का एक छोर है तो कैरियर की समस्या दूसरा छोर। एक छोर फ़ायडीय मनोविज्ञान से उलझा हुआ है तो दूसरा क्षतिपूर्ति के सिद्धांत से।

सारा उपन्यास पढ़ लेने के बाद लगता है कि चेतन वह चेतन नहीं है—उसमें बहुत से परिवर्तन हो गये हैं। अब उसकी किशोर भावुकता झड़ गयी है। वह रोमैंटिक नहीं रह गया है—बल्कि कुछ-कुछ ऐंठी-रोमैंटिक हो गया है। अनंत का रोमांस, कुंती की कहानी या उसके पिता के दास्तान ऐंटी-रोमैंटिक ही हैं। ऐंटी-रोमैंटिक होने का अर्थ यह नहीं है वह बुद्धिवादी हो गया है। वह प्रौढ़ अवश्य है पर बौद्धिक परिपक्वता वय की परिपक्वता नहीं होती। उसका बुद्धिवाद उपरले स्तर का बुद्धिवाद है। जहाँ कहीं वह बुद्धिवादी की तरह से बात करता है—उसका 'मीडियाकरपन' साफ़ ज़ाहिर हो जाता है। जालंधरी योगी और उसके तर्क में दिशाओं का अंतर है पर दोनों का स्तर एक ही है।

इस सिलसिले में 'अश्क' की एक कहानी 'ठहराव' याद आती है। इस उपन्यास की परिणति वही है जो उस कहानी की है। अपने परिवेश विशेष के कारण 'ठहराव' कहानी प्रीतिकर लगती है, लेकिन इस उपन्यास की यह परिणति थकान, हार और लाचारी छोड़ जाती है। कुंती की हँसी के पीछे वैधव्य से समझौता देखना चेतन की अपनी कल्पना है—जीवन की वास्तविकता नहीं। इस आधार पर यह समझ लेना कि नीला भी अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लेगी, अयथार्थ है। कोई इन्हें आदर्शवादी कह सकता है। अंत में चेतन चंदा के आँचल में अपना सिर उसी प्रकार छिपा लेता है जिस प्रकार शुतुरमुर्ग रेत में अपनी गर्दन।

इससे एक शंका और होती है। क्या चेतन की अपराध-भावना कृत्रिम है? यह सारा भटकाव नीला के प्रति किये गये अपराध के कारण है, पर उसके कारण उसे जो दर्द पैदा होता है वह ऐसा नहीं है कि चेतन के व्यक्तित्व को मथ डाले अथवा उसे माँज कर चमका दे। नीला के प्रति उसका प्यार उसी प्रकार का था जैसा अंबो और कुंती के प्रति—निष्क्रिय और हतचेत। बद्दे और जालंधरी योगी के चमत्कार में नीला के प्यार को तो वह भूल ही बैठा। और उसका 'कैरियर'! उसके मित्रों में कोई डिप्टी कलेक्टर हो गया, कोई रेडियो स्टेशन डायरेक्टर। ऐसी स्थिति में उसे अपनी स्थिति का जो बोध हुआ है, वह अत्यंत सजीव बन पड़ा है। लगता है, इसको लेखक ने सचाई से दिया है। यह उसके जीवन का अनुभूतिमय अंश है। लेकिन जहाँ उसे कोई निश्चय करना पड़ता है, वहाँ उसके स्वर बड़े ही कमज़ोर प्रतीत होते हैं। दो उदाहरण लीजिए :

(१) मैं अशांत जरूर हूँ पर मैं न संसार से मुँह मोड़ सकता हूँ। मेरा ध्यान न पूर्वजन्म की ओर है, न आगामी जन्म की ओर। मैं इस जन्म को सफल और सुखी बनाना चाहता हूँ। मेरी परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं, वातावरण अच्छा नहीं, लेकिन मैं इसी में से रास्ता निकालूँगा। मुझे देर लगेगी पर मैं रास्ता जरूर निकालूँगा।

(२)....नीला जरूर चला ले जायगी....जब कुंती अपने वैधव्य से समझौता कर हँस सकती है तो नीला कैसे न हँसेगी? वह बेकार इतना सोचता है....कल लाहौर चला

जायगा और अपने आपको लाहौर की ज़िंदगी में डुबो देगा। उसके पास जो है, उसे बहतर बनाने का प्रयास करेगा, जो नहीं है उसकी चिंता नहीं करेगा. . . . ।

पहला उद्धरण उस समय का है जिस समय चेतन जालंधरी योगी को उत्तर देता है। दूसरा उद्धरण पुस्तक के अंतिम पृष्ठ से लिया गया है। यहाँ पुनः वह अपनी पहली बात को दुहराता है। ये वक्तव्य कहीं पर भी उसके क्रियात्मक पक्ष से जुड़ नहीं पाते। दूसरे उद्धरण के अंतिम वाक्य को कोई चाहे तो लेखक का 'विज़न' कह सकता है। आज की ज़िंदगी के परिप्रेक्ष्य में ये निश्चय एकदम बेमाने और खोखले लगते हैं।

'अश्क' ने अपने एक निबंध में यह लिखा है कि आलोचकों के सामने उपन्यास का एक नक़्शा होता है, उसका अपना 'विज़न' होता है और वे उन्हीं को खोजते हैं। इस आरोप को स्वीकार करने को मैं तैयार नहीं हूँ। आलोचक 'विज़न' की पकड़ रचना के भीतर से करता है। यदि 'अश्क' निम्न मध्य वर्ग की हार-लाचारी, समझौतावादी मनोवृत्तियों को ही चित्रित करना अपना लक्ष्य मानते हैं तो आलोचक के सामने आधुनिक जीवन-बोध की समस्या उठ खड़ी होती है। आस्था का प्रश्न झाँकने लगता है। आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह देखे कि कोई साहित्यिक कृति आधुनिक जीवन को उसकी समग्रता में कहाँ तक आँक पायी है। आज के जीवन में भी हार-लाचारी कम नहीं, पर वह चेतन की हार-लाचारी नहीं है। उसमें आस्था का तीखा स्वर भी है। चेतन में आस्था नहीं है, आस्था का दिवास्वप्न है। इसलिए यह आधुनिकता से असंपृक्त रह जाता है।

रह गयी बुनावट या टेक्सचर की बात। टेक्सचर की छानबीन चेतन की छानबीन है। अलग-अलग कथाएँ, दृश्य, घटनाएँ चेतन के माध्यम से ही प्रस्तुत की जाती हैं। और उनमें हो कर ही चेतन अपने विविध आयामों को उजागर करता है। प्रत्येक दृश्य, चित्र आदि जितनी गहराई से उससे संपृक्त होगा, उसी अनुपात में उसे सार्थक कहा जा सकता है।

चेतन और अनंत खोसले की गली के सामने से निकल कर बाज़ार की ओर जा रहे थे कि बद्दा लपक कर मिला। चेतन का मन उखड़ा हुआ था, फिर भी वह रुक गया। उसने पूछा कि इस बार तुम मैट्रिक में बैठे ? जवाब अनंत ने दिया कि पट्ठे ने सेकंड डिवीज़न मार लिया। झमानो का हंसा शरारत से बाज नहीं आया—इससे पूछो कि इसका रोल नंबर क्या है ? बद्दे ने बता दिया ४२२९। देबू काने का हवाला देते हुए जब उससे पूछा गया कि तुमने नंबर गलत बता दिया है तो उसने देबू को भद्दी गाली दी। बद्दा गली में भाग गया। अनंत और झमानो का हंसा ठहाके लगाते रहे। बद्दा चेतन से दो वर्ष बड़ा था। उसकी माँ उसे पढ़ा-लिखा कर अफ़सर बनाना चाहती थी। बद्दा अपने पड़ोसियों को आसपास के लोगों की जन्मतिथियाँ, शादी की तारीखें, हर दुर्घटना का समय बता कर चमत्कृत किया करता था। पहली बार मैट्रिक में फ़ेल होने पर उसने बहाना बनाया कि 'इनविजिलेटर' से उसकी लड़ाई हो गयी। दूसरे वर्ष फ़ेल होने की ज़िम्मेदारी उसने स्कूल टीचरों के मत्थे मढ़ दी। तीसरे वर्ष उसकी माँ ने कहा कि वह प्राइवेट परीक्षा देगा और फ़र्स्ट डिवीज़न में पास हो कर दिखा देगा। वह घर में ही पढ़ता और गली की औरतों में बैठा

रहता। तभी से वह बद्दा पुकारा जाने लगा। परीक्षा में उसने ऊटपटाँग उत्तर दिये और इस वर्ष भी रह गया। कई वर्ष बाद उसने अपने भाग्य को एक बार फिर आज़माया लेकिन असफल रहा। बद्दा ट्रिब्यून का पुराना अंक लिये हुए आ धमका। रोल नंबरों में एक जगह लाल पेंसिल का निशान लगा हुआ था। चेतन ने बधाई दी और बद्दे ने दाँत निपोर दिये।

यह है आईने में पड़ा एक प्रतिबिंब। देखना यह है कि क्या यह माध्यम है अथवा स्वयं में अलग एक कहानी। या दोनों है। अथवा न यह न वह। इस माध्यम से चेतन का एक पक्ष उभरता है—उसका घटिया दर्जे का वातावरण। पर सवाल है कि इस कहानी को चेतन से कैसे संबद्ध किया जाय? इसका कोई जवाब नहीं मिलता। बद्दे के माध्यम से जो कुछ कहा गया है वह न तो अपने आप में महत्व का है और न चेतन से संबद्ध हो कर भी (यदि वह किसी तरह से संबद्ध है तो) महत्वपूर्ण हो पाता है।

रामदित्ते की सगाई का क़िस्सा रोज़मर्रा की बात है। न तो उसका चिढ़ना महत्वपूर्ण है और न उसकी पत्नी का भाग जाना। इलाज के सिलसिले में एक बिलगावासी कहता है: "**इलाज वह क्या करायेगा। वह इतना भोला है कि बच्चे और पत्नी की मृत्यु को भगवान की करनी समझता है।....अरे भाई भगवान की करनी तो है, पर यह खोपड़ी में 'डिमाक' हमको मिला है, यह भी भगवान ही ने दिया है कि इसे इस्तेमाल करे।**" इस प्रकार की नीरस वार्ताओं की कमी नहीं है। फिर ये इतने घिसे-पिटे हैं कि आज के उपन्यासों में इनके लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। रामदित्ते के सिलसिले में, अनंत की एक बात पर, उसे चाचा फल्गूराम याद आ गये। पर फल्गूराम के पागलपन का वर्णन करते हुए उसके बाप के पागलपन का वर्णन भी लेखक को आवश्यक मालूम पड़ा। इन पागलों की कहानी को चेतन के इस विचार से जोड़ दिया गया है: "**इस अभावग्रस्त मुहल्ले में जहाँ अशिक्षा, असंस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था, जहाँ कई घरों में उमर भर के भूखे-प्यासे कुँवारे पड़े थे, अनाचारी, जुआरी और पागल न हों तो और क्या हों? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ घर न करें और नस्लों को खोखली न बनाती चली जाँय? कई बार जब कोई कुँवारा काफ़ी उमर गुज़र जाने पर शादी करता था तो वह पहले ही यौन व्याधियों का शिकार हो चुका होता और कई बार जब किसी युवा रँडुवे की दोबारा शादी न होती तो वह बाद में उन रोगों का ग्रास बन जाता या विक्षिप्त हो कर गली-गली मारा-मारा फिरता....** इससे ऐसा लगता है कि निम्न मध्य वर्ग की विक्षिप्तता और व्याधियों का मूल कारण स्वस्थ यौन संबंधों का अभाव है। गोया इसके लिए अन्य आवश्यक भौतिक कमियाँ दायी नहीं हैं।

रामदित्ते की अपेक्षा हकीम दीनानाथ का अनुषंग अधिक महत्व का है। चेतन को उसकी याद उसके जीवन संघर्षों के संदर्भ में आती है। इसलिए यह बद्दा और रामदत्ता की तरह कटा हुआ नहीं लगता। दीनानाथ को अपने को ऊँचा उठाने की साध बहुत थी। उसे पढ़ने का भी काफ़ी शौक़ था। 'चंद्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति', 'भूतनाथ' आदि पुस्तकें उसने कभी पढ़ डालीं थीं। बंगाले का जादू पढ़ कर तो अच्छा ख़ासा जादूगर बन बैठा था। पर उसके जादुई खेल का विस्तार उसके प्रसंग में अनावश्यक ही नहीं, उपहासास्पद भी लगता है। गंजीना-ए-अमलियात की साधना का विवरण भी कम लंबा नहीं है। दालचंद और ठल्लूराम के प्रसंग रोचक हैं।

हकीम की सारी साधना 'फ़ॉड' है। इसी अर्थ में इसके टेक्सचर के माध्यम से चेतन की एक झाँकी मिल जाती है।

हमीद और चेतन के माध्यम से चेतन अवश्य उभरता है—कुछ-कुछ भूखी पीढ़ी ('हंगरी जेनरेशन') के 'बीटनीक्स' की तरह। 'बीटनीक्स' की भूख में नये पैमाने की भी भूख है, पर चेतन ऐसा विभुक्षित है कि कोई पाप नहीं कर सकता। वह ऐसा क्षीण जन है जो निष्करुण नहीं हो पाता।

जालंधर और योगी का संबंध बहुत पुराना है। पूर्व में कामरूप और पश्चिम में जालंधर तांत्रिक योगियों का अड्डा था। जालंधरी योगी के अभाव में जालंधर का वर्णन अधूरा ही रह जाता। जालंधरी योगी के सिलसिले में चेतन योग तथा योगियों के चमत्कार के संबंध में जितने क़िस्से जानता था, सब सुना कर चुक जाना चाहता है। यह योगी भी अन्य सभी पात्रों की तरह 'मीडियाकर' है। चेतन उससे किसी माने में कम नहीं है। जैसा योगी का उपदेश, वैसा चेतन का प्रत्याखान। 'को बड़-छोट कहत अपराधू।' न तो उपदेश में गहराई है और न जिज्ञासाओं और शंकाओं में। योगी जिस स्तर पर ईश्वर और धर्म आदि की व्याख्या करता है, चेतन के स्थिति-प्रज्ञ, ज्ञानयोग, कर्मयोग की व्याख्याएँ भी उसी स्तर पर प्रस्तुत की गयी हैं।

अपने घटिया वातावरण और साधारण विचारों में उलझे रहने पर भी चेतन कभी-कभी युगीन चेतना की झाँकी प्रस्तुत कर देता है। भागों के संबंध में वह सोचता है: पति मिला तो अधेड़, दमे का मरीज़, सगे संबंधी टुच्चे और कमीने, फिर वह तेलू के साथ भाग गयी तो क्या बुरा किया? धर्मचंद कोई लाखों की जायदाद तो छोड़ न गये थे। वह शन्नो के जूते सहती, अधेड़ देवर की वासना का शिकार बनती तो दो रोटी खाती। अपने समवयस्क, मनचीते आदमी के साथ (वह ब्राह्मण ही सही) भाग गयी तो क्या बुरा किया उसने? . . . .कुंती और चंदा से वह कितनी भिन्न थी—कितनी साहसी और कितनी दबंग. . . .लेकिन आधारभूत रूप से उसके जीवन की 'ट्रेजिडी' क्या और भी गहरी न थी—पहाड़ों के स्वतंत्र वातावरण में उड़ी फिरने वाली वह चिड़िया कहाँ कल्लोवानी मुहल्ले के उस पिंजरे में आ फँसी थी! उड़ कर वह जायगी कहाँ? एक पिंजरे से निकल कर दूसरे पिंजरे में न जा फँसेगी? वह पिंजरा—उसकी पसंद का पिंजरा—उसके लिए नंदन-कानन था। तेलू के संग वह उस वातावरण की सारी घुटन के ज़हर को अमृत जान कर पी जायगी। उसके स्वभाव में शहरों के निम्न मध्य वर्ग की दासता तो न थी, ज़िंदगी अपनी इच्छा से जी लेने की ललक तो थी, फिर वह कितनी भी बेबाक क्यों न हो...

वह इस प्रकार की भावना को—साहस को—पसंद करता है, लेकिन अपने संस्कारों के कारण उसे अपने भीतर उँड़ेल नहीं पाता। इस उपन्यास में अनंत एक ऐसा पात्र है जो उसके संस्कारों को सबसे अधिक कुरेदता है, सबसे अधिक खोलता है। इसलिए चेतन की समग्रता में उसका योग सबसे अधिक है। उपन्यास के समस्त 'फ़्रॉड' चरित्रों में वही एक ऐसा व्यक्ति है जो 'फ़्रॉड' से असंपृक्त और यथार्थवादी है। सच्चे अर्थ में वह ऐंटी-रोमैंटिक है, यद्यपि उसके विचार काफ़ी अनगढ़, भद्दे या 'क्रूड' हैं।

अनंत गोया चेतन का पूरक पक्ष है और सभी के 'फ़ॉड' को चीरने वाला पैना नश्तर। उसके व्यंग्य की तेज़ धार हल्के-गहरे स्पर्शों से प्रत्येक की कुंठा को चीरती चलती है। आरंभ में ही चेतन की साली का उल्लेख आने पर वह कहता है : **'तो दे गयी तुम्हें दाग़े-जुदाई वो भी ?'** बद्दे के 'फ़ॉड' का पर्दाफ़ाश भी वही करता है। ठल्लूराम और दालचंद की हकीमी को उलटने की उसकी शरारत भी मजे़दार है। हकीम दीनानाथ के संबंध में उसका यह कहना कितना मौज़ूं है : **"इस साले को किसने कहा था कि जड़ियागिरी छोड़ कर हकीम बने। ठगी के लिए वही पेशा क्या बुरा था ?"** उसे प्रेम-व्रेम में विश्वास नहीं है। 'मूड' के खराब होने के ज़िक्र चलते ही अनंत कहता : **"है मूड ख़राब होने से तुम्हारी साली अब आने से रही. . . . उसका खेड़ा छोड़ो और दूसरा गाँव देखो। तुम नहीं और सही, और नहीं और सही।"** अनंत के चाबुकों का असर चेतन पर हुआ था। वह उसकी बात में तथ्य अवश्य देखता था। यह दूसरी बात है कि चंदा के प्रति वफ़ादार रहने और नीला के प्यार पाने के द्वंद्व से उसका छूट पाना कठिन था।

कुछ सार्थक दृश्यों, चरित्रों, विवरणों को छोड़ कर बहुत से विवरण-वर्णन ऐसे हैं जो किसी भी तरह इसके अंग नहीं बन पाते। कथाओं के भीतर की कथाएँ, एक पीढ़ी से आगे बढ़ कर और पीढ़ियों को समेट लेने की आकांक्षा, स्मृतियों को कुरेद कर उनसे सब कुछ वसूल कर लेने की प्रवृत्ति आदि के जटाजूट में सहृदयों की मानस-गंगा खो जाती है। उसे बाहर निकलने के लिए काफ़ी मेहनत करनी पड़ती है। उपन्यास ख़त्म करते-करते बहुत-कुछ छूट जाता है। उपन्यास को ख़त्म कर लेना भी कम श्रमसाध्य नहीं है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपन्यास का स्तर कुछ ऐसा बौद्धिक है कि वह नीरस हो गया है। बल्कि बौद्धिक न होने के कारण ही वह नीरस हो गया है। 'पैटर्न' बौद्धिक उपन्यास के लिए अधिक मौज़ूं था। इस सिलसिले में लॉरेंस डूरेल का 'फ़ोरडेकर' उपन्यास याद आ जाता है। उसमें भी अलेग्जेंड्रिया का काफ़ी वर्णन है––जी उबा देने वाला वर्णन भी। लेकिन अलेग्जेंड्रिया आधुनिक प्रेम की 'बारीक़ियों' के साथ उभरता है। उसके वर्णन में ऐसे प्रतीक और बिंब निर्मित होते हैं जो जीवन को उसकी पूरी गहराई में उभारते हैं।

'शहर में घूमता आईना' का एक विवरण देखिए जिसमें ताले-कुंजियाँ बनाने वालों की दुकानें थीं :

वे लोग साँचों में तरल धातु डाल कर कुंजियाँ-ताले बनाते थे। उधर लोहार का साथी छोकरा धौंकनी से चीड़ के कोयलों में हवा करता, जिन पर रखी कुठाली में धातु पिघलती, इधर लोहार साँचे को तैयार करता। जब साँचा तैयार हो जाता तो वह उसके ऊपर वाला हिस्सा उठा कर नीचे वाले हिस्से के मुँह से रेत मिली मिट्टी हटाता। साँचे के बीच में कुंजी की आकृति खुदी होती। वह लोहे की आर से साँचे के मुँह से कुंजी तक एक लकीर-सी खींच देता। तब ऊपर का हिस्सा भी इसी तरह ठीक कर रूई के फाहे से मिट्टी के तसले से कुछ मसाला ले कर साँचे पर छिड़क पेंच कस देता और उसे निहाई के साथ खड़ा कर, पैर के दबाव से सँड़सी से कुठाली उठा कर पिघली धातु उसमें उड़ेल देता। साँचे से धुँआ उठने लगता और जले मसाले और रेत की बू फैल जाती।

कुठाली को वापस अँगीठी पर रख, उसमें और धातु के टुकड़े डाल, वह साँचे को तख्ते पर रखता, उस पर दो-एक मुक्के मार, साँचा खोल कर सधे हुए हाथों से ऊपर का हिस्सा उठा लेता। निचले भाग में ढली हुई कुंजी चमकती, जिसके सिरे से धातु की एक लकीर साँचे के मुँह तक आते हुए धातु का एक गुमटा-सा बन जाती। तब साँचे के दोनों ओर से कुछ हल्के से ठकोर कर वह उसे दोनों हाथों में ले ऐसे उलटता कि कुंजी बाहर जा गिरती और साँचे की रेत जरा भी न हिलती। तब सँडसी से कुंजी को उठा कर वह पानी से भरी मिट्टी की छोटी-सी नाँद में डुबोता। 'शूँ' की आवाज़ होती। धुँआ और लोहगंध उठ कर नथुनों में भर जाती। फिर वह छेनी और हथौड़े की एक ही चोट से धातु का गुमटा अलग कर देता, नयी बनी कुंजी को दायीं ओर कुंजियों के ढेर पर फेंक देता और साँचे से मसाला मिली जली रेत अलग कर उसे फिर सान कर साँचे में भरता।

माना कि इस प्रक्रिया में चेतन को बेहद आकर्षण था। स्कूल या कालेज से आते समय, वहाँ रुक कर, वह घंटों इसे देखा करता था। इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन की स्मृति बड़ी ही तीव्र है। ताला-कुंजी बनाने की प्रक्रिया उसे अद्‌भुत रूप से कंठस्थ है। गोया वह इसका रोज़ पाठ करता रहा है। इस विस्तार का प्रयोजन? इसे पूरे उपन्यास के संदर्भ में कैसे लिया जाय?

पाठकों के लिए इसका प्रतीकात्मक अर्थ समझना कठिन था। इसलिए उसे लेखक ने खुद समझा दिया है : **"साँचे में पड़ी, नयी ढली कुंजी, चमकती कुंजी उसे सदा नवजात शिशु-सी लगती और जब लोहार साँचे के मुँह पर बन जाने वाले गुमटे और कुंजी के बीच की पतली-सी पत्ती काटता तो उसे लगता जैसे किसी शिशु की नाल कट रही है।"** उस वर्णन से प्रतीक का न उभर पाना वर्णन की असमर्थता का द्योतक है। यदि शास्त्रीय शब्दावली का उल्लेख गुनाह न हो तो इसे 'स्वशब्दवाच्यत्व दोष' कहा जायगा।

और यह है कल्लोवानी मुहल्ला :

वास्तव में कल्लोवानी मुहल्ले में तीन गलियाँ और दो चौक थे और एक लंबी गली, जिसके बीचोबीच छोटी-सी नाली बहती थी। बाजियाँवाला बाजार के खत्म होते ही यह गली बायीं ओर को मुड़ती थी। शुरू में ही एक ओर रामदित्ते हलवाई और हरलाल पंसारी की दुकान थी। उन दोनों दुकानों के बाद दो और दुकानें थी, जिनमें हरलाल पंसारी ही का सामान—अनाज की बोरियाँ, घी और तेल के कनस्तर आदि—रहता था। उनके बाद बायें हाथ को पहला चौक अंदो (आनंदो) का था। इसी में चेतन का घर था। यहीं से गली दायें हाथ सँकरी होती हुई मुड़ गयी थी। शुरू में एक भट्ठी थी, जिसमें ज्वालो महरी शाम को चने और मकई के दाने भूना करती थी। उससे जरा आगे, बायें हाथ को एक लंबी-सी गली 'गली खासलियाँ' थी, जिसमें बद्दे का घर था और आगे गली में दायें हाथ को दूर, बरने पीर तक, दीवारों का सिलसिला चला गया था, जिसके पीछे मुसलमानों के मकान थे, पर उसका कोई दरवाजा उधर गली में नहीं खुलता था। गली खासलियाँ के बाद....

यह कल्लोवानी मुहल्ले का यथातथ्य चित्र है। इससे कल्लोवानी मुहल्ले का भूगोल

उभरता है। डूरेल की तरह अलग्ज़ेंड्रिया के माध्यम से जीवन अनेकमुखी आयाम नहीं। क्या यह फ़ोटोग्रैफ़िक नहीं है?

वे फ़ोटोग्रैफ़िक पुनस्सर्जन आदि को आलोचकों का क्लिक मानते हैं। उनका कहना है कि **"दैनंदिन जीवन ख़ासा 'बोरिंग' और फ़ीका"** होता है। उसे रचना में यों ढालने के लिए कि वह जैसा का तैसा भी लगे और उबाये भी नहीं, ज़बरदस्त कल्पना और कला की आवश्यकता है। उत्कृष्ट रचना पुनर्स्सर्जित ही होती है, जबकि भोड़ी, फ़ोटोग्रैफ़िक। 'शहर में घूमता आईना' के लगभग ५०० पृष्ठ उपन्यास के परंपरागत साधनों (रूमान, प्रेम, सेक्स) की मदद के बिना यदि पाठक दिलचस्पी से पढ़ जाता है और फिर भी उसे लगता है कि वह ज़िंदगी को जैसे का तैसा देख रहा है तो उसे समझना चाहिए कि लेखक ने कल्पना और कला से भरपूर काम ले कर उसे सिरजा है. . . .

अश्क जी के इस कथन में एक स्पष्ट असंगति दिखायी पड़ती है। कल्पना और कला द्वारा सर्जित साहित्य में ज़िंदगी जैसी की तैसी दिखायी पड़े यह सर्वथा असंभव है, अमनोवैज्ञानिक है। साहित्य में यथावत ज़िंदगी का चित्रण न हो कर उसका भ्रम ('इल्यूज़न') चित्रित होता है। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत उपन्यास में ज़िंदगी का यथावत चित्र मिलता है, कल्पना द्वारा पुनर्स्सर्जित जीवन नहीं। इसकी ऊब का एक बहुत बड़ा रहस्य यही है।

ये सारे विवरण-वर्णन 'डाकुमेंट्री' हो जाते हैं। 'डाकुमेंट्री' तथ्यात्मक होती है, कल्पनात्मक नहीं। इसके माध्यम से औपन्यासिक जगत की सर्जना संभव नहीं है। आर्वेल, कोएस्लर और सार्त्र के उपन्यासों की असफलता उनके 'डाकुमेंट' में है। पर सवाल उठाया जा सकता है कि क्या तालस्ताय का 'वार ऐंड पीस' 'डाकुमेंट्री' नहीं है? उसके 'डाकुमेंट्री' होने में दो मत नहीं हैं। तब उसकी सर्वश्रेष्ठता के क्या कारण हैं? तालस्ताय के सामने ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा का भी प्रश्न था। इसलिए भी उसने इस पद्धति को अपनाया। उसकी कारयित्री प्रतिभा या कल्पना से 'डाकुमेंट्री' सजीव हो उठी है। कोरी 'डाकुमेंट्री' उपन्यास को जगह-जगह बाँध लेती है और उसका प्रवाह अवरुद्ध हो उठता है। 'डाकुमेंट्री' अपने आप में एक स्वतंत्र विधा हो सकती है, पर उपन्यास में प्रविष्ट हो कर उसे अपनी सत्ता को विलीन करना पड़ेगा। 'शहर में घूमता आईना' में उसका विलीनीकरण संभव नहीं हो पाया है।

इन वर्णनों के पक्ष में भी एक दलील दी जा सकती है कि इस प्रकार के उपन्यास में सचित्र प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि संपूर्ण उपन्यास का युगपत प्रभाव पड़ता है। समूचा उपन्यास पढ़ लेने के बाद जालंधर के अनेक आयाम एक साथ उभर आते हैं। जालंधर में पंजाब भी दिखायी देने लगता है। इस वातावरण में जीने वाले—किसी प्रकार साँस लेने वाले—प्राणी रेंगते हुए नज़र आते हैं। सारा का सारा वातावरण, माहौल अपने छलावे में उभरने लगता है—बैतबाज़, बांशीधर, जालंधरी योगी, निश्तर, हुनर, अनंत, बद्दा आदि-आदि। जेम्स ज्वॉयस के 'यूलिसिस' के संबंध में भी युगपत प्रभाव की बात कही जाती है। पर 'यूलिसिस' के एक पृष्ठ के प्रसंग अन्य पृष्ठों में उभरने वाले प्रसंगों में अंतर्भुक्त न होते हुए भी कुछ इस प्रकार से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं कि एक प्रसंग अन्य प्रसंगों को अनायास उभार देता है। अश्क जी के इस उपन्यास

में भी कुछेक प्रसंग प्रकारांतर से अन्य प्रसंगों को संकेतित करते हैं, किंतु वे बहुत कम हैं।

मैंने कहीं पर संकेतित किया है कि यह उपन्यास रूप में एकदम नया है। पर उसका वस्तुतत्व पुराना है। इस रूप के लिए वस्तु की जो नवीनता अपेक्षित थी वह इसमें नहीं है। रूप-विन्यास की नवीनता का आकर्षण पाठकों को भी एक छलावर्त में छोड़ जाता है। वह अपने दैनंदिन को बेतरतीब ढंग से एकत्र देख कर खीझ उठता है। अस्तु, आज के बुद्धिवादियों को आधुनिक चेतना से संयुक्त व्यक्तियों को यह अपील नहीं करता। चेतन का आईना आज के युग के लिए धुंध पड़ गया है।

तकनीक या शिल्प की विविधता की इसमें कमी नहीं बल्कि वह आवश्यकता से अधिक है। बारह घंटे में संपूर्ण अतीत को उभार देना—जी लेना मैं नहीं कहना चाहूँगा—अपने आपमें काफ़ी महत्वपूर्ण है। इसके लिए संस्मरणों को जुटाया गया है, रूपरेखा का चित्र बड़ी ही बारीक़ी से खींचा गया है। 'डाकुमेंट्री' द्वारा तथ्यात्मक आकलन किया गया है। स्मृतियों की कौंध में विगत के पृष्ठ के पृष्ठ खोले गये हैं। 'फ़्लैशबैक' का प्रचुर प्रयोग किया गया है। जगह-जगह प्रतीकात्मक योजना भी की गयी है। बिंबों को मुख्यतः चाक्षुष बिंबों को, उभारा गया है। अलग-अलग कथाओं के निर्माण द्वारा इसे परंपरा से काट कर नये सौंदर्यकी सृष्टि का प्रयास भी हुआ है। अश्क जी की भाषा का क्या पूछना ? बारीक़ से बारीक़ चित्रण में वह सहज ही समर्थ है।

इस प्रकार के अनेक उपकरणों से इस उपन्यास का भवन निर्मित किया गया है। इसके लिए देश-विदेश के शिल्पों को भी एकत्र करने की कोशिश की गयी है। काफ़ी अरसे से इसके संबंध में सोचा-विचारा गया है। ऐसी स्थिति में इसमें एक नव्यता का दीख पड़ना स्वाभाविक है। पर खेद है कि इस निर्मिति के पीछे श्रम है, श्रमिक नहीं है, शिल्प है, शिल्पी नहीं है।

हिंदी-विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

गोष्ठी-प्रसंग

●

विवेचना में 'शहर में घूमता आईना'

'विवेचना' की बैठक दिनांक ७ अक्तूबर, १९६४ को सायंकाल ६ बजे स्थानीय एनीबेसट हाल में हुई। बैठक की अध्यक्षता डॉ॰ विनयमोहन शर्मा ने की। डॉक्टर बच्चन सिंह ने उपेंद्रनाथ 'अश्क'

के उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' पर अपना समीक्षात्मक निबंध पढ़ा। तदनंतर सर्वश्री अमृत-राय, सुरेंद्रपाल, डॉ० रघुवंश, विश्वंभर 'मानव', गंगाप्रसाद पांडेय, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क' ने अपने विचार व्यक्त किये।

श्री अमृतराय ने कहा कि 'शहर में घूमता आईना' में जालंधर शहर की छोटी से छोटी बातों और क्रियाकलापों का ज़िक्र है। यह ज़िक्र काफ़ी लंबा है और चेतन के माध्यम से उन सारी स्थितियों को लेखक ने उभारना चाहा है। किंतु प्रश्न उठता है कि 'गिरती दीवारें' के बाद जिस बात को लेखक ने कहना चाहा है, क्या उसके लिए किसी पृथक उपन्यास के लिखे जाने की आवश्यकता थी? आपने कहा कि मेरे विचार से अश्क 'गिरती दीवारें' के उसी पुराने धरातल पर ही दौड़ रहे हैं, लेकिन इसमें उतनी कामयाबी भी नहीं मिली है। कथ्य में निश्चय ही समाज के व्यक्ति के एक नये रूप की कल्पना है। चेतन के अंदर यह चेतना अक्सर हुई है कि वह जो है उसे बदलने की ज़रूरत है। आपने कहा कि मैं डॉ० बच्चन सिंह की इस बात से सहमत नहीं हूँ कि जीवन की पुनर्रचना ही सर्जनात्मक कल्पना है। जीवन के बहुत से अनुभव छितराव और बिखराव में आते हैं। उपन्यास आत्मचरितात्मक है, यह इसलिए भी हो सकता है कि लेखक समसामयिक हैं। आत्मचरितात्मक होने में कोई दोष नहीं है, किंतु अपेक्षा इस बात की है कि आदमी अलग से अपने अनुभव को रखे। उपन्यास के बहुत से अनुभव मनोरंजक और दिलचस्प हैं। उसमें जी लगता है। उपन्यास को पढ़ने में कोई बड़ा यत्न नहीं करना पड़ता। किंतु सवाल है कि उसके बाद उपन्यास का क्या निवेदन है। यहाँ मुझे यह जरूर लगता है कि उपन्यास 'डाकुमेंट्री' ज़्यादा हो गया है। इसमें सर्जनात्मक स्फूर्ति कम है।

श्री सुरेंद्रपाल ने कहा कि समीक्षात्मक निबंध विद्वत्तापूर्ण है। आपने कहा कि अमृत जी ने जो बातें कहीं हैं वे लेखक के मन में भी हो सकती हैं। भूमिका में लेखक ने कहा है कि निश्चय ही यह उपन्यास हिंदी की उपन्यास-परंपरा से थोड़ा भिन्न है। यदि हम इस उपन्यास को 'गिरती दीवारें' की अगली कड़ी के रूप में देखें तो निश्चय ही यह हमें चौंकाने वाला होगा। यह उपन्यास यद्यपि 'गिरती दीवारें' का अंग है, किंतु उससे पृथक है। जहाँ तक जालंधर शहर के वर्णन का प्रश्न है, उसका वर्णन करना लेखक का उद्देश्य नहीं है। विशेष परिस्थिति में नगर का चित्रण किया गया है जो सामान्य नहीं है। चेतन ने असामान्य दशा में जो कुछ देखा है, उसी की मनोदशा में यह वर्णन उभर कर आया है। इसमें असंगतियाँ भी हैं, किंतु चेतन की मनोदशा के संदर्भ में ही जालंधर शहर का वर्णन है। यदि हम चेतन की मनोदशा से जालंधर के चित्रण को अलग कर दें तो यह वर्णन कोई महत्व नहीं रखता। चेतन की मनोदशा को समझे बिना उपन्यास को पकड़ना कठिन है। उसकी मनोदशा को समझ कर ही उपन्यास को समझा जा सकता है।

डॉ० रघुवंश ने कहा कि समीक्षात्मक निबंध में मुझे अपने चिंतन के समानांतर कुछ बातें मिली हैं, अतएव इस संदर्भ में मैं कुछ निवेदन करना चाहूँगा। उपन्यास और कहानी में कहीं न कहीं एक संबंध रहता है। केवल कहानी कहने की कला ही उपन्यास नहीं है। मैं केवल यही कहना चाहूँगा कि जब हम साहित्य के संदर्भ में विचार करें तो हमें समझना चाहिए कि मात्र

कथा कहने का ढंग ही सब कुछ नहीं है। साहित्य के संदर्भ में इन दोनों में ही एक विभाजन-रेखा रखनी चाहिए। हमें यह भी देखना चाहिए कि लेखक ने पाठकों का मनोरंजन किया है या कोई रचना की है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि सामान्य से सामान्य घटना को भी लेखक अपनी संवेदना से महत्वपूर्ण बना देता है। अश्क जी का ध्यान बहुत ही सहज, साधारण और महत्व-हीन की चीज़ों की ओर गया और उपन्यास के माध्यम से उसे उन्होंने रखा—यह एक नयी चुनौती थी। समीक्षा या साहित्यके संबंधमें केवल यही प्रश्न है कि रचना किस स्तर पर है। इसे भी देखना चाहिए। उपन्यास के पिछले अंश के बीच-बीच में तीन-चार लतीफ़े डाल दिये गये हैं, उनका वहाँ कोई विशेष संदर्भ नहीं था। बहुत-सी इसी प्रकार की चीज़ें 'बैकडोर' से आ जाती हैं, जो पाठकों के मन को अपनी ओर खींच लेती हैं, यद्यपि वहाँ उनका कोई संदर्भ नहीं होता।

श्री विश्वंभर 'मानव' ने कहा कि अश्क जी नयी लकीर खींचने वाले साहित्यकारों में नहीं बल्कि लकीर पीटने वाले साहित्यकारों में हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि यह उपन्यास 'गिरती दीवारें' का पिछला भाग है, इससे कथानक विकसित नहीं हो पाता। उपन्यास का कथा-नक एक वृत्त में घूमता है। उपन्यास पठनीय है या रोचक है, यह दूसरी बात है, लेकिन यदि हम पात्रों को ले कर चलें तो कथानक का विकास नहीं हो पाता। उपन्यास का धरातल बड़ा नहीं है। अश्क जी के पास कहने के लिए कोई नयी बात नहीं है। उन्होंने डॉ० बच्चनसिंह की समीक्षा पर उनकी ईमानदारी के लिए बधाई दी।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने कहा कि इस उपन्यास को हम 'गिरती दीवारें' का भाग मानें या न मानें, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उपन्यास का नाम है 'शहर में घूमता आईना'। यदि आप चेतन को आईना मानते हैं तो उसमें चेतना कम है, क्योंकि आईना के सामने जो कुछ भी जैसा आता है उसी का प्रतिबिंब उसमें दिखायी देगा। उसमें उसकी अपनी कोई कल्पना नहीं है। इसमें मुझे कोई नयी चुनौती नहीं लगती। अश्क जी ने जो चित्रण किया है वह कलात्मक चित्रण है या नहीं, इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। यदि चेतन को तटस्थ मान कर चलें तो उपन्यास को समझने में सुविधा होगी।

डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि निबंध की मूल स्थापना से मैं सहमत नहीं हूँ। समीक्षक का कहना है कि अश्क का यह उपन्यास एक नव शिल्प के रूप का परिचायक है। बाद में उसे वह 'डाकुमेंट्री' लगता है। इन दोनों वक्तव्यों में संगति कहाँ बैठती है? वर्णन के आधार पर इसकी चर्चा 'वार ऐंड पीस' के संदर्भ में की गयी है, किंतु मुख्य समस्या यह है कि यह वर्णन किस प्रकार का है। 'वार ऐंड पीस' का लंबा वर्णन व्यंजनाप्रधान है। अश्क जी का वर्णन वैसा नहीं है। वह किसी गहरी संवेदनशीलता को व्यक्त नहीं करता। पूरा उपन्यास वर्णनप्रधान है। और वर्णन के लिए है, सांकेतिक वर्णन नहीं है।

उपन्यास में मुझे कोई नयी चुनौती की बात नहीं लगी। उपन्यास का पूरा कथानक बारह घंटे में समाप्त हो जाता है, यह बात भी बिल्कुल ग़लत है। रूप और शिल्प की दृष्टि से उपन्यास में कोई नवीनता नहीं है। यदि शिल्प सचमुच नया होता तो कहीं न कहीं चेतना अवश्य नहीं होती। समीक्षात्मक निबंध में प्रारंभ की मान्यता अंत तक बदल जाती है।

श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क' ने कहा कि 'वार ऐंड पीस' आदि जिन उपन्यासों का ज़िक्र किया गया है उन्हें मैंने भी पढ़ा है और मैं भी उसे समझता हूँ। 'शहर में घूमता आईना' में केवल जालंधर का ही आईना नहीं है, यह हमारा भी आईना है। जीवन के सूत्रों को इसमें रखा गया है। आपने कहा कि जब तक कोई इस उपन्यास को कम से कम तीन बार न पढ़ ले तब तक वह इस पर मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता।

तदनंतर स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने कहा कि डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी बातों को हमारे ऊपर थोप दिया है। लेख में 'वार ऐंड पीस' के साथ समानता नहीं दिखायी गयी है, बल्कि 'डाकुमेंट्री' होने की बात के संदर्भ में उक्त बात कही गयी है। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि जब रूप नया होगा तब कथ्य भी नया होगा।

अंत में अध्यक्षपद से बोलते हुए डॉ० विनयमोहन शर्मा ने कहा कि अश्क के उपन्यास पर प्रस्तुत निबंध को आप लोगों ने ध्यान से सुना और उस पर प्रतिक्रियाएँ भी व्यक्त हुईं। उठायी गयी शंकाओं का निवारण भी समीक्षक ने कर दिया।

आईना में जो प्रतिबिंब पड़ा है वह वास्तविक प्रतिबिंब है। आईना घूमता है, इसमें जो बिंब खिंच गया है वह उपन्यास है। मेरे विचार से लेखक अपने हृदय की मसोस को व्यक्त करने के लिए ही उपन्यास लिखने को प्रेरित हुआ है। चेतन सहृदय है। उसे अपनी पत्नी की पीड़ा का भान होता है। उसमें मन में अंतर्द्वंद्व होता है। इस आईने में चेतन के हृदय की वेदना की झलक उसे दिखायी देती है। उसने केवल बारह घंटे का जीवन ही नहीं व्यक्त किया है। घटनाएँ बहुत पुरानी हैं और वे बारह घंटे की घटनाएँ नहीं हैं। उपन्यास में जालंधर के ही निम्न वर्ग का चित्र नहीं है, मैं समझता हूँ कि यह चित्र सारे पंजाब का हो सकता है। लेखक ने उन व्यक्तियों को आईने के सामने लाने का प्रयत्न किया है, जिनका जीवन कालिमा से पुता हुआ है। स्त्री का जीवन बहुत ऊँचा दिखाया गया है। वर्णन 'डाकुमेंट्री' है। सुहागरात के पहले का वर्णन बड़ा अशोभनीय लगता है। उपन्यास बहुत वर्णानात्मक हो गया है। उपन्यास किसी उपन्यास की नकल है यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने अपने किसी सहकर्मी से प्रेरणा नहीं ली है।

निबंध बहुत गंभीरता के साथ परिश्रम से लिखा गया है। किसी कृति के बारे में एक मत तो हो ही नहीं सकता। यह उसकी विशेषता है कि इस उपन्यास के बारे में अनेक मत हैं। अश्क जी का जीवन ही उपन्यासमय रहा है। आज के उपन्यासों की प्रवृत्ति 'ऐंटीस्टोरी' है। उपन्यास में कथ्य का रस तो अवश्य ही होना चाहिए। जहाँ तक इस उपन्यास के मूल्यांकन का प्रश्न है, इसे पाठकों के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

—विवेचक

समीक्षा

•

प्रत्यूष भटकी किरण यायावरी

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का कविता-संग्रह। प्रकाशक : हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी–१। पृष्ठ-संख्या : ९१। मूल्य : ३.००।

अंचल के इस नवीनतम काव्य-संग्रह को पढ़ कर सबसे पहले मन में जो भाव उठा वह यह कि उनके पहले काव्य-संग्रहों (मधूलिका, अपराजिता) से यह कितना भिन्न है। मैं सोचता हूँ, किसी भी काव्य-रचना की परख के लिए यह काफ़ी अच्छी कसौटी है, क्योंकि जो कवि निरंतर सर्जनशील है और प्रति पल परिवर्तित होती दृश्यावली को भर आँखें देखता रहा है, उसकी रचना में भी तदनुरूप परिवतन होते रहना अनिवार्य है। और इस दृष्टि से इस संग्रह ने मुझे बड़ा ही निराश किया। प्रणय-भावना से चुचाती इन कविताओं में अंचल का वही—विलकुल वैसा ही—रूप मिलता है जो दसियों साल पहले मिलता था। प्रतिष्ठित पेटेंट दवाइयों के नुस्खों में भी चाहे थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो गया हो, पर अंचल ने अपनी पद्य-रचना का फ़ार्मूला ज्यों का त्यों रखा है।

और मैं सोचता हूँ, इस संग्रह के संबंध में विचारणीय बात यही है। अंचल जैसा कभी-समर्थ कवि इस बुरी तरह अपने को दुहराता चला जाये, यह बात बड़ी दयनीय लगती है। दयनीय से भी अधिक यह चिंत्य है कि क्या कवि ने सचमुच ही अपनी काव्य-प्रतिभा या भावुक संवेदना को एक ऐसे कठोर शिकंजे में कस रखा है कि किशोर-सुलभ अल्हड़ प्रेम-निवेदन के अतिरिक्त जीवन और जगत का और कोई भी पहलू उसे स्पंदित नहीं करता। तिसपर यह कैशोर प्रणय-निवेदन भी एक युग पुराना रूप लिये है, क्योंकि आज के किशोर वैसे थोड़े ही रह गये हैं जैसे अंचल की कैशोरावस्था में होते थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत संग्रह की कविताओं के संगठन में वे सब गुण मौजूद हैं, जो अंचल के गुण रहे हैं—प्यास की उत्कट अभिव्यक्ति, अतिरंजित शब्दावली, ज़रा-सी बात को ढेरों पंक्तियों में फैला कर कहने की क्षमता—पर ये कविताएँ अब अधिक से अधिक कवि की निजी उपलब्धि ही कहला सकती हैं, आज की कविता को वे रत्ती भर भी संपन्न या अग्रसर नहीं करतीं। और इस कारण पुस्तक के शीर्षक में नयेपन का अंदाज़ भ्रामक ही कहा जा सकता है।

—भारतभूषण अग्रवाल,
आई/२२ जंगपुरा एक्स्टेंशन,
नयी दिल्ली-४।

कुतुबन-कृत मृगावती

डॉ० शिवगोपाल मिश्र का शोध और संपादन। प्रकाशक : हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९६३। मूल्य : ६.००।

हिंदी में जायसी के पूर्व की दो ही कृतियाँ प्राप्त रही हैं—दाऊद की 'चंदायन' तथा कुतुबन की 'मृगावती'। डॉ० शिवगोपाल मिश्र

ने 'मृगावती' संबंधी यथोपलब्ध सामग्री के आधार पर इसका संपादन किया है।

छह-सात वर्ष पूर्व इसकी एक प्रति दिल्ली के ख़ानकाह में प्राप्त हुई है जिसमें प्रारंभ के डेढ़ छंदों को छोड़कर रचना के समस्त छंद हैं। इस प्रति के प्राप्त होने के अनंतर रचना का आधा छंद (दूसरे छंद का पूर्वार्ध) ही अप्राप्य रह गया है, अन्यथा रचना क्रमबद्ध रूप में और पूरी की पूरी प्राप्त हो गयी है। डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने इस प्रति का उपयोग नहीं किया है। उन्हें इस प्रति की जानकारी न रही होगी, इसकी संभावना कम ही है, क्योंकि उन्होंने संस्करण की भूमिका में रचना से संबंधित संपूर्ण साहित्य और शेष समस्त सामग्री की सूचना दी है। संभवतः उन्हें इस प्रति का पाठ उपलब्ध न हो सका, इसीलिए न उन्होंने उसका उपयोग किया और न उल्लेख ही। किंतु इस प्रति का उपयोग न कर सकने के कारण इस संस्करण में पूर्णता नहीं आ सकी है, यह एक बड़ी भारी कमी रह गयी है। अद्यावधि प्राप्त समस्त प्रतियों में कुल मिला कर ४४५ छंद मिलते हैं, किंतु प्रस्तुत संस्करण में संपादित छंद ३९० हैं और ६–७ छंद पादटिप्पणियों में दिये हुए हैं, जिन्हें मूलपाठ में ग्रहण नहीं किया गया। इस प्रकार उसमें केवल ३९७ के लगभग छंद आते हैं और ४८ के लगभग छंद नहीं आते हैं।

इसी प्रकार इस संस्करण के छंदों में क्रमबद्धता भी नहीं आ सकी है जो इस दिल्ली की प्रति के द्वारा सहज सुलभ हो गयी थी। बीकानेर में प्राप्त 'मृगावती' की प्रति उसके केवल एक अंश की है। इसी प्रकार मनेर शरीफ़ की प्रति भी एक ही अंश की है। एकडला की प्रति में खंडित रूप में यद्यपि पूरी रचना आ गयी है, किंतु उसके पत्रों पर दी हुई पुरानी पत्र-संख्याएँ प्रति के जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण त्रुटित हो गयी थीं और उसके कुछ पत्र ग़लत स्थानों पर रख उठे थे। इस कारण प्रस्तुत पाठ में अनेक छंद ग़लत स्थानों पर संकलित हो गये हैं। एकडला की यह प्रति बाद में इतनी बिखर गयी (या बिखेर दी गयी?) कि अब तो उसमें कोई चार छंद भी क्रम से नहीं रहे। यह प्रति अब वाराणसी के भारत कला भवन में पहुँच गयी है और वहाँ पर देखी जा सकती है।

प्रतियों का उपयोग डॉ० मिश्र ने पर्याप्त पूर्णता से किया है और प्रायः समस्त पाठ और पाठांतर उन्होंने ले लिये हैं। केवल तीन स्थलों (१५८।४, २२१।५, ३०६।४) पर उन्होंने अनूप संस्कृत पुस्तकालय की प्रति में एक-एक अर्धाली के न होने का जो उल्लेख किया है, वह ठीक नहीं है। ये पंक्तियाँ उक्त प्रति में मिलती हैं।

इसी प्रकार जिन छंदों का पाठ उन्होंने केवल एकडला की प्रति के आधार पर दिया है, उनके नीचे उन्होंने एक संकेत दे दिया है, किंतु छंद ८५ के नीचे किया हुआ यह संकेत अशुद्ध है, क्योंकि उसका पाठ अनूप संस्कृत पुस्तकालय की प्रति से लिया गया है। एकडला की प्रति में वह छंद प्राप्त नहीं है। यह भूल बहुत सामान्य है।

बीकानेर और एकडला की प्रतियाँ यद्यपि देवनागरी लिपि में हैं, किंतु दोनों के लिपिकर्ता शुद्ध-शुद्ध रूप में इस लिपि का उपयोग करना नहीं जानते थे, जिसके कारण इन दोनों की प्रतियाँ भूलों से भरी पड़ी हैं। डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने बड़े परिश्रमपूर्वक

इनका पाठ संशोधित कर के प्रस्तुत किया है। ऐसी अशुद्ध प्रतियों से पाठ उतारने में भूलें होना स्वाभाविक है। किंतु इस प्रकार की त्रुटियाँ प्रतिलिपिकर्ता की लेखन-त्रुटि के कारण हैं, संपादक की असावधानी के कारण नहीं। शब्दों के संयोजन-विभाजन की भी कुछ अशुद्धियाँ इस संस्करण में मिलती हैं।

कहीं-कहीं पर संपादक ने पाठ को शुद्ध करने का प्रयास किया है, किंतु ऐसे कुछ स्थलों पर पाठ और भी अशुद्ध हो गया है। संशोधन के लिए व्यापक भाषा-ज्ञान की अपेक्षा होती है और पाठ-संपादन का कोई भी कार्य इसके अभाव में अच्छा नहीं हो सकता है। किंतु पाठ-संपादन के लिए साहित्य के व्यापक अध्ययन की भी अपेक्षा होती है, प्रायः लोग इस तथ्य को नहीं समझते हैं। इस तथ्य को मैं इस संस्करण के दोहे को ले कर स्पष्ट करूँगा जो है निम्नलिखित :

'कँवल पत्र' बिसाल, किये
गज कुंभ 'पयोहर' भरि।
हृदै बास 'कांती' साख,
सबै लोचन जथा ॥२००॥

इस संस्करण के अनुसार एकडला-संस्करण में 'कँवलपत्र' के स्थान पर 'पदुमपुत्रि' है, 'पयोहर' उसमें नहीं है और अनूप-संस्करण में 'कांती' के स्थान पर 'कन्या' (?) है। इस छंद का पुनर्निर्मित पाठ एकडला-संस्करण के अनुसार होगा :

पदुमपुत्री (पद्मपत्र) बिसाल कीये (विशाक्षीला)
गज कुंभ पयोहर भरि (गज कुंभ पयोहरे)
हिरदै (हृदये) बास (वससि) कांती (कांता)।
साख (शाखा) बेलोचन (बैरोचन) जथा (यथा)।

अनूप-संस्करण के अनुसार 'पद्मपत्र' के स्थान पर 'कमलपत्र' तथा 'कांता' के स्थान पर '(नृप)-कन्या' होगा। इस पाठ-संशोधन का आधार वैरोचन की एक कथा है जो जैन साहित्य में मिलती है। ऊपर उद्धृत पंक्तियों तथा शिवगोपाल मिश्र-संपादित पाठ ८४।७ में इसी कथा की ओर संकेत है। इस कथा के विस्तृत परिचय के लिए 'हिंदी अनुशीलन' के वर्ष १०, अंक २ के पृष्ठ ५४ पर मेरे ही लेख 'नंद बत्तीसी' को देखें।

—माताप्रसाद गुप्त,
जयपुर विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

●●

प्रतिपत्तिका

●●

आज के संकट में एक ख़ास आदमी की ज़िम्मेदारी

साहित्य में आजकल बहुत से सवाल उठे हैं जिनसे वे लोग जिनको साहित्य-रचना से सच्चा मतलब था, एक बार वर्षों पहले निबट चुके थे। रचनाकार की निर्वैयक्तिकता, उसका अकेलापन, अनुभूति पर उसका नियंत्रण और शिल्प के प्रति सजगता, ये कुछ सवाल थे : और कुछ निष्कर्ष थे, जीवन में कलाकार का इच्छापूर्वक, जान-बूझ कर हिस्सा लेना और एक खास तरह से हिस्सा लेना और अपने विवेक को एक क्षण के लिए भी झुंड को न सौंप देना।

आज कुछ ऐसे सवाल फिर उठ रहे हैं जिनके उत्तर में यदि हम केवल वे ही मसले शामिल करें जो उन सवालों में ऊपर से दिखते हैं तो बहुत बड़ा खतरा यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की मान्यताएँ और पाठक की संवेदना जहाँ तक आगे बढ़ी हैं वहाँ से भटक जायें और जिज्ञासा का जो तत्व नये पाठक में है वह असाहित्यिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर लिया जाय। इसकी कोशिश होती जान पड़ रही है और नये और पुराने का सवाल पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में रखना, चाहे उसको व्यर्थ सिद्ध करने के ही लिए, इसी तरह एक कोशिश है, क्योंकि सब जानते हैं कि इस वक़्त असली सवाल नयी और पुरानी का नहीं, अच्छी और विफल, युगचेतना से संपृक्त और असंपृक्त रचना का है। नये और पुराने का सवाल इस वक़्त उस समाज की चतुराई की सीधी उपज जान पड़ती है जिसके लिए साहित्य १९४७ के बाद राजनीतिक सत्ता के बचे-खुचे टुकड़े बटोरने का ज़रिया बना, यदि उसे साहित्येतर कुछ बनना ही था, तो मानवीय मान्यताओं की रक्षा में अन्याय के विरोध को आतुर व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग का साधन नहीं बना। राज्य के मन में कला और साहित्य के, विशेषतया राष्ट्रभाषा के साहित्य के प्रति संरक्षण की और कलाकार के प्रति स्वामित्व की जो भावना १९४७ में कुछ नैतिक उभयसंभव से शुरू हुई थी, आज गहरी जड़ें जमा चुकी है। १७ वर्षों में इतने अधिक साहित्यकार अपनी आत्मा का दैन्य राज्य को दिखा चुके हैं कि अब वह कला की स्वतंत्रता का नाट्य करते रहने को बहुत उत्सुक नहीं है। साथ ही, क्योंकि हिंदी बहुमत की भाषा है, इसलिए बहुमत से जुड़ी हुई मगर दूसरे दर्जे की राजनीतिक सत्ता का जो संचयन अभी

तक होता रहा था वह भी राजा की कोपदृष्टि का शिकार हो चुका है। इस उखड़ेपन की स्थिति में हिंदी के राजनीतिक साहित्यसेवियों के सामने एक ही रास्ता है कि जो कुछ भी उनके पास सत्ता के नाम पर बचा है उसे किसी तरह बचा लें, बचाये रखें। इस संदर्भ में क्या वे सवाल उठाये जायँगे जिनके उत्तर घिसी-पिटी मान्यताओं को झकझोर डालते हों और जिन मान्यताओं को सामने लाते हों वे प्रकारांतर से सत्ता-संचयन की या झुंड के प्रति समर्पण की तमाम प्रवृत्तियों का विरोध करती हों ?

उधर आधुनिक कला अपने स्वभाव से व्यक्ति का विमोचन करती है। और आज जब रचना के अपने आंतरिक ख़तरों से कलाकार पहले से कहीं ज़्यादा आगाह है तो वह अपनी कला के सिर्फ़ उस कला-माध्यम में ही सार्थक होने की अनिवार्यता से भी अपेक्षया अधिक सचेत है। वह कला की आलोचना को कला-परंपरा से जोड़ने की ज़रूरत भी आज पहले से ज़्यादा समझता है। वह जानता है कि न झुंड का साहित्य हो सकता है न झुंड की आलोचना हो सकती है।

पर आजकल उठे हुए प्रश्नों के रूप पर यह चर्चा इसीलिए ज़रूरी है कि इनके थोथे कारणों के आधार पर ही उन्हें बिलकुल अनदेखी कर देना सही न होगा। इन सवालों से कुछ ऐसा लगता है कि कुछ लोग बहुत पिछड़ गये हैं और एक लंबी बहस के बाद आखिरकार सही नतीजों पर आते दीखते हैं तो भी अंत में यही कहते रहना चाहते हैं कि जो हम अब मान रहे हैं वे मूल्य हमने ग़लत मूल्यों को हटा कर सबके लिए स्थापित किये हैं। इस में भी राजनीतिक कार्य-प्रणाली की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। (पंत जी की 'कला और बूढ़ा चाँद' और दिनकर जी के विदेशी कविताओं के अनुवाद इसके उदाहरण हैं, पर शायद अनुवाद ज़्यादा ईमानदार हैं क्योंकि उनमें आभार स्वीकार किया गया है।) रचनाकार की तरह आलोचक भी अपना सत्य आप खोजें तो किसी को कोई विरोध नहीं, पर उनकी दयनीय स्थिति हम समझ लें तो उनके अभिज्ञान में अधिक उपयोगी सहयोग दे सकते हैं।

एक बात और है। साहित्यालोचन में बेवक़्त सवालों का उठना आज के संकट को और यही नहीं आज के सभी बँटवारों के उन सूत्रों को भी समझने का बहुत अच्छा मौक़ा है जो इस संकट में छिपे हुए हैं। मुझे आशा है, आप मुझसे आज के संकट की परिभाषा करने को नहीं कहेंगे। वह एक ऐसी चीज़ है जो परिभाषित होते ही अपनी तीक्ष्णता खो बैठेगी या फिर संकट से भागने का रास्ता दे देगी। हद से हद मैं यह कह सकता हूँ कि आज सामूहिक कायरता मानवीय साहस के लिए हमारे देश में जितना बड़ा ख़तरा बन गयी है उतना हमारी जान में कभी न थी। आज़ादी के बाद के वर्षों में एक के बाद एक कर के व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्ति-गौरव की मान्यताएँ सामूहिक स्तर पर तोड़ी-मरोड़ी गयी हैं :

लोग या तो कृपा करते हैं या खुशामद करते हैं
लोग या तो ईर्ष्या करते हैं या चुगली खाते हैं
लोग या तो शिष्टाचार करते हैं या खिसियाते हैं,

लोग या तो पश्चात्ताप करते हैं या घिघियाते हैं,
न कोई तारीफ़ करता है न कोई बुराई करता है
न कोई हँसता है न कोई रोता है
न कोई प्यार करता है न कोई नफ़रत।
लोग या तो दया करते हैं या घमंड--
दुनिया एक फँफुदियायी हुई सी चीज़ हो गयी है।
लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या हैं
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं
लोग सिर्फ़ लोग हैं--चारों तरफ लोग, लोग, लोग
कुड़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग
खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग
दुनिया एक बजबजायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

परंतु व्यक्ति पर इस आक्रमण के विरुद्ध आज एक रोमांटिक रुदन या आतंकवादी विस्फोट दोनों ही समकालीन नहीं हैं। दोनों की साहित्यिकता कभी असंदिग्ध थी, पर पिछले वर्षों में हमारा साहित्य दोनों से उसी कारण आगे बढ़ चुका है जिस कारण उसने विचारधारा के पोषण में व्यक्ति की अरक्षा का अनुभव किया है। आज कुछ है, कोई और चीज़ ज़रूर है जो तीखे यथार्थ-बोध से अधिक कुछ की माँग करती है ताकि जो कुछ कवि के कवि होने में निहित है वह हो सके।

वह चीज़ शायद नये मानव की खोज ही है (जो कि अपने में कोई नयी चीज़ नहीं), पर उतने शुद्ध शास्त्रीय रूप में नहीं जितनी साहित्येतर विधाओं में होती है और उतने शुद्ध व्यावहारिक रूप में भी नहीं जितनी जन-राशि में आसक्त राजनीति कार्य में होती है। जैसे शिल्प में शास्त्रीय आदर्शों से आज के कवि को मतलब नहीं, वैसे ही आलोचना में भी कोरे किताबी सिद्धांत को, वह रस का हो या वाद का, वह अप्रासंगिक मानेगा। आज कवि द्वारा नये मानव की खोज उसकी निर्णय लेने की एक आंतरिक ज़िम्मेदारी और रचना-प्रक्रिया के ख़तरों के साथ ही कोई साहित्यिक महत्व की खोज हो सकती है।

पर इस ज़िम्मेदारी के बारे में थोड़ी देर बाद। अभी तो हम उन्हें देखें जो आज के संकट को देख नहीं पा रहे हैं। यह संकट हर स्तर पर--राजनीति के, कला के, विज्ञान के हर कर्ता से--कुछ तकाज़ा करता है और वह है सामूहिक कायरता के विरुद्ध व्यक्ति के साहस के प्रयोग का तकाज़ा। राजनीति में आज मान्यताओं को गड्डमड्ड और पार्टी-व्यवस्था के तीखेपन को, जो यों भी ख़ासा कम है, कुंद करने की कोशिश--यही सामूहिक कायरता है। जो राजनीतिक चिंतक कोशिश कर रहे हैं कि मान्यताओं के दो धुर साफ़ प्रकट हो जायें--एक ओर व्यक्ति की चाहे आत्मा चाहे देह का शोषण करने वाले और दूसरी ओर व्यक्ति का सच्चा आदर करने वाले--वे राजनीतिक साहस के प्रतिनिधि हैं।

साहित्य में हमारे यहाँ राजनीतिक शैलियों का अनुसरण शायद और जगहों से ज्यादा है, क्योंकि राष्ट्रभाषा हिंदी के नाम पर दूसरे दर्जे की राजनीतिक सत्ता छनते-छनते उन सभी गढ़ों तक पहुँच चुकी है जहाँ १९४७ से ही, विश्वविद्यालय की, साहित्य-सम्मेलन की, अकादमी की स्वतंत्रता की रक्षा की जानी चाहिए थी—हिंदी के नाम पर जो कुछ भी मिल रहा है ले कर हिंदी भाषा को, बल्कि उसके बोलने वालों को परोपजीवी बना देने का विरोध होना चाहिए था। आज जब कोई व्यक्ति, नये या पुराने के भेद को इस उद्देश्य से उठाता है कि दोनों में कुछ शाश्वत मूल्यों की समानता लिखा कर अपने जड़ को भी चेतन के साथ रख सके तो आसानी से देखा जा सकता है कि आज के संकट के मुक़ाबले उसने क्या रुख लिया है। क्या वह मनुष्य की परिस्थिति में (जिसमें उसकी राजनीतिक स्थिति बिलकुल शामिल है) परिवर्तन लाने के लिए कुछ कर रहा है या उसे यथावत बनाये रखने में ही अपनी रक्षा मानता है ? एक लंबी सूची उन प्रश्नों की गिनायी जा सकती है जिन पर ऐसे व्यक्ति अपना मंतव्य दें तो वे एक जाने-पहचाने राजनीतिक वर्ग से एकाकार हो जायँगे। अंततः आप देखेंगे कि उस राजनीतिक वर्ग की मान्यताएँ सत्तारूढ़ दल की मान्यताएँ हैं, उनमें विद्रोह नहीं है बल्कि किसी तरह दूसरों के विद्रोह में गड्डमड्ड करने का प्रयत्न है। इस तरह वह जो कहता है कि वही श्रेष्ठ साहित्य है जिसे एक संरक्षित और सत्ता-पोषी प्रतिष्ठान में स्वीकृत आलोचना-पद्धति से देखने पर ही 'ठोस' नतीजे निकाले जा सकें, वह जिस क्षण अपनी संवेदना को एक खास तरह के निर्जीव सोद्देश्य साहित्य के हवाले कर देता है उसी क्षण अपने को एक ऐसी बौद्धिक हदबंदी के हवाले भी कर देता है जिसमें मनुष्य की नियति को रूप देने वाली मान्यताओं की खोज नहीं है। इसलिए नहीं है कि वह खोज आज के संदर्भ में अंततः एक उथल-पुथल तक ले जाती है। जो राजनीतिक भी है और जिसमें उस व्यक्ति के लिए हिस्सा लेना कष्टदायक और लेने से बचना मुश्किल हो सकता है। इस साहित्यिक वर्ग में भी मान्यताओं को दो धुर छोरों पर न जाने देने की वैसी ही कोशिश है जैसी सत्तारूढ़ दल में है।

पर आज के संकट में सब से तीखा अहसास तो यह है कि हम लेखक और बुद्धिजीवी देश की इस घुटन को तोड़ने में शामिल नहीं हो रहे हैं। हममें से बहुतेरे आज़ादी के समय से ही उन मूल्यों के लिए चिंतित होते रहे हैं जिनके बारे में हमें डर था कि वे अनपढ़, ग़रीब और ग़ुलाम मनोवृत्ति वाले देश में आर्थिक-राजनीतिक शक्ति के बढ़ते हुए संचयन से कुचली जा सकती हैं। १९४७ के बाद के कुछ वर्षों में जब तक आर्थिक उत्पादन के साधन उस स्तर तक विकसित नहीं हुए जहाँ से वे घनीभूत होना शुरू कर सकें, यह चिंता दबी रही, बहुधा भारतीय मानस की उस शुभैषिणी मोदमयी तस्वीर के पीछे दुबकी रही जो हमारे स्वप्नों की तस्वीर थी। व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए जो संघर्ष होता भी रहा वह एक घोषित शत्रु—मार्क्सवादी—होता रहा जो खुले-आम समूहपूजक था और व्यक्ति-विद्वेषी था, और निपट अकेला था। एक अंश में या उसीसे संघर्ष की उपलब्धि है—अर्थात उस अंश में जिसमें वह संघर्ष भारतीय पुनरुत्थान की विकृति नहीं था—कि अपने कलाकार की रक्षा के लिए साहित्यकार ने रचना-प्रक्रिया को समझने पर ज्यादा ध्यान दिया, आत्मचेतन हुआ। वह आत्मचेतन होने में अपने से भाग नहीं रहा था, अपने को खोज

रहा था। पर जैसे-जैसे सरकारी और ग़ैरसरकारी दोनों क्षेत्रों में सत्ता ग़रीब देश की आर्थिक समृद्धि के वितरण पर अधिकाधिक निर्भर होती गयी, वैसे-वैसे यह भी प्रकट होता गया—या कहूँ कि होते जाना चाहिए था––कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष में मुख्य प्रतिद्वंद्वी वही नहीं है जो व्यक्ति की पराधीनता का खुले आम क़ायल है। आज अपने देश में जाति के, भाषा के, धर्म के नाम पर और इसलिए साहित्य के नाम पर भी, सत्ता के लिए अकेले व्यक्ति को कुचलने को अन्य बहुत से वर्ग अपने साधनों सहित तैयार हैं। साम्यवाद को इस काम में अब उतनी दिलचस्पी नहीं है। हर हालत में, ये ही वर्ग हैं जो सत्तारूढ़ हैं और असली डर इन्हीं से है।

इस संदर्भ में आज के कलाकार को रखें तो उसके मन में व्यक्ति की रक्षा के लिए छटपटाहट आज सत्ता से किसी न किसी रूप में असहमति का अर्थ ग्रहण कर चुकी है। यही उसकी नियति है। उसने एक स्वप्न देखा था––उसी शुभैषिणी मोदमयी भारतीय तस्वीर का––पर उसके बाद उसका बौद्धिक संघर्ष क़दम-क़दम पर राज्य के प्रति समर्पण के पत्थरों से टकराता चला है—या कभी नहीं भी चला, थक कर बैठ गया है।

आज यह थकान पहले से ज़्यादा व्यापक है और इसी की प्रतिक्रिया है कि बीच की पीढ़ी ने राजनीति से ही विद्रोह कर डाला है जब कि विरोध साहित्य के क्षेत्र में राजनीतिक शैलियों के प्रच्छन्न प्रयोग से और आग्रह राजनीति के क्षेत्र में उनके मुक्त उपयोग का होना चाहिए था।

मैंने थोड़ी देर पहले कलाकार की आंतरिक ज़िम्मेदारी और रचना-प्रक्रिया के अपने ख़तरों का नाम लिया था। साथ ही अभी मैंने कहा है कि कलाकार के लिए मेरी समझ में सही रुख़ यह है कि आज देश में कुंद होती जा रही राजनीति में तेज़ी आये, जान पड़े। अब हम असली प्रश्न पर आयें। कलाकार की आंतरिक ज़िम्मेदारी किस हद तक उसके सामाजिक योगदान में आड़े आती है? या इसे यों रखें, कि यदि वह आज के बँटवारों में––धुर छोरों के उभरने में—व्यक्ति की हैसियत से सहायक होना अपने कलाकार की जीवनी-शक्ति के लिए ज़रूरी समझता है तो इस योगदान के बदले में अपनी स्वतंत्रता का कितना अंश (यदि वह अंश भाज्य है) समाज को या उसकी कार्यकारिणी––सरकार––को देता है? राजनीति ने पिछले १७ वर्षों में रचना की सभी विधाओं को ग्रस लिया है, यही अपने में यथेष्ट कारण है कि आज कलाकार राजनीति को निरर्थक मान कर न चले जैसा कि वह स्वतंत्रता के वर्ष १९४७ में या उसके आसपास के वर्षों में नहीं कर सकता था। १९५०-५१ तक साहित्यालोचना में राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिरूप मानदंडों से जो वितृष्णा उत्पन्न होने लगी थी, वह आज भी अर्थवती है, पर वह वितृष्णा राजनीति के प्रति उदासीनता में न बदल जाये यह असाहित्यक मानदंडों के ख़तरे से ज़्यादा बड़ा ख़तरा है। राजनीति से हमारे साहित्यकारों ने पिछले वर्षों में जो संबंध जोड़ा है वह राजनीतिक माध्यमों के प्रति सहानुभूति का नहीं राजनीतिक सत्ता के प्रति विनीत सखा-भाव का है। विनीत सखा-भाव राजनीति-जैसी द्वंद्वात्मक प्रणाली की जड़ें काटता रहा है और संसदीय प्रतिपक्ष जैसी अनिवार्य पद्धति को मद्धिम करता रहा है। यह अनुभव करने में जितनी देर हम आज कर रहे हैं उतनी ही देर हम उन सामाजिक मान्यताओं के निथराव में लगा रहे हैं जिनके लिए अपनी आसक्ति हम, कितने भी राजनीति-विरोधी हो जायें, भूल नहीं सकेंगे। यह मेरी समझ में भारतीय

वर्तमान की एक नियामक परिस्थिति है कि हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व राजनीति के माध्यम से अपने उद्घाटन की माँग करता है—सब समय जानते हुए कि वह संपूर्णता प्राप्त करते ही अर्थहीन हो जायगा, एक और भी व्यापक विश्व-अनुभव बन जायेगा। इस माँग से सहानुभूति न रखना कला के लिए एक प्रकार का उपहास सिद्ध हो रहा है, क्योंकि ठीक-ठीक न जानने के कारण कि क़िस अर्थ में राजनीति-सामाजिक कार्यों में हिस्सेदारी कलाकार की स्वाधीनता की क्षति नहीं है, हममें से बहुत से हाथ खींच कर बैठे हुए हैं। जिनकी पाँचों उँगलियाँ घी में हैं वे राजनीति से नहीं सत्ता से प्रतिश्रुत हैं और यह नहीं देखना चाहते कि दोनों दो अलग-अलग चीज़ें हैं, भले ही उनका संभ्रम उनके सर्जनात्मक स्वातंत्र्य को इसी बहाने कुतर डाले। वैसे व्यक्ति इस प्रकार के स्वातंत्र्य की ज़रूरत भी स्वीकार करते हैं या नहीं, यह जानना कठिन है।

यहाँ से हम कुछ अधिक व्यक्तिगत स्तर पर कलाकार की आंतरिक ज़िम्मेदारी को देखना शुरू करें तो पहले उठाये हुए प्रश्न पर आ जायेंगे। इस ज़िम्मेदारी का राजनीति से कोई संबंध नहीं है, केवल उसे किसी विशेष विचारधारा के अधीन नहीं होनी चाहिए। जो चीज़ इस परिस्थिति को निर्धारित करती है, वह विचारधारा से कहीं ज़्यादा व्यापक चेतना है—एक अखिल आलोचनात्मक मानव-चेतना है। गोष्ठी-प्रिय हिंदी लेखक को शायद यह बताना उसको चिढ़ाना न होगा कि इस चेतना की शर्त भारतीय संस्कृति का पांडित्य नहीं, सामूहिक जीवन में पूर्णतर योगदान है: जीवन की समग्रता और व्यापकता में, उसके विविध उपकरणों में, इच्छा कर के, परिश्रम कर के हिस्सा लेना आधुनिक साहित्यकार की मौलिक शर्त है। यों हिस्सा लेने वाला व्यक्ति दोहरी रचना करता है—पर उसकी रचना-पद्धति जीवन के अन्य कर्मियों से भिन्न होने के कारण उसका जीवन भी एक विशिष्ट जीवन होता है।

अब, क्या कर के वह जीवन हम जी सकते हैं? इसके तो उतने ही उत्तर होने चाहिए जितने कवि: हिस्सा लेने को बहरहाल हर एक मुक्त है। उसमें जो सामाजिक बाधाएँ आती हैं वे भी हर एक के लिए हैं और राज्य से या समाज से बिना किसी तरह की रियायत माँगे हुए भी कवि को उन्हें औरों की तरह झेलना और उनसे लड़ना है, पर निश्चय ही औरों की तरह केवल हिस्सा ले लेना कवि का लक्ष्य नहीं है—वह क्रिया तो केवल एक तैयारी है—उसकी रचनात्मक प्रक्रिया का अलग-अलग घटनाओं में सूत्रपात है।

इसके आगे इस सिद्धांत का कोई साधारणीकरण नहीं हो सकता—वह प्रक्रिया एक वैशिष्ट्य है और इससे आगे इसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। वह एक कवि में एक-सी होती हुई भी बार-बार नये स्तरों तक पहुँच सकती है और नयी रचनाएँ कर सकती है। जो एक बार व्यक्ति की हैसियत से समकालीन उथल-पुथल में योग दे चुका है, रचना करते हुए कवि की हैसियत से वह दुबारा योग देता है: अपनी शक्तिभर, छोटे-छोटे विविध अंशों में दुबारा योग देने में ही उसकी सार्थकता है और यह सार्थकता तभी है जब वह योगदान कला के स्तर पर हो। केवल स्थापना, घोषणा या नारेबाज़ी का मौक़ा जीवन में और जगह बहुत है और वहीं उसका फ़ायदा उठाना भी मना नहीं है।

इस तरह आज का लेखक सिर्फ़ अपने प्रति ज़िम्मेदार नहीं है, पर वह सिर्फ़ अपनी ज़िम्मे-दारी पर लिखता है। आग्रह उसमें सिर्फ़ अपने माध्यम के लिए है। वह राजनीति में हिस्सा लेता है पर लेखन छोड़ कर राजनीतिक विचारधाराओं के क्षेत्र में राजनीतिक विधियों से अपना रचनात्मक काम नहीं करने लगता। इसके मूल में उसका वही अकेलापन है जिसके बल पर वह जिस समय देखे उसी समय सत्य को कह सकता है––द्रष्टा हो सकता है, राजनीतिक शैली के बंधनों में बँध कर "कहने का उचित अवसर" नहीं ढूँढ़ता रहता (जिस हद तक ढूँढ़ता है उस हद तक वह इस अपूर्ण संसार का ही जीव है) और किसी आलोचक को यह अधिकार नहीं लेने देता कि वह उसकी रचना में अपने (आलोचक के) सत्य के न होने की शिकायत कर सके।

वह किसी का जवाब देने नहीं खड़ा होता है। जो किसी ने कहा है उसका खंडन करता उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं है। यह देखना है कि यदि खंडन करता है तो अंत में क्या विचार किसी के लिए बच रहता है। बड़े से बड़ा राजनीतिज्ञ विद्वान और धर्मात्मा उसकी आलोचना से परे नहीं, पर उसका स्थान लेने का उसका प्रयोजन नहीं है। उसका अपना स्थान है और वह जानता है कि मनुष्य से मनुष्य के नये संबंध में उसने मनुष्य के लिए क्या किया है। जैसे कि :

मानता हूँ बंधु यह आभार
तुम न होते तो न शायद जान पाता
इस व्यथा से भी कठिन है व्यथा से उद्धार
मानता हूँ बंधु यह आभार

––दो व्यक्तियों का यह संबंध जिसमें 'दूसरे' के संघर्ष की अनुभूति है––एक नये साहसी मानव-व्यक्तित्व की खोज में पाया गया है। जब वह कहता है :

किंतु धिक् मेरी व्यथा को
जो और अधिक दया ही माँगती रही
बंदिनी नारी की दया, जो केवल तन का समर्पण है

––तो स्त्री के लिए आदर के सदियों पुराने ढोंग से ज़्यादा सच्चा जान पड़ता है और जब माँगता है कि :

शक्ति दो, बल दो हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर
घर तक पहुँचा आयें
कोट की पीठ मैली न हो ऐसी दो व्यथा
शक्ति दो

तो वह पीड़ा का सैद्धांतिक, वादपरक या रोमांटिक निबटारा नहीं करता, उसे समझने और उससे जुड़े दूसरे व्यक्ति के अनुभव से न भागने की इच्छा करता है। ये कुछ निजी उदाहरण हैं और यहाँ

उदाहरण देने का विशेष प्रयोजन भी नहीं। यदि बिना मतवाद में पड़े आप नया साहित्य पढ़ते रहे हों तो स्वयं ऐसे स्थलों से परिचित होंगे जहाँ व्यक्ति की गरिमा का कोरा आदर्शवादी प्रचार नहीं है, व्यक्ति और व्यक्ति के संबंध को ज़्यादा खरा, खुला बनाने की खोज है, उसमें जो कुछ घटिया है, उसे देखने का साहस है और यह एक निष्ठा के साथ और, एक बहुत ग़लत समझे गये शब्द ही सही, 'आस्था' के साथ है।

> सुनो सुनो, बातों का शोर
> शोर के बीच एक गूंज है जिसे सब दूसरों से
> छिपाते हैं। कितनी नंगी और कितनी बेलौस।
> मगर आवाज़ जीवन का धर्म है इसलिए मढ़ी हुई करतालें
> चुमकारता, न क्या हुआ करता हूँ,
> बचाते हैं। लेकिन मैं जो कि सिर्फ़ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न
> सुनता हूँ और दे दिया जाता हूँ।

यदि इसमें आलोचक को किसी राजनीतिक विचारधारा की तो दूर, किसी सामाजिक आग्रह की भी धारणा नहीं दीखती तो मान कर चला जा सकता है कि कवि ने कम से कम एक कठिन शर्त—वर्तमान समाज के प्रति ज़िम्मेदार रहते हुए सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी पर लिखने की शर्त—पूरी कर ली है और वह कम से कम एक बार तो सही समझा गया है।

पर साथ ही एक और चीज़ हुई है। साहित्य के बाहर वह किस हद तक समाज से प्रतिश्रुत रहा है, हमेशा के लिए आलोचक की कचहरी से बाहर का मुक़दमा बन गया है।

रघुवीर सहाय,
—पी–३१ नयी दिल्ली साउथ एक्सटेंशन,
नयी दिल्ली–१६।

गोष्ठी-प्रसंग | पी० ई० एन० द्वारा आयोजित लेखक-सम्मेलन

भारत में राष्ट्रीय एकता के अभाव और आवश्यकता का लेखा-जोखा अब इतने व्यापक रूप से होने लगा है कि चारों ओर 'अखिल भारतीय' विशेषण सुनायी देने लगा है। अखिल भारतीय युवक सम्मेलन, अखिल भारतीय साधु सम्मेलन, अखिल भारतीय पत्रकार सम्मेलन या अखिल भारतीय हलवाई सम्मेलन हो, सब अखंड भारत का नारा लगा कर प्रारंभ और संपन्न होते हैं। अब 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' भी उस दिन लखनऊ में अखिल भारतीयता का दावा ले कर

हुआ। इस सम्मेलन का आयोजन किया था अंतर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० की (सुविधा के लिए 'पेन' अर्थात 'क़लम' भी कहा जाता है जो यहाँ विशेष सार्थक है) भारतीय शाखा ने।

पी० ई० एन० एक प्रकार का साहित्यिक क्लब है जिसका जन्म सन १९२१ में इंग्लैंड में हुआ था। इसका मुख्य प्रयोजन है लेखकों को संगठित कर के विचार-विनिमय, सहयोग और सद्भावना को प्रोत्साहन देना ताकि देश-विदेश के लेखक और विचारक अंतर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव और शांति के विकास में भी सहायता दे सकें। प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं से विचलित यूरोप के साहित्यिकों ने राष्ट्रवाद के उद्दाम प्रवाह को रोकने के लिए अंतर्राष्ट्रीयता के इस यज्ञ में अपना भी हव्य देना चाहा। इसके लिए आवश्यक था कि यूरोप की लगभग दो दर्जन भाषाओं में लिखने वाले लेखक एक दूसरे से केवल पुस्तकों के ज़रिये ही नहीं प्रत्यक्ष भी मिलें और यूरोपीय संस्कृति के धरातल को नये सिरे से टटोलें। इस बीच विज्ञान की तेज़ रफ़्तार ने समाज में नयी विषमताओं, समस्याओं, समाधानों और अनेक विरोधी मूल्यों को भी जन्म दिया। नये लेखकों की साहित्यिक रिश्तेदारी पुराने लेखकों के साथ होते हुए भी उनका मानसिक अलगाव १९३० के बाद स्पष्ट उभर आया। इस संकट का पहले से आभास पाने वाले सजग साहित्यकारों ने पी० ई० एन० के महत्व को विशेष रूप से समझा, उसका उपयोग किया और कुछ ही वर्षों में यूरोप ही नहीं, एशिया और अमरीका में भी इसकी कई शाखाएँ खुल गयीं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अलावा राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी पी० ई० एन० ने साहित्यिक गतिविधियों और लेखकों की प्रवृत्तियों को प्रभावित किया। इंग्लैंड में जन्मने के कारण शुरू से ही इस क्लब का रंग अंग्रेज़ी रहा है, उस पर अंग्रेज़ी सभ्यता और साहित्यकारों का प्रभुत्व रहा है। किंतु पश्चिमी देशों की स्वाभाविक राष्ट्रीयता ने अपने-अपने पी० ई० एन० क्लबों को अंग्रज़ियत के निरर्थक तत्वों से मुक्त रखा। थियोसोफ़िकल सोसायटी की एक उत्साही विदेशी महिला श्रीमती सोफ़िया वाडिया के प्रयत्न से १९३४ में भारत में भी पी० ई० एन० क्लब खुला। बहुभाषी देश में ऐसे क्लब का महत्व निर्विवाद था। रवींद्रनाथ ठाकुर उसके प्रथम अध्यक्ष बने। सरोजिनी नायडू, रामानंद चटर्जी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, जवाहरलाल नेहरू इत्यादि इससे तत्काल संबद्ध हो गये। ग़ुलाम देश में अंतर्राष्ट्रीयता का जो रूप बन जाया करता है वही हमारे देश में भी हुआ। पी० ई० एन० अंग्रेज़ी में लिखने वालों का चोचला बन गयी। इसके प्रायः सभी सदस्य भारतीय होते हुए भी भाषा, शैली, विचारधारा या सर्जनात्मक प्रेरणा की दृष्टि से पश्चिम के—ख़ास तौर से इंग्लैंड के—बहुत निकट थे। प्रेमचंद, शरच्चंद्र या जयशंकर 'प्रसाद' की गति वहाँ न थी। अतएव प्रारंभ से ही भारतीय पी० ई० एन० की बनावट और आत्मा दोनों स्वदेशी से अधिक विदेशी ही रही आयी है। उसके कार्यक्रमों का एकमात्र माध्यम अंग्रेज़ी है। उस पर भी भरसक इंग्लैंड की अंग्रेज़ी। इसलिए क्लब की सभाओं में जो जितने अंग्रेज़ी लहजे और उतार-चढ़ाव से अपनी भारतीय अंग्रेज़ी बोल सकता है उसका पी० ई० एन० में उतना ही अधिक स्वागत और सम्मान है। लखनऊ के पी० ई० एन० सम्मेलन में—जिसे अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन कह कर पुकारा गया—तो ऐसा लगा कि भारतीय साहित्य पर नहीं, अंग्रेज़ी उच्चारण और भाषण पर 'सिंपोज़ियम' हो रहा है। भारतीय पी० ई० एन० की ऐसी गतिविधियों में सबसे सक्रिय हैं स्वयं मदाम (लोग हिंदी में भी उन्हें अब श्रीमती नहीं कहते) सोफ़िया वाडिया। सक्रिय

ही नहीं हैं वे, उस पर पूरा पहरा भी देती हैं। चार दिन के अधिवेशन में वे अनावश्यकता को भी आवश्यक बना कर प्रत्येक बैठक में सभापति के साथ ठीक बग़ल में मंच पर विराजतीं और अपनी इच्छानुसार सभापति को भूल कर माइक पर जा कर अपनी आलंकारिक अंग्रेज़ी का तोहफ़ा श्रोताओं को बाँटने लगतीं। क्यों, किस प्रसंग में, किस आशय से, यह पूरी बात सुन जाने के बाद भी न मालूम होता। अंग्रेज़ियत केवल भाषा तक ही सीमित नहीं थी। समस्त सम्मेलन का परिवेश ही उसका प्रतिनिधित्व बड़ी वफ़ादारी से कर रहा था। १५ भारतीय भाषाओं में लिखने वाले प्रतिनिधियों का सम्मिलन चार दिन तक हुआ—वह भी हिंदी जगत की राजधानी लखनऊ में। किंतु एक भी भारतीय भाषा का शब्द नहीं सुनायी दिया। हिंदी का भी नहीं।

बहरहाल, लखनऊ में अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के नाम से एक सम्मेलन हुआ। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं।

(१) लगभग ८० प्रतिनिधियों में शायद तीन या चार लेखक ही ऐसे थे जो अपनी भाषा के श्रेष्ठ और ख्यातिप्राप्त साहित्यकार थे।

(२) ८० प्रतिनिधियों में लगभग १० प्रतिनिधि ही विशुद्ध साहित्यिक वृत्ति के थे। बाक़ी अध्यापक थे—प्रोफ़सर, लेक्चरर, मास्टर, यहाँ तक कि क्लर्क और तमाशबीन भी। इनमें २० केवल डॉक्टर (पी- एच० डी० और डी० लिट०) थे।

(३) प्रायः सभी प्रतिनिधि किसी न किसी रूप से अंग्रेज़ी से संबंधित थे। कोई अंग्रेज़ी का अध्यापक, कोई अंग्रेज़ी का लेखक, कोई अंग्रेज़ी का भाषणबाज़ तो कोई अंग्रेज़ी का एम० ए० ही। जो इनमें से कुछ नहीं थे वे या तो अंग्रेज़ी के उपासक थे या विदेश हो आये थे।

(४) अपनी सुविधा के लिए अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन ने भारतीय संविधान को शायद फ़िलहाल बिसरा कर १५ राष्ट्रीय भाषाओं में अंग्रेज़ी, मैथिली और सिंधी को शामिल कर लिया। इन पर लेख पढ़े गये। विवाद हुए। बदले में असमीया को बिरादरी से अलग रखा गया।

(५) हिंदी जगत की छाती पर मंच बना कर भी सम्मेलन के आयोजकों ने हिंदी भाषा में कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम अन्य भाषा-भाषियों के सामने नहीं प्रस्तुत किया। दो नाटक खेले गये—एक बँगला में और एक अंग्रेज़ी में।

(६) सम्मेलन का उद्घाटन राज्यपाल ने और समापन मुख्य मंत्री ने किया। लखनऊ और उत्तरप्रदेश के कुछेक वरिष्ठ साहित्यकार मुँह उठाये उनको ताकते बैठे रहे।

(७) छह विचारगोष्ठियों में से एक का भी सभापतित्व करने का अवसर हिंदी के किसी लेखक को नहीं दिया गया। लगता है उत्तर प्रदेश की मुख्य मंत्री को पी० ई० एन० ने हिंदीभाषी नहीं माना। अन्यथा समापन समारोह किसी और से कराया जाता।

(८) प्रतिनिधियों को शत प्रति शत पंजाबी भोजन और बंगाली मिठाई खिलायी गयी। मुझे स्मरण है, अन्नमलाई नगर में आयोजित ओरिएंटल कॉनफ़रेंस में भारतीयों को ही नहीं, कुछ विदेशियों को भी सांबर, इडली वग़ैरह खाना पड़ा था।

(९) सम्मेलन में चार अंग्रेज़ीभाषी—दो अमरीकी और दो अंग्रेज़—प्रतिनिधि थे।

किंतु इनमें से एक ने भी, भारतीय साहित्य पर तो दूर की बात, शेक्सपियर पर हुई विचारगोष्ठी में अपना मौन व्रत भंग नहीं किया।

(१०) स्व० मामा वरेरकर को श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। नेहरू जी को भी लेखक के रूप में काँपती आवाज़ से स्मरण किया गया। किंतु राहुल सांकृत्यायन, रघुवीर, नेपाली और अभी-अभी गुज़र गये मुक्तिबोध को ग़लती से भी नहीं याद किया गया।

ऐसी ही न जाने कितनी ख़ूबियाँ थीं लखनऊ के अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन की।

पहली विचारगोष्ठी हुई 'लेखक और सार्वजनिक माध्यम (मास मीडिया)' पर। चार प्रबंध पढ़ गये। सबका अपना-अपना पहलू था। हिंदी की ओर से बालकृष्ण राव ने 'लेखक और रेडियो' पर संक्षिप्त किंतु विचार-उद्बोधक लेख पढ़ा। अंग्रेज़ी में ही—तिस पर राव साहब की अंग्रेज़ी। कभी लगता बी० बी० सी० बोल रहा है तो कभी लगता आकाशवाणी का संशोधन हो रहा है। लेख के प्रारंभ में राव साहब ने हिंदी में न बोल सकने पर मलाल प्रकट किया तो मदाम वाडिया के रीवीले चेहरे पर व्यंग्य की चोट साफ़ नज़र आयी। आगे उन्होंने जब और सुना तो मुझे लगा मानों वे अपने आप से कह रही हों : "अरे, तुम हिंदी के कवि ऐसी अंग्रेज़ी कहाँ से चुरा लाये ?" दोपहर भोजन पर कुछ दक्षिणी बंधुओं ने कहा : "यह बालकृष्ण राव तो पुराना आई० सी० एस० था।" लेखक सम्मेलन की कैसी विडंबना ! यह किसी को न पता था कि राव साहब सबसे पहले कवि—हिंदी के ही सही—थे, बाद में कुछ और थे। किसी वक्ता या प्रतिनिधि का परिचय कराने का कष्ट आयोजकों ने नहीं किया। केवल दूसरे दिन अख़बारों से मालूम होता था कि कल सवेरे या शाम कौन बोल रहा है। पता नहीं पी० ई० एन० अपनी किस जादुई लकड़ी से भारतीय लेखकों को संगठित कर के देश में राष्ट्रीय एकता का और विश्व में मानवीय प्रभुसत्ता का पोषण करना चाहती है।

दूसरी विचार गोष्ठी का विषय था 'रंगमंच विधान और राष्ट्रीय थियेटर के लिए नाटक-रचना'। पहली बार सभापति डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने भारतीय लोकनाट्यों और बँगला के नाटककारों का उल्लेख कर पी० ई० एन० में भारतीयता का पुट दिया। चर्चा संपूर्ण भारतीय नाटकों और नाट्यकला की थी। किंतु बँगला के गिरीश घोष, शिशिर भादुड़ी आदि को छोड़ भारतीय भाषा के किसी अन्य नाटककार या अभिनेता को स्मरण नहीं किया गया। मामा वरेरकर, रामकुमार वर्मा या पृथ्वीराज कपूर को अनदेखा कर दिया गया। इसमें भी चार प्रबंध पढ़े गये। तमिल के नागराज राव ने संस्कृत नाटकों का वर्णन शुरू किया तो आधा घंटा निकल गया। सभापति ने घंटी बजा कर उन्हें बैठा दिया। बाक़ी प्रबंधों और परिसंवाद में केवल सैद्धांतिक चर्चा ही हुई। शेक्सपियर, इब्सन, बर्नार्ड शॉं और टेनेसी विलियम्स के नाम कानों से अवश्य टकराये। लेकिन भारतीय पृष्ठभूमि को ले कर हिंदी, बँगला या मलयालम के नाटकों और नाटककारों की समस्याओं और उपलब्धियों पर प्रकाश किसी ने नहीं डाला। राष्ट्रीय थियेटर की तीन घंटे तक विवेचना हुई। लेकिन राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की आत्मा ग़रीब अनपढ़ जनता की ओर किसी आलोचक की कृपादृष्टि नहीं गयी।

तीसरी बैठक 'साहित्यालोचन की अवस्था' पर हुई और दिन भर हुई। १५ भाषाओं के

प्रतिनिधियों ने अपने-अपने साहित्य का हिसाब पेश किया। गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ लेखक मनसुखलाल झवेरी का प्रबंध बहुत विवेचनात्मक न होते हुए भी लेखकसुलभ संवेदन से लिखा गया था। अंग्रेज़ी ढंग से सत्यं, शिवं और सुंदरं की आवश्यकता पर बल दिया गया था। पंजाबी के प्रोफ़ेसर तालिब ने सराहनीय ईमानदारी लेकिन अनुदारता से स्वीकार किया कि पंजाबी साहित्य का सर्जन दरअसल अभी एक नयी घटना ही मानी जानी चाहिए। प्रबंध-लेखन की दृष्टि से कदाचित यह प्रबंध सर्वोत्तम था। तमिल के सुपरिचित साहित्यकार सुब्रह्मण्यम ने साहित्यालोचन की वर्तमान अवस्था पर एकदम मौलिक शंका उठायी कि पश्चिमी परिभाषा के अनुसार आधुनिक भारतीय साहित्य में साहित्यालोचन कितना और कैसा है? क्या संस्कृत की परिभाषा और परंपरा के अनुसार रचित आलोचना-साहित्य को उससे अलग रखा जाना चाहिए? अंततः वे न जाने किस दार्शनिक मार्ग से इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि वस्तुतः प्रत्येक लेखक अपने आप में आलोचक भी है। बाद में मैंने उनसे छेड़खानी की तो वे इस बात को मान गये कि दरअसल प्रत्येक लेखक आलोचक नहीं अपितु प्रत्येक आलोचक लेखक ज़रूर हो सकता है। और यदि वह आलोचक होता भी है तो जीवन का आलोचक होता है, साहित्य का नहीं। तमिल के विद्वान ने यह कह कर बात समाप्त की कि ऐसी महत्वपूर्ण बातें मैं मंच पर नहीं कहता। हिंदी साहित्यालोचन की वर्तमान अवस्था पर राजेंद्र अवस्थी ने प्रबंध पढ़ा जो आलोचक की नहीं लेखक की दृष्टि से लिखा गया था—वह भी नयी पीढ़ी के लेखक की दृष्टि से। अतएव उसमें पुरानी पीढ़ी वाले आलोचकों की शिकायत थी ही। अवस्थी जी के अनुसार हिंदी के नये लेखकों की आलोचकों द्वारा जानबूझ कर उपेक्षा की जाती है। उनकी रचनाओं का सही मूल्यांकन तो दूर की बात, उन पर समुचित विचार तक नहीं किया जाता। पुराने लोग नौजवानों को गंभीरता से लेते ही नहीं। अतएव नया लेखक निराश हो कर अपनी आलोचना स्वयं करता है। पहली बार मालूम हुआ—अवस्थी जी से—कि निराश लेखक आत्मालोचक बन जाता है। अन्यथा अभी तक तो यह सुनता रहा हूँ कि वह आलोचक बन कर ही रह जाता है। नौजवानों की पैरवी करते हुए अवस्थी जी शायद यह भूल गये थे कि हिंदी के नयी पीढ़ी के लेखक वस्तुतः अपनी आलोचना नहीं, एक दूसरे की आलोचना अवश्य करते रहे हैं। किसी वक्ता ने जोश में आ कर एक अमरीकी लेखक का उद्धरण दिया कि अमरीकी साहित्य के पहले अमरीकी साहित्यालोचन की सृष्टि होनी चाहिए तभी वह श्रेष्ठ होगा। अर्थात बात 'पहले मुर्ग़ी या अंडा' वाली पहेली पर समाप्त हो रही थी कि हिंदी के एक और जाने-अनजाने नौजवान माधवसिंह दीपक ने माइक पर अवस्थी जी के साहस की दाद दे डाली, कि वे हिंदी के हो कर भी हिंदी वालों को जली-कटी सुना सकते हैं। दीपक जी के ख़ून ने और ज़ोर मारा तो यह भी कह डाला कि खास तौर से हिंदी वाले अंग्रेज़ी से घृणा करते हैं और इसलिए अंग्रेज़ी साहित्य न पढ़ कर अपना अज्ञान बढ़ा रहे हैं। बाद में मालूम हुआ कि दीपक महाशय भी अंग्रेज़ी के एम० ए० हैं। पूरी गोष्ठी एक प्रबल स्वर से समाप्त हुई कि भारतीय साहित्य की आलोचना केवल आधुनिक है और पश्चिम की नक़ल है। संस्कृत आलोचना के सिद्धांतों के अनुसार जो आलोचना-साहित्य है उसे आलोचना—पाश्चात्य कसौटी पर—माना नहीं जा सकता।

दूसरे दिन एक विचारगोष्ठी शेक्सपियर पर हुई। कारण ? क्योंकि इन दिनों शेक्सपियर की चौथी शताब्दी मनायी जा रही है। वही 'ग्रीक ट्रैजेडी', 'नाटक सम्राट', 'हेमलेट' इत्यादि की प्रतिध्वनि गूँजी और निर्धारित समय से काफ़ी पहले गोष्ठी उठ गयी। कोई बोलने वाला ही नहीं बचा। सबने अपनी-अपनी श्रद्धांजलि दी। किसी ने शेक्सपियर को अत्यधिक तूल देने पर रोष प्रकट किया। उनको बल दिया लखनऊ विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने यह कह कर कि शेक्सपियर का अध्ययन हमारे यहाँ कालेजों और विश्वविद्यालयों में अनिवार्य नहीं होना चाहिए। लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० राव सभापति थे, सो उन्होंने लोकतंत्र की दुहाई दे कर कहा कि हमारा देश लोकतंत्रवादी है। हम जब चाहेंगे अपने पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर सकते हैं। यह थी शेक्सपियर पर विचारगोष्ठी।

सब मिला कर सामान्यतः विचारगोष्ठियों के 'हाईलाइट्स' निम्नलिखित थे :

(१) विद्वानों द्वारा लिखे गये और पढ़े गये प्रबंधों को मौलिक और शोधपूर्ण रचना होने की आशा की गयी थी। किंतु प्रायः सभी 'पेपर' सामान्य सिद्धांतों और कुछ लेखकों के नामों की सूची मात्र थे। इस पर तुर्रा यह कि ये सभी 'पेपर' पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते हैं।

(२) अध्यापकों, डॉक्टरों की भरमार होने के कारण सारा वातावरण साहित्यिक या बौद्धिक से अधिक 'क्लास रूम' वाला रहा।

(३) पूरे सम्मेलन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी थी कि आधुनिक युग की विशेष सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं आया। मार्क्सवाद, दो विश्वयुद्ध, फ़ायडवाद, परमाणु-शक्ति और एशिया में चीनी-शक्ति के अभ्युदय ने साहित्य, समाज और अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव डाला, भारतीय साहित्य में प्रगतिशील तत्वों का विकास और पोषण कैसे और कितना हुआ है, इनका किसी भी प्रसंग में किसी ने अप्रत्यक्ष संकेत तक नहीं किया। इनकी चर्चा के बिना आधुनिक भारतीय साहित्य की—जिसमें प्रेमचंद, यशपाल, निराला, कृष्णचंदर, नजरुल इस्लाम जन्म ले चुके हैं—गोष्ठी कैसे हो सकती है, इसका अनुमान मुझ जैसे प्रत्यक्षदर्शी को ही हो सकता है।

(४) मराठी के एक नौजवान लेखक-पत्रकार नडकर्णी ने दो विराट बातें कहीं : (क) पत्रकारिता को राजनीति से दूर रहना चाहिए; (ख) हमें राष्ट्रीय थियेटर की आवश्यकता नहीं है। सुन कर लगा, बंबई के फ़िल्म उद्योग का कोई एजेंट बोल रहा है—भारतीय नौजवान लेखक नहीं।

(५) अंत में मुख्यमंत्री सुचेता कृपलानी को कहना पड़ा कि लेखकों पर सामाजिक दायित्व किसी समाजसेवी, राजनीतिक कार्यकर्ता या अर्थशास्त्री से कम नहीं है। ज़ाहिर था कि सुचेता जी को सम्मेलन की तब तक की प्रवृत्तियाँ शायद केवल वाग्विलास-सी लगीं।

(६) साधारण से साधारण बात भी जब अंग्रेज़ी में कही जाती है तो असाधारण बन जाती है।

ऐसे सम्मेलनों में जाने का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि ईमानदार बुद्धि का व्यक्ति यह विश्वास करने को बाध्य होता है कि भारतीय लेखक वही है जो भारतीय साहित्य के साथ ही साथ भारत का, भारतीय जनता का, उसके दर्दों और मुस्कराहटों का भी प्रतिनिधित्व करता हो।

पी० ई० एन० की आत्मा भारतीय आत्मा से कितनी अलग, बेमेल और अपरिचित है, इस ज्ञानका लखनऊ के अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन ने भली भाँति करा दिया। तथापि पी० ई० एन० का अस्तित्व निरर्थक नहीं है। भारतीय साहित्य-जगत के लिए—विशेषकर हिंदी जगत के लिए—वह एक चुनौती है कि जो तुम अभी तक नहीं कर पाये वह मैं कर रहा हूँ, चाहे तुम्हें अच्छा लगे या न लगे। हमारे देश में केवल भूमिगत दूरियाँ नहीं हैं। उसमें भाषागत, साहित्यगत, मानसिक और आध्यात्मिक दूरियाँ भी हैं। इन दूरियों को छोटी करने का महती काम सबसे अधिक लेखकों के भाग में ही पड़ा है। फिर भी हम लोग आज़ादी के इतने साल बाद भी अखिल भारतीय साहित्य का कोई एक संगठित प्लेटफ़ार्म नहीं बना सके। हिंदी साहित्य सम्मेलन, भारतीय हिंदी परिषद इत्यादि के क्षेत्र अभी तक बहुत सीमित रहे हैं। ये संस्थाएँ स्वयं हिंदी के अधिकार और शान की रक्षा नहीं कर पा रही हैं, आगे की बात तो दूर रही। अन्यथा यह कैसे होता कि जिस भाषा में भारत की सबसे अधिक संतान बोलती, समझती, पढ़ती और लिखती हैं, जिस भाषा में सबसे अधिक भारतीय पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, जिस भाषा को राष्ट्र और राज्यभाषा माना गया है, जिस भाषा के घर में अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन आयोजित हो, उसी भाषा का सबसे कम प्रतिनिधित्व उस सम्मेलन में हो। पी० ई० एन० के उद्देश्य अवांछनीय नहीं हैं। यह भारत के अंग्रेज़ी लेखकों की संस्था नहीं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यव्यस्त साहित्यिक क्लब है जो अपने स्थान पर ठीक है। आवश्यकता है उसके भारतीयकरण की, देशीकरण की। और फिर उसके सूत्र को पकड़ कर एक ठोस अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन की स्थापना की जा सकती है। ऐसे सम्मेलन में ही भारत की भाषाओं, साहित्यों और साहित्यकारों को वास्तविक प्रतिनिधित्व और आदर प्राप्त हो सकेगा और तभी भारत की आत्मा साहित्य के माध्यम से अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में बोल पायेगी। देश के राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में यह कदाचित सबसे महत्वपूर्ण प्रगति होगी। लखनऊ अधिवेशन के अंत में एक हंगेरियन महिला ने—जो बरसों से बंबई में रह रही हैं और एक भारतीय पति की पत्नी और तीन भारतीय बच्चों की माँ हैं—कह ही दिया : "कहाँ है आपका 'नेशनल इंटीग्रेशन'? सब अंग्रेज़ी है—भाषा, मनोभाव, व्यवहार, लहजा, ज्ञान, सब कुछ। भारत के भाषावार पुनर्गठन से क्या लाभ हुआ?" लखनऊ से विदा होते समय मेरे मन में यह प्रश्न, यह चुनौती बार-बार गूंज रही थी। हालाँकि इन सबसे ऊपर मेरे मन में एक और प्रश्न उठ रहा था : "कहाँ है अखिल भारतीय साहित्य, अखिल भारतीय भाषा और अखिल भारतीय साहित्यकार?"

—महेशप्रसाद जायसवाल,
नारायण निवास, टीकमगढ़
(म० प्र०)

●●

प्रत्यालोचन : पुनर्विचार

●●

शमशेर....
आईने के पीछे

शमशेर के संबंध में 'माध्यम' के तीसरे अंक में
प्रकाशित विजयदेवनारायण साही का लेख पढ़ कर

●

शमशेर की कविताओं को पढ़ कर लगता है कि न केवल उसका प्रगतिवाद हाशिये तक सीमित है, बल्कि उसका अपना निजत्व ही अंतर्विरोधों की मलार्मीय विडंबना सहित हाशिये पर अनिश्चय की स्थिति में खड़ा है। पच्चीस-तीस वर्ष की काव्य-साधना की द्योतक, 'कुछ कविताएँ' (१९५९) और 'कुछ और कविताएँ' (१९६१) संकलनों में प्रकाशित, लगभग ८४ रचनाएँ शमशेर की काव्यानुभूति के गठाव को पर्याप्त सही तरीक़े से अनावृत करती हैं। उस पर लिखे गये लेखों में काफ़ी कुछ कहा गया है। कुछ में कविताओं से अधिक कविताओं के बिंबों की चर्चा की गयी। उसे संवेदनाओं का कवि बताया गया। (द्रष्टव्य 'कृति', अक्टूबर, १९५८ में प्रकाशित गजानन माधव मुक्तिबोध और नामवर सिंह के लेख।) कुछ तटस्थ और उपादेय लेख भी सामने आये। 'कल्पना' (१४२) में द्रष्टव्य बालकृष्णराव का लेख और सद्य:प्रकाशित साही का विवेचन।) कुल मिला कर परिणाम यह हुआ कि शमशेर के काव्य-व्यक्तित्व को जो रूप प्राप्त हुआ वह वास्तविकता से काफ़ी भिन्न हो गया।

वस्तुतः शमशेर एक सीधा-साधा प्रेमी व्यक्ति है, पर उसकी काव्यात्मक-प्रक्रिया तनिक भी सहज नहीं लगती। उसकी काव्यानुभूति की संरचना अंतर्विरोधों की भूमिका पर आधृत है जहाँ भीतर ही भीतर कई चक्र हैं, लिजलिजे प्रेम की पीड़ा है, आहों का धुँधलका, व्याकुलता, छटपटाहट और निषेधात्मक उपलब्धियाँ हैं। शमशेर ने क्या नहीं लिखा—ग़ज़लें, मुक्तक, गीत, काव्य-पत्र, व्यक्तियों की स्मृति में काव्यांजलियाँ, शहीदों की बरसी पर कविताएँ, प्रशस्तियाँ, सिफ़नी, शादी के मौक़े पर कहे जाने वाले शेर, लोकगीत की शैली में गीत, रुबाइयाँ, राजनयिक कविताएँ, मार्क्सवाद से उठ कर शमशेरीय ढंग की रचनाएँ, भावचित्र, आदि? जब कि इतने व्यापक केनवास के होते हुए भी शमशेर के पास कहने के लिए बहुत कम है। एक ही तरह का सिलसिला कई कविताओं में फलता हुआ जान पड़ता है। लगता है, साही

की बात ठीक है : **"शमशेर ने एक ही कविता बार-बार लिखी है।"** दरअसल शमशेर बड़ी साँसत में है। उसे **'चिनक-चिनक कर मीठा दर्द-सा होता रहता है।'** वह एक 'धुंधली बादल **रेखा पर टिका हुआ'** है, अनिश्चय की हालत में, नकारात्मक मुद्रा में, बहुत ही सहमे हुए समर्पित भाव से :

होश में सम्हल कर
फिर गिरा
मर्माहत आदर्शों के स्थल पर
अस्थिर मैं तम घिरा।

(ज़िंदगी का प्यार : 'कुछ और कविताएँ', पृ० ४९)

यह स्थिति शमशेर के संतुलन को हिला देती है। उसकी साफ़गोई स्वयं इस प्रक्रिया में अजीब तरह से पेश आती है। उसका सामाजिक दायित्व यहाँ विलुप्त होता जान पड़ता है। शमशेर की व्यंजना इस स्थिति में धुंधली छतों और 'छायाओं की मेहराबों' के नज़दीक चली आती है। शाम, आसमान, गुलाब और चाँदनी की दुनिया में बंद होती नशीली पलकों, अधखुली अँगड़ाइयों, सुरमई गहराइयों और गद्य के आलम में भटक कर उसका नितांत प्रेमी व्यक्तित्व रोमांटिक छायावादियों की शक्ल में उभर कर सामने आता है (गोकि शमशेर अनेक अंशों में वैचारिक और शिल्प दोनों दृष्टियों से छायावादी नहीं है)। उपलब्धियों का संबंध तब न तो प्रतीकों से रहता है, न बौद्धिक संचेतना से। उसकी **'रहेटरिक या छंदोबद्ध पत्रकारिता'** बिना किसी फ़ार्म या शैली की सजगता के अपने निजी तरीक़े से काम करती है। बल्कि इस घुलन-चिह्न पर शमशेर अनायास ही महादेवी वर्मा के-से दर्द को व्यक्त करता जान पड़ता है। भाषा भी वहाँ अनुगामिनी हो जाती है (**"भेद उषा ने दिये सब खोल। हृदय के कुल भाव। रात्रि के, अनमोल"**)। उसमें नयापन नहीं रहता। **'घनीभूत पीड़ा' (—'कुछ कविताएँ',** पृ० ४६) के साथ जो तीन रेखाचित्र दिये हैं, वे वस्तुतः शमशेर के अवचेतन में बैठी महादेवी के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। धूमिल चित्रशैली के इर्दगिर्द उसका मानस बेचैनी से घूमता है। इस संदर्भ में शमशेर के देखने की क्रिया बिंबों तक नहीं, बल्कि उनमें खुद को मिला देने के आग्रह तक पहुँचती है। उसे छायावाद के किनारों तक वह खींच लेती है, जहाँ वह ऐसी भाषा का उपयोग करता है जिसे उत्तर छायावादियों ने छोड़ दिया था :

स्वप्न-जड़ित-मुद्रामयि
शिथिल-करुण !
हरो मोह-ताप, समुद
स्मर-उर वर :
हरो मोह-ताप—
और और कस उभर ;

(एक मुद्रा से : 'कुछ और कविताएँ', पृ० ५८)

शमशेर का संयम (?), जैसा कि स्वयं उस ने कहा है, **'सचाई का अपना खास रूप'** नहीं रख पाता। **'अभिव्यक्ति अपनी ओर से सच्ची हो, यही मात्र मेरी कोशिश रही' (—भूमिका; 'कुछ और कविताएँ')**। पर ऐसा होता नहीं। शमशेर स्वयं ही अपनी विडंबना के कारण गफ़लत में पड़ जाता है।

एक और बात। नामवर सिंह की बात मुझे जँचती नहीं कि **'शमशेर का अनुशासन नयी कविता में आदर्श है।'** वह शायद कभी रहा ही नहीं। विकासोन्मुख कविता के लिए किसी के आदर्श स्थायी नहीं होते। आज जब कि 'नयी कविता' परिपक्व स्थिति से गुज़रती हुई अपने कथ्य और शिल्प में दुहराती जा रही है, तब यह परख लेना और भी सरल हो जाता है कि शमशेर का हिंदी की 'नयी कविता' पर क्या प्रभाव रहा। 'अज्ञेय' की उपलब्धियों के साथ शमशेर को ले आना और भी ग़लत होगा; क्योंकि शमशेर की 'चित्रकल्पी प्रतिभा' इतनी अधिक परिष्कृत नहीं लगती कि जहाँ शब्द अपरूप हो कर ध्वनियों में अर्थ देने लगे। ख़ुद शमशेर का कहना है: **"मेरी रुझान ज्यादातर बिलकुल अपनी अकेली दुनिया के अंदर खिंचते चले जाने की तरफ़ रही है" (—दूसरा सप्ताह)**। और प्रकट है, शमशेर ने स्वयं ही स्वीकारा है कि उसमें **'उलझे हुए भावों को लिये हुए सपनों की-सी चित्रकारी है' (—दूसरा सप्तक)**। काव्य का यह पक्ष आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले भले ही चौंका देता रहा हो, वर्तमान में उसका अर्थ मात्र ऐतिहासिक संदर्भ तक सिमट गया है। 'सपनों की-सी चित्रकारी' पेंटिंग के न तो 'इंप्रेशनिस्ट' स्कूल से संबद्ध है, न 'एब्स्ट्रेक्ट फ़ॉर्म' या **'सर्रियलिज्म'** से। शमशेर में आरोपित प्रभाववाद मात्र शब्द-संचयन और भावात्मक धूमच्छाया के रूप में अनुरंजित वर्ण-सादृश्य और ध्वनियों की 'सेन्सुअस' पकड़ तक पहुँचा है। इसे चित्रकला की भाषा में कहाँ तक 'इंप्रेशनिस्ट' कहा जा सकता है? यह न तो कमिंग्ज़ या लॉवेल की तरह काव्य में खिल पाया, न ठीक-ठीक सेजाँ या गोगाँ के स्तर को छू सका। वस्तुतः शमशेर पर चित्रकला का जो प्रभाव आया वह छायावादी ढंग का धूमच्छायी, स्त्रीसुलभ, रूपोमय, झिलमिल—बंगाली चित्रशैली या महादेवी के भाव-प्रवण चित्रों-सा। बहुत थोड़ी कविताएँ इस आरोप से मुक्त हैं। 'होली : रंग और दिशाएँ', 'टूटी हुई, बिखरी हुई', 'एक नीला आइना बेठोस' आदि निश्चय ही अगले ढंग की रचनाएँ हैं। फिर भी चित्रकला की प्रचलित शैलियों के काव्यगत प्रभाव को शमशेर ने कहाँ तक अपने में आत्मसात किया है, इसका अलग से परीक्षण किया जा सकता है। जैसा कि कहा है, शमशेर की काव्यानुभूति की संरचना अंतर्विरोधों की भूमिका पर आधृत है, यह बात और भी जटिल हो जाती है। बात स्पष्ट है—शमशेर में बड़ी गड्डमड्ड है। वह आंतरिक रूप से रसभोगी है। मूर्त के प्रति आवेग से आकृष्ट हो कर अपने आंतरिक संवेदन और आकुल मिज़ाज को वह ख़ास अंदाज़ से पेश करता है। उसका यह अंदाज़ ही उसका वशिष्ट्य है, जो वास्तव में कथ्य न हो कर मात्र शिल्प है। भीतर से वह रोमांटिक और द्रवित है। **('शमशेर मुख्यतः प्रणय-जीवन के प्रसंग-बद्ध रसवादी कवि हैं'—मुक्तिबोध)**। गीतकार है। उसमें आंतरिक उलझाव की अदा है। झिझक है। वह खुलता नहीं। बात की तह तक पहुँच कर बिंबों या भाव-प्रसंगों में बिखर जाता है। उन्हें 'बोल्ड' रेखाओं में सामने नहीं लाता। इसी कारण उसके अर्धचेतन में छुपे अतीत के मोह और क्लासिकल के प्रति आस्था ने

उसे छायावाद के उत्तरार्ध में पाश्चात्य दर्शन की ओर मोड़ दिया। परिणाम ज़ाहिर है—काव्य में अस्पष्टता, दुरूहता और अंतर्विरोध। साही के शब्दों में, यहाँ मैं मानता हूँ : **"एक तरह की वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता'** शमशेर की कविताओं में बराबर मौजूद है। सुंदर—मात्र सुंदर—में रस की तलाश करता शमशेर, अवचेतन मन से सचाई को ढूँढ़ता और प्रेम में पिघलते हुए निषेधात्मक रुख से मार्क्सवाद के खुरदुरे अनुशासन से बच निकलता है। वह कुछ छुपा जाना चाहता है। पकड़े जाने पर चिढ़ जाने की-सी प्रतिक्रिया करता है और जो न कहना चाहिए उसे अधिक महत्वपूर्ण मान लेता है।

> **छोड़ दो संपूर्ण-प्रेम**
> **त्याग दो सब दया—सब घृणा।**
> **ख़त्म हमदर्दी।**
> **ख़त्म—**
> **साथियों का साथ।**

(मूँद लो आँखें : 'कुछ और कविताएँ', पृष्ठ ७२)

शमशेर के कुछ खटके हैं, जैसे हर प्रेमी के होते हैं और जिन पर अलग से चर्चा की जा सकती है। तदपि, अभी यह स्वीकार कर लेने से तनिक भी बात नहीं बनती कि शमशेर की मूल प्रवृत्ति संक्षेपीकरण एवं चित्रकलात्मक संवेदना की है। यह मान भी लिया जाय कि अपने को तराशते चलना शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा का महत्वपूर्ण पक्ष है, तो भी 'चित्रकल्पी' प्रवृत्ति ब्रशवर्क में सर्वाधिक संवेदनीय और प्रभावमय अंशों को बहुत कम अमूर्त रंग-विधा में पकड़ पाती है। कथ्य वस्तु 'इमेज' में आते-आते दूसरा ही रूप ले लेती है। सहज ही शमशेर गिरिजाकुमार माथुर की शैली में ध्वनित होने लगता है। 'उषा', 'सागरतट', 'पूरा आसमान का आसमान', 'धूप कोठरी के आइने में खड़ी' जैसी कविताओं में यह छाया स्पष्ट दीखती है।

आईने के सामने शमशेर जो कुछ है वैसा पीछे नहीं। पीछे वह साँसत में फँसा, एक पीड़ित व्यक्तित्व है जो पग-पग पर अनिश्चय ही हालत में अपनी ही तलाश करता है। फिर भी उसमें कुछ है . . . . और बहुत कुछ नहीं है। साही ने शमशेर की काव्यानुभूति को बहुत नज़दीक से तौला है। लगता है, तब भी साही को बहुत कुछ कहना शेष है। जो न कहा जा सकता उसे शमशेर की कविताओं के ज़रिए अनेकविध तरीक़ों से कसौटी पर और भी कसा जा सकता है। शमशेर ही क्यों, 'तार सप्तक' के प्रायः सभी कवियों की रचनाओं का पूर्ण आलोचनात्मक दायित्व से पुनर्मूल्यांकन होना इस वक़्त आवश्यक प्रतीत होता है। इस संदर्भ में यह भी विचार किया जा सकता है कि शमशेर को हमउम्र साथियों के साथ पहले सप्तक में स्थान क्यों न दिया गया, और क्या कारण है कि स्वयं शमशेर ने दूसरे सप्तक में गीतकारकवियों के साथ आना पसंद किया।

—श्याम परमार,
६।१३ पूर्वपटेल नगर,
नयी दिल्ली-१२।

'बाँस का पुल' और लक्ष्मीकांत वर्मा

माध्यम के तीसरे अंक में सर्वेश्वर के काव्य-संग्रह, 'बाँस का पुल', पर श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की 'ताज़ी' समीक्षा तीन-चार बार पढ़ी। समीक्षा के लिए समीक्षा का खासा अच्छा उदाहरण है। समीक्षा से अधिक उसमें तक़ाज़े हैं। ऐसा लगा जैसे साहित्येतर बाध्यताओं ने यह समीक्षा उनसे लिखवायी है। इस समीक्षा से सर्वेश्वर की कविताओं या नयी कविता की न तो विलक्षणता ही प्रकट होती है न लक्षणों का ही अता-पता मिलता है। वर्मा जी क्या चाहते हैं, उनकी यह समीक्षा नहीं बता पायी। क्या नहीं चाहते, यह भी अपरिचित, अपरिभाष्य और स्वनिर्मित शब्दों के जाल में इतनी उलझ गयी है कि जाल ही जाल रह गया है। फिर इस समीक्षा में चिंतन और मनन के स्तर पर समीक्षक के पैर कहीं जमते दिखायी नहीं पड़ते।

आलोच्य संग्रह की कविताओं के बारे में वर्मा जी लिखते हैं: **'विषय-वस्तु की दृष्टि से इस संग्रह में संकलित कविताएँ शायद आज से दस वर्ष पुरानी हैं।'** शब्द 'शायद' आत्मरक्षा के लिए धारण किया हुआ कवच मात्र है। वस्तुतः वर्मा जी जानते हैं कि संग्रह की कविताओं का रचना-काल १९५७ से १९६३ तक है। नयी कविता (प्रतीकवादी और प्रयोगवादी कविताओं समेत) 'बाँस का पुल' प्रकाशित होने तक कुल २०–२१ वर्ष की थी। मानव-जीवन ही नहीं, साहित्य के इतिहास में भी चौथाई सदी कोई ख़ास अहमियत या हैसियत नहीं रखती। सर्वेश्वर की कविता की उम्र १३–१४ वर्ष से अधिक नहीं है। इतने कम अर्से में वर्मा जी कैसी और कितनी तब्दीली का तक़ाज़ा कवि से करते हैं? 'सूर्योदय' शीर्षक कविता का ज़िक्र करते हुए वर्मा जी 'वही छायावादी रूढ़ि', 'वही आग्रह', 'वही पुरानी विद्रोह-मुद्रा', 'वही व्यामोह' और 'वही 'आमंत्रण' कह कर सर्वेश्वर पर 'नयी रूढ़िवादिता' का आरोप-सा लगाते हैं। पहली बात तो यह कि उद्धृत पंक्तियों और विवेचित कविता में मुझे कोई छायावादी रूढ़ि, कोई रूमानी मिज़ाज नज़र नहीं आया। आलोचक या पाठक के अपने रूमानी अध्ययन के पले मिज़ाज और छायावाद के आतंक ने इस, और इस-जैसी अन्य, कविताओं में छायावादी रूढ़ि और वह सब कुछ जो 'वही' के अंतर्गत कहा गया, देख लिया। इस समीक्षा में समीक्षक छाछ को फूक-फूंक कर चखता नज़र आता है। दूध का जला हुआ है शायद। सर्वेश्वर ने तो कहा है, 'निडर आगे बढ़ो' लेकिन समीक्षक जी ऊपरी साम्य ही से डर गये। दूसरी बात यह है कि मन और सभ्यता की गति के अंतर को वर्मा जी किस प्रकार नज़रअंदाज़ कर गये। क्या १०–१५ वर्षों में हिंदी की नयी कविता में कोई रूढ़ि बन गयी? इतने कम अर्से में तो रूपरेखांकन भी नहीं हो पाता। मुझे याद आता है कि किसी रूसी कवि ने कहा था कि वह एक अर्से से व्योमयात्रा पर कविता लिखने की योजना बना रहा था। अभी वह कविता लिखना भी शुरू न कर पाया था कि उसने सुना कि रूस का (पहला) स्पुतनिक व्योम को चीर गया। कवि-मन विज्ञान और तकनालाजी की गति को

कैसे प्राप्त कर सकता है? फिर दस-पंद्रह या बीस-पचीस वर्षों में संवेदना, भावभूमि, युगचेतना, अर्थबोध या संस्कृति के स्तर पर ऐसी कौन सी महाक्रांति हुई है कि सर्वेश्वर नयी कविता से छलाँग मार कर 'ताज़ी कविता' की तरफ़ आ जाते? (प्रगतिशील, प्रतीकवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता के बाद यह 'ताज़ी' कविता कहाँ से दबे पाँव आ गयी? निवेदन यह भी है कि उर्दू-फ़ारसी में कोई चीज़ 'ताज़ी' नहीं होती, अलबत्ता 'ताज़ा' हो सकती है। 'ताज़ी हिंदी' मैं नहीं जानता।) मैं यह भी नहीं जानता कि 'आवेग', 'सहज' और 'गिरिशिखर' पर छायावादियों का कोई कापी राइट है। "हेमंत की संध्या आदिम अधरों पर सुलग कर वसंत की बन जाती है"—इसमें बेचारी 'संध्या' परकीया कैसे बन गयी? वर्मा जी ने 'वसंत की बन जाती है' को शायद यह समझ लिया कि संध्या पहले हेमंत की जोरू थी जो अब वसंत की रखैल बन गयी। और फिर अपनी समझ को सर्वेश्वर पर आरोपित करते हुए यह लिखना कि "उन्हें लगता है कि संध्या एक विवश परकीया है" बड़ा दिलचस्प मज़ाक है। समझें ख़ुद और कहें कि सर्वेश्वर ने समझा है! सर्वेश्वर ने तो इन पंक्तियों में सिर्फ़ इतना कहा है कि आदिम अधरों (उत्कंठा, लोकलाज और सभ्य समाज के भय से मुक्त, स्वाभाविक, सहज, प्रकृति-सुलभ मनुज मात्र के अधरों) पर सुलग कर (अपनी ठिठुरन, संकुचन, सिकुड़न से मुक्त हो कर) हेमंत की संध्या न रह कर वसंत की संध्या बन जाती है। यानी पतझड़ की शाम भी बहार की शाम की तरह सजीव, सरस और रंगीन मालूम होती है। लेकिन वर्मा जी को लगा कि सर्वेश्वर ने बेचारे हेमंत से छीन कर संध्या को वसंत की महारासलीला में भेज दिया। वर्मा जी शायद बिंबों और प्रतीकों को केवल शब्द-समूह या शब्द ही मानते हैं, या समीक्षा की रूढ़ियों से (हथकंडों) से बाध्य हो कर इसी रूप में सीमित रखना चाहते हैं। परकीया वाली बात भी नये कवि-आलोचक को (नयी कविता का मूल्यांकन करते हुए) कैसे सूझी? हुआ यह है कि परंपरागत-रूढ़िवादी माहौल में पला-पढ़ा और संस्कार पाया हुआ ज़हन (आलोचक-रूप में) नयी कविता को (अवचेतनावस्था में) पुरानी आलोचना के पारिभाषिक शब्दों और विधियों से परखने लगा और यह भूल गया कि नयी कविता का कवि पुराने शब्दों और पुरानी भाषा यहाँ तक कि पुराने प्रतीकों और प्रतिमानों को भी नये अर्थ-संदर्भों में प्रयुक्त करता है। वर्मा जी अगर इस समीक्षा को लिखते वक़्त अपनी समीक्षा को कवि-की-समीक्षा बना पाते और उसे संवेदनशील सृजन से पृथक हवा-बंद-कोठरी समझने की भूल न करते तो शायद बात बन जाती।

सर्वेश्वर को 'रागात्मक ऐश्वर्य' के प्रतिनिधि कवि के रूप में वर्मा जी केवल देख पाये हैं, रागात्मक ऐश्वर्य का प्रस्फुटन सर्वेश्वर में कहाँ हुआ है इसे प्रस्थापित करने की उन्होंने ज़रूरत महसूस नहीं की। शायद यह सोच कर कि अज्ञेय द्वारा सहज वार्तालाप के प्रसंग में प्रयुक्त यह अभिव्यक्ति किसी परिभाषा, व्याख्या और उदाहरण की मोहताज नहीं है। रागात्मक ऐश्वर्य के उदाहरण सर्वेश्वर की जिन कविताओं से दिये हैं उनमें लीक को और घिसे-पिटे राजामार्गों को छोड़ कर लचकदार छोटे-से बाँस के पुल पर (जो आत्मचिंतन, स्वतंत्र मनन और अनियंत्रित भावबोध का प्रतीक है) निडर आगे बढ़ने का आह्वान है, अपने साधनों और लक्ष्यों की व्यंग्यात्मक असंगति और बाहर और भीतर की विवशताओं की अभिव्यक्ति है। सर्वेश्वर की कविताओं में 'रागात्मक ऐश्वर्य' कहाँ है? उनमें तो आज के मानव की 'ट्रैजिक फ़ीलिंग' है, दुख-भोग को

विलास मानने और उससे मजा लेने की कोई प्रवृत्ति यहाँ नहीं है। वे न 'साडिस्ट' हैं, न 'मोसो-शिस्ट'। उनकी प्रतिक्रिया एक 'नॉर्मल' संवेदनशील, स्वस्थ, सुहृद और सजग मानव की प्रतिक्रिया है जो काव्याभिव्यक्ति बन गयी है। वास्तविकता को सही रूप में केवल व्यक्त करने का आरोप भी सही नहीं है। सर्वेश्वर ने स्थितियों का चित्रण मात्र नहीं किया, उसमें अपने मन की प्रतिक्रिया को भी व्यक्त किया है। परिवेश से संपृक्त सार्थक अनुभूति और अभिव्यक्ति की कमी भी उनमें नहीं है। यह और बात है कि ऐसी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में वे बयान के बजाय प्रतीकों, बिंबों और अप्रस्तुतों का प्रयोग करते हैं। यही अधिक सशक्त, सरस और कलात्मक ढंग है। परिवेश से संपृक्त अनुभूति और वास्तविकता के अतिरिक्त सार्थकता के बोध के लिए कवि, कविता और कविता की भाषा, शब्द-योजना, शिल्प रूप और शैली के अलावा संवेदनशील और दीक्षित पाठक का दायित्व भी बहुत बड़ा है। वर्मा जी रसनिष्पत्ति के प्राचीन सिद्धांतों को परंपरा और रूढ़ि कह कर न टाल सकेंगे। अगर सूर्योदय को सूर्योदय, गिरिशिखरों को गिरिशिखर, हवाओं को हवाएँ समझना ही पाठक के सामर्थ्य की चरम सीमा है तो परिवेश-संपृक्ति और शब्देतर-सार्थकता की बात अनुचित ही नहीं, फ़िज़ूल भी है।

एक बात यहाँ साफ़ होनी चाहिए कि आज सारे विश्व में कवि का भविष्यवेत्ता, संदेश-वाहक, सुधारक, पुराणकार या विधायक का रूप खत्म हो चुका है। महान और विराट के दर्शन-प्रदर्शन की बात आज कविता की परिधि से बाहर है। कवि का धर्म है स्थितियों, वास्तविकताओं, अनुभूतियों और अनुभवों के प्रति अपने मस्तिष्क और मन की समसामयिक प्रतिक्रियाओं को संवेदन, ईमानदारी और कवि-न्याय के साथ अभिव्यक्त करना।

वर्मा जी ने सर्वेश्वर पर एक ही आरोप दो जगह लगाया है। पृ० ८५ पर **"सर्वेश्वर के साथ कठिनाई यह है कि वे भोग के क्षणों में तटस्थ** नहीं रह पाते", और पृ० ८६ पर **"एक अच्छी बात और एक अच्छी कविता, एक अच्छी सूझ और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के बीच कई ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिन्हें यदि तटस्थ हो कर नहीं भोगा जाता तो अच्छी से अच्छी संभावना को वह किसी सीमा तक कुंठित कर देती है।"** वर्मा जी ने यह नहीं बताया कि सर्वेश्वर भोग के क्षणों में अतटस्थ हो कर भटक जाते हैं या तटस्थ हो कर स्थितियों को भोगने की कला नहीं जानते। वैसे तटस्थ हो कर स्थितियों को भोगने की बात काफ़ी दिलचस्प है। भोक्ता तटस्थ हो और स्थितियाँ प्रवाहित तो भोगने का तरीक़ा क्या होगा? तटस्थ हो कर नज़ारा किया जा सकता है, बाहर से, दूर से, देखा जा सकता है, लेकिन भोगना तो सक्रिय सहयोग और 'पार्टिसिपेशन' होता है। तटस्थ व्यक्ति प्रवाह और प्रवाहितों को कैसे भोग सकता है? तटस्थ व्यक्ति न तो 'पार्टिसिपेंट' होता है न 'पार्टिसन'।

संक्रमण काल में **'थिरायी हुई अनुभूति की व्यवस्था के मर्म'** की बात तर्क-असंगत और क़ब्ल-अज़-वक़्त है। शायद विधाओं, रूपों और तकनीक के क्षेत्रों में व्यवस्था और अनुशासन का तक़ाज़ा किसी हद तक ठीक हो लेकिन भावों, विचारों और विषयवस्तु के क्षेत्रों में ऐसी बात अभी अप्रासंगिक है। अनुभूति का थिराया हुआ रूप इस पलछिन बदलते हुए और परस्पर-विरोधी वास्तविकताओं के युग में किसे प्राप्त होता है? दस-पंद्रह वर्षों में हम वायुयानों से व्योमयानों

के युग में आ गये और खच्चर, ऊँट और बैल आज भी भारवाहन और यातायात के महत्वपूर्ण साधन हैं। ऐसी विचित्र और विलक्षण परिस्थिति में थिरायी हुई अनुभूति की बात आदर्शवादी आलोचक के लिए आसान हो तो हो, स्रष्टा कवि के लिए प्रायः असंभव-सी है। एक तरफ़ मानवता अणुयुग की दानवीय शक्ति पर क़ब्ज़ा कर चुकी है तो दूसरी तरफ़ रबर-प्लास्टिक युग की अस्थिरता उसकी क़िस्मत है। संतुलन और तटस्थता के धरातलों पर आज रची हुई कविताओं के दो-चार उदाहरण वर्मा जी दे देते तो हम ऐसे लोगों का भला हो जाता।

केवल शीर्षकों के आधार पर सर्वेश्वर को पंत जी के विषयों पर लिखने वाला अनुचर कहना भी दीदादिलेरी की अनूठी मिसाल है—'स्मृति', 'पूर्णिमा-प्यार', 'वसंतस्मृति', 'बाढ़', 'सूरज', 'हेमंत की संध्या', 'साँझ—एक चित्र', 'वसंत की शाम' आदि कविताएँ केवल प्रकृति-वर्णन या दृश्य-चित्रण नहीं हैं। इनमें जिन प्रतिक्रियाओं और अनुभूतियों को व्यक्त किया गया है और जो अर्थबोध कराये गये हैं वे रूमानी और छायावादी नहीं हैं। दरअसल उनमें वही सब है जिसे वर्मा जी ने सर्वेश्वर की विवशता के कारण ग़ैरहाज़िर क़रार दिया है। अनुभूति का नयापन और ताज़गी ही इन कविताओं को नयी कविताएँ बनाती हैं। इन शीर्षकों को कविता का विषय मानना भी सरसरी नज़र और दृष्टि-दोष का परिणाम है। फिर ये सब विषय नहीं हैं बल्कि विशिष्ट अनुभूतियों और मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। पुराने शब्दों और प्रतीकों को नये अर्थसंदर्भों और आधुनिकतम वास्तविक अनुभूतियों से नयी सार्थकता प्रदान करना भी नयी कविता का दायित्व है। दायित्व ही नहीं, एक प्रमुख लक्षण भी है। देखना यह है कि वसंत, हेमंत, सूरज, चाँद, सुबह, शाम आदि कालिदास के यहाँ किस रंग में हैं, रीतिकालीन कवियों के यहाँ उनका रूप क्या है, छायावादियों के यहाँ उनकी क्या दशा है और सर्वेश्वर ने उन्हें किस दृष्टि-कोण से और किस भावभूमि पर देखा और भोगा है। 'यहीं कहीं कच्ची सड़क थी' शीर्षक कविता पर वर्मा जी की आलोचना हठधर्मी से आगे नहीं बढ़ सकी है। तथाकथित नये ने पुराने की जिन ख़ूबियों और विशेषताओं को कच्चा निगल लिया है उस पर इतनी गहरी अनुभूति और प्रतिक्रिया को इतने सहज माध्यम से अभिव्यक्त करने की दाद न देना ज़्यादती है। केवल एक बात इस कविता में खटकती है। 'पुराने' के मातम से अतिरंजित हो कर 'नये' का तिरस्कार। कविता का अंत भावुकता के स्वर पर हुआ है और बौद्धिकता और विवेक के तार टूट गये हैं। वर्मा जी ने सर्वेश्वर की मशहूर, सफल और नव-रस से भरपूर कविता 'अपनी बिटिया के लिए' का ज़िक्र भी इस समीक्षा में नहीं किया। इसी तरह 'इन समझदार लोगों के बीच' शीर्षक कविता भी छोड़ दी गयी।

बिंब, प्रतीक और अप्रस्तुतों से आगे बढ़ने और इनके जंगलों से बाहर निकलने की दावत वर्मा जी ने बार-बार दी है। शायद वे इन्हें भी रूढ़ि-ग्रस्त मानते हैं। 'बिंबरहित विचार' प्रकट करने का सामर्थ्य क्या भाषा में पैदा हो गया है? क्या बिंबों और प्रतीकों के प्रयोग के बिना हमारी नयी कविता (जो उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि से पहले ही विमुख हो चुकी है) किसी अनुभव, विचार या अनुभूति को 'ग्रेविटी' और 'प्रिसीज़न' के साथ अभिव्यक्त करने की स्थिति में है? क्या ऐसी अभिव्यक्ति न्यायालय के फ़ैसलों, नेताओं, प्रशासकों और पत्रकारों के बयानों और सातवीं-आठवीं

जमाअत के विद्यार्थियों द्वारा लिखे गये निबंधों की भाषा और शैली से भिन्न रह कर काव्याभिव्यक्ति बनी रह सकती है? यह ठीक है कि केवल बिंब-विधान, प्रतीक और अप्रस्तुत किसी पद्य को कविता या नयी कविता नहीं बनाते, लेकिन इनसे विमुक्त हो कर नयी व्यवस्था देने की आवश्यकता क्यों महसूस की जा रही है ? इन्हें छोड़ कर नयी व्यवस्था क्या होगी ? क्या हो सकती है ? बिंबों और प्रतीकों से इतनी जल्दी ऊब जाने का कोई कारण तो होगा ? या ऐसा तक़ाज़ा महज़ इसलिए किया जा रहा है कि 'ताज़ी कविता' का स्टंट चलाने के लिए ऐसा करना (मसलेहत के लिहाज़ से) बेहद ज़रूरी है ? मैं बिंब-प्रतीक-रहित कविता की संभावना से इनकार नहीं करता, लेकिन ऐसी कविता लिखने का तक़ाज़ा सर्वेश्वर की कविताएँ पढ़ने के बाद ही क्यों किया जा रहा है, यह समझना ज़रा मुश्किल जान पड़ता है और समीक्षा के संदर्भ में बेबात की बात भी।

यह सच है कि सर्वेश्वर ने कुछेक अनुभूतियों और भावों को इस संग्रह की कई कविताओं में बार-बार दोहराया है। अकेलापन, अजनबियत, भीड़ में खो जाने की प्रतीति, स्वाभाविक और प्राकृतिक से दूर जा पड़ने और कृत्रिमता में घुटते रहने की स्थिति आदि ऐसे 'विषय' हैं जिन पर वे बार-बार लौटते हैं। लेकिन इस पुनरावृत्ति के बावजूद प्रस्तुतीकरण, अलंकरण, भाषा, बिंब-योजना और कहने के ढंग की ताज़गी इन 'विषयों' को उबाने वाला नहीं बनाती। सर्वेश्वर के यहाँ ये सब स्थायी भाव बन गये हैं जिन्हें रूप-रंग और परिधान बदल-बदल कर वे बार-बार पेश करते हैं। या तो वे अपनी पिछली अभिव्यक्तियों से असंतुष्ट हैं या इन्हें युग-सत्यों के रूप में उन्होंने आत्मसात कर लिया है।

रह गयी नयी कविता के लक्षणों की बात। नयी कविता को यदि एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तब तो शायद उसके संपूर्ण लक्षणों को निर्धारित करने की बात सोची जा सकती है, लेकिन जहाँ तक मेरा खयाल है, न तो नयी कविता कोई विधा है न अभी वह निर्माण-कालीन अवस्था से निकल सकी है। ख़ैर, मैं 'बाँस का पुल' या सर्वेश्वर पर लिखने का उद्देश्य ले कर नहीं चला था। मैं तो लक्ष्मीकांत वर्मा जी की समीक्षा पर ऊँची आवाज़ में सोच-विचार करना चाहता था। इस समीक्षा में 'बाँस का पुल' वर्मा जी की निजी मान्यताओं, कल्पनाओं और मत-विचारों के कुहरे में बुरी तरह छिप गया है और समीक्षा 'क्या है' के बजाय 'क्या होना चाहिए' की तरफ़ भटक गयी और इस तरफ़ भी प्रकाश काले कंबल पर पड़े हुए कुछ सफ़ेद धब्बों की तरह कहीं-कहीं बिखरा नज़र आता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं किसी समकालीन कवि की कृतियों पर एक संवेदनशील कवि की समीक्षा को न केवल पसंद करता हूँ, बल्कि पेशावर आलोचकों की समीक्षा पर तरजीह देता हूँ। लेकिन लक्ष्मीकांत वर्मा जी की समीक्षा क्योंकि बहुत से पूर्वग्रहों, ग्रंथियों और सरसरेपन से पीड़ित है और ख्वामख्वाह पटरियाँ बदलती जाती हैं, बड़े स्टेशनों पर रुके बिना आगे बढ़ जाती हैं और छोटे-छोटे स्टेशनों बल्कि जंगल में रुक जाती हैं, इसलिए जँची नहीं। कवि-समीक्षक को अपने आलोच्य के साथ न्याय करना चाहिए और उसकी समीक्षा से पाठकों में कविता की रस-ग्राह्यता और आस्वादनक्षमता का विकास होना चाहिए। प्रत्यालोच्य समीक्षा ऐसा कुछ नहीं करती। जिन लोगों ने 'बाँस का पुल' नहीं देखा, उनमें इस समीक्षा के पढ़ने से पुस्तक के प्रति उत्सुकता,

जिज्ञासा और आकर्षण या इसके विपरीत कोई भाव या प्रतिक्रिया पैदा नहीं होगी और जो पुस्तक पढ़ चुके हैं, उन्हें यह समीक्षा उनके भावबोध, अर्थबोध, सौंदर्यबोध आदि में कोई इज़ाफा नहीं करती। कम से कम मैं, हिंदी की सहवर्ती और समवर्ती भाषा उर्दू की नयी कविता के एक कवि और हिंदी की नयी कविता के एक सुहृद रसिक के नाते, ऐसा ही महसूस करता हूँ। इस समीक्षा को पढ़ने के बाद जो बिंब मेरे मन में उभरता है वह यह है कि कोई बाँस के पुल की सैर करने निकला, संतुलन बिगड़ने के कारण नीचे नदी में गिर पड़ा और अब आवारा लहरें उससे खेल रही हैं और बाँस का पुल लहरों की इस 'ताज़ी' खिलवाड़ को तटस्थ हो कर 'भोग' रहा है।

अमीक़ हनफ़ी,
१४० गांधी पार्क कालोनी, इंदौर।

●●

अपील

स्व० मुक्तिबोध जी के संबंध में पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न प्रकार की सामग्री प्रकाशित हो रही है। इधर उनकी संपूर्ण कृतियों के सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाशन की योजना को अंतिम रूप दिया जा चुका है। उनकी दो पुस्तकें पिछले दो महीनों में प्रकाशित हो चुकी हैं। पिछले बीस वर्षों से वे अनवरत साहित्य-साधना में संलग्न रहे थे। उनकी रचनाओं के साथ ही अपने समकालीन साहित्यकारों को लिखे उनके पत्रों का भी कई दृष्टियों से महत्व है। कई साहित्यकारों ने यह सुझाव दिया है कि इन पत्रों को एक स्थान पर एकत्रित कर के सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाशित करने की योजना बनायी जाए। अतएव मैं स्व० मुक्तिबोध जी के मित्रों से निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि उनके पास ऐसे कोई पत्र हों, जिनका साहित्य की दृष्टि से महत्व हो तो वे मेरे पते पर भेजने का कष्ट करें। यदि वे चाहेंगे तो मैं उन पत्रों की प्रतिलिपि तैयार कर मूल पत्र उन्हें वापस कर दूंगा। यह सहज व्यवस्थित प्रकाशन की सुविधा की दृष्टि से किया जा रहा है। आशा है कि इसमें भी मुझे स्व० मुक्तिबोध जी के मित्रों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

रमेश मुक्तिबोध

दिनांक १० नवंबर १९६४

१ सी, क्रास स्ट्रीट ४, सेक्टर ५,
भिलाईनगर।
(दक्षिण-पूर्व रेलवे)

पाठकों के पत्र

——'माध्यम' के सितंबर अंक में श्री हरिकृष्ण देवसरे का लेख 'बाल-साहित्य के नये प्रतिमान' देखा। 'बच्चों के साहित्य के लेखन व प्रकाशन की सामन्यतः जो दुर्दशा भारत में देखने में आती है उसका मूल कारण, मेरी दृष्टि से, इस ओर गंभीरता से ध्यान न दिया जाना ही है। हमारे पुराने प्रतिमान कितने ढीले और बेजान हो गये हैं यह अनुभव किये बिना ही हमारे लेखक अंधाधुंध लिखे जा रहे हैं और प्रकाशक सस्ते से सस्ते रेट दे कर उन्हें छाप रहे हैं। सरकार उसी अंधाधुंधी से उन्हें खरीद कर विकास-खंडों आदि के पुस्तकालयों में भर देती है और यह अच्छे-खासे प्रकाशन-व्यापार का सुलभ साधन हो गया है। किसी को इस बात की चिंता नहीं कि नये भारत के लिए प्रौढ़ साहित्य के प्रतिमान बदलने के साथ-साथ बाल-साहित्य के प्रतिमान बदलना भी उतना ही आवश्यक है।

श्री देवसरे ने चर्चित लेख में इन बदलते हुए प्रतिमानों की ओर सूझबूझ के साथ ध्यान आकर्षित किया है। केवल अंतिम तीन पैरों से मेरा मतभेद है। प्रत्येक साहित्य पर देश-काल का पूर्वगृहीत प्रभाव सदा से रहा है। राजनीतिक प्रभाव जितना त्याज्य समझा जाता है, उतना धार्मिक भी समझा जाना चाहिए, या अन्य कोई वैचारिक प्रभाव भी—जैसे देशभक्ति आदि—क्योंकि देश की सीमाएँ भी विश्व-रूपों में टूट रही हैं और आज के प्रबुद्ध पाठकों के लिए देशभक्ति का विशुद्ध अर्थ नहीं रह गया है, वह उनके लिए विश्व-मानवता की दृष्टि से सापेक्ष है।

वास्तव में इन पूर्वगृहीत प्रभावों से मुक्त बाल-साहित्य की कल्पना न कर के यदि उन बदलते हुए प्रतिमानों पर ही दृष्टि रखी जाय, जिनकी श्री देवसरे ने अपने लेख में चर्चा की है, तो अच्छे और अधिक उपयोगी बाल-साहित्य की रचना को एक ठोस दिशा-दृष्टि मिल सकती है। निःसंदेह इन प्रतिमानों का उपयोग राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक निहित स्वार्थों के द्वारा भी होगा, लेकिन यह एक व्यापक समस्या है——प्रतिमानों को बदलने से इसका कोई संबंध नहीं। **——आनंदप्रकाश जैन,**
संपादक, पराग, बंबई।

——'माध्यम' बहुत सुंदर निकल रहा है। ठोस सामग्री है, रोचकता और गूढ़ता का समन्वय है, वैविध्य भी। 'माध्यम' जैसी पत्रिकाएँ ही हिंदी को प्रांतीय भाषा के स्तर से राष्ट्रीय भाषा के धरातल पर लाने में समर्थ हैं।
——ए० रमेश चौधरी 'आरिगपूडि', मद्रास।

——'माध्यम' का छठा अंक मिला। मुक्ति-बोध पर आपकी संपादकीय श्रद्धांजलि पढ़ कर मुझे 'माध्यम' के प्रति विशेष प्रेम और आदर लगा। वैसे पत्रिका उत्तरोत्तर हिंदी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका बनती जा रही है, इसमें संदेह नहीं। **——प्रभाकर माचवे, नयी दिल्ली।**

——'माध्यम' का अक्तूबर अंक मिला।

सचमुच पिछले दो-तीन अंकों से यह पूरे निखार पर है। इस बार का मुख्यावरण बड़ा प्यारा है, पारदर्शी भी। केदारनाथ अग्रवाल, दुष्यंतकुमार, लक्ष्मीकांत वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' आदि की सुप्रिय रचनाएँ प्रकाशित की गयी हैं। शलभ का दूसरा गीत क्या नवगीत की परिधि में आ सकता है? भाई हेरम्ब मिश्र ने जम कर लेख लिखा है। और आपने गजानन माधव मुक्तिबोध पर जो ज़बर्दस्त टिप्पणी दी है—शायद अब तक दी गयी अनेक टिप्पणियों में सर्वसशक्त और सर्वग्राह्य है। पुस्तकों की समीक्षा का स्तर भी बड़ा संतुलित लग रहा है।

—देवप्रकाश गुप्त, नयी दिल्ली।

—हमें यह लिखते हुए बहुत हर्ष हो रहा है कि आपकी मासिक पत्रिका 'माध्यम' की बिक्री असाधारण रूप से बढ़ रही है। पिछले महीने में दस प्रतियाँ क़रीब एक सप्ताह में ही बिक गयी थीं और इस माह में सिर्फ़ तीन ही दिनों में बिक गयी हैं। इसलिए हम आपसे अनुरोध कर रहे हैं कि कृपया नवंबर माह से हमें ३० प्रतियाँ भेज दिया करें।

—एम० एल० आहूजा,
लेटेस्ट बुक्स डीलर, रायपुर।

—चौथा अंक सामने है। शानी की कहानी का नितांत घरेलू वातावरण विश्वसनीय है। नरेश जी की कथा का एक वाक्य—'दिवाकर क्या हम कभी सच नहीं बोल सकते? क्या कनफ़ेशन के समय भी...?'—उसकी मार्मिकता का परिचायक है। 'युद्ध और कविता' निबंध अपने लक्ष्य में भटक गया है।...नेमिचंद्र जी ने पुस्तक-समीक्षा का दायित्व निबाहा है। **—प्रेमशंकर, सागर।**

—अगर आप अतिशयोक्ति न समझें तो कहूँ कि 'माध्यम' ने अपने पाँच ही अंकों में हिंदी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'माध्यम' बहुत स्वस्थ है—साथ ही मनोहारी भी। सितंबर अंक के सभी लेख उच्च स्तरीय हैं। फ़ायड के मनोदर्शन का जो दिग्दर्शन कराया है श्री रणजीत ने, बहुत ही साहित्यिक और स्वस्थ है। कमल जोशी की कहानी बड़ी सशक्त है।

—विनोद कुमार, हीनू, राँची।

—'प्रतिपत्तिका' के अंतर्गत प्रकाशित 'हिंदीतर भाषाभाषी हिंदी विद्यार्थी की कठिनाइयाँ' में विजय राघव रेड्डी ने कई बातें बड़े पते की कही हैं। कई सुझाव बहुत अच्छे हैं। 'उच्चारण की समस्या' शीर्षक के अंतर्गत एक वाक्य—'सटेशन से . . .कीजिए'—के हिंदीभाषियों के उच्चारण के संबंध में उनका कथन भ्रामक है। श्री रेड्डी ने शायद पंजाबी भाषाभाषियों से उक्त उच्चारण सुना हो सकता है। हिंदी प्रांतों में अशुद्ध उच्चारण पाया जाना कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है; हिंदीभाषियों में पाया जाय, यह महत्वपूर्ण है। और ऐसा नहीं होता। 'वर्तनी संबंधी अराजकता' में भी वे कुछ स्थानों पर ग़लत हैं। जैसे, 'जोऊँगा', 'जाऊँगा', जहाँ तक मेरा अल्प ज्ञान है, कोई हिंदीभाषी नहीं बोलता। हाँ, बच्चे अवश्य अपनी तोतली भाषा में यह उच्चारण करते हैं। खैर। कुल मिला कर श्री रेड्डी ने अपने लेख में महत्वपूर्ण प्रश्न ही उपस्थित किये हैं। हिंदी विद्वानों को इन प्रश्नों और समस्याओं पर गंभीरता से सोचना चाहिए।

—यशवंत, बरेली।

—'माध्यम' के संपादन की कला में अभिनव प्रयोगशीलता का उन्मेष मिलता है और स्तर में उदात्तीकरण। अक्तूबर अंक के हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख 'देवदारु' तथा लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा प्रस्तुत 'आधुनिक कहानी के संदर्भ में : श्लीलता-अश्लीलता : एक विवेचन' अधिक आकर्षक रहे। 'अज्ञेय' की कृति 'अपने अपने अजनबी' पर भी ब्योरेवार पढ़ने में मज़ा आया।

—नन्दकुमार राय,
बागर, शाहाबाद।

—विविध और विचारोत्तेजनात्मक लेखन को प्रस्तुत करने के प्रयास से मुझे यही लगता है कि 'माध्यम' एक स्वस्थ और निर्दलीय आंदोलन का नेतृत्व कर रहा है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह का पत्रात्मक लेख और नरेश मेहता की कहानी 'एक इतिश्री' 'माध्यम' में प्रकाशित उन सुंदर रचनाओं में से है जो मुझे अत्यंत प्रिय लगीं।

—भिक्खु,
आकाशवाणी गोआ,
पंजिम, गोआ।

—'माध्यम' का विवेचना-पक्ष सबसे सबल होता है। यदि कविताओं-कहानियों की ओर थोड़ा ध्यान आप और दे सकें तो अच्छा रहेगा। 'माध्यम' ने कितनी बड़ी कमी पूरी की है, इसका ठीक अनुमान इतिहास ही लगा सकता है।

—दुष्यंत कुमार, भोपाल।

—हिंदी की एक शायद सबसे पुरानी संस्था ने—जिसने हिंदी-जगत का काफ़ी कुशल नेतृत्व किया है और जो बाद में ज़रूरत के समय अंग्रेज़ी के प्रश्न पर ठंडी पड़ गयी थी—एक अच्छा क़दम उठाया है। सर्जनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग 'माध्यम' में देख कर बुरा लगता है। मैं समझता हूँ, इसमें लेखन की लापरवाही के साथ ही साथ संपादन की लापरवाही भी परिलक्षित होती है। फिर, आप तो यह मानते हैं कि "**सर्जनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग देख कर यह शंका होने लगती है कि अंग्रेज़ी के प्रति लेखक का यह अतिशय राग किसी प्रकार की हीनग्रंथि का ही प्रमाण है**" (—कल्पना, १५२)। मुझे आशा है, इस ओर आप ध्यान देंगे और भविष्य में 'माध्यम' में 'अनमोल बोल' दुर्लभ होंगे।

'हिंदी जगत' के अंतर्गत 'ये अनुवाद, ये शीर्षक' बहुत उपयोगी है। इसको जारी रखना आवश्यक प्रतीत होता है। भाषा की दृष्टि से हिंदी के दैनिक पत्र बड़ी दुरवस्था में हैं। अफ़सोस की बात तो यह है कि इस दुरवस्था को सुधारने का प्रयास भी नहीं हो रहा है। हिंदी की एक बहुत ही भोंडी शैली पनप रही है। हिंदी दैनिकों के संपादक या प्रकाशक कह सकते हैं कि हिंदी में दूरमुद्रक यंत्र नहीं होने के कारण यह दुरवस्था है। हिंदुस्तान की 'राष्ट्रभाषा' में, आज़ादी के १७ बरस बाद तक, दूरमुद्रक न होना शर्म की बात तो है ही, परंतु इसी को एकमात्र कारण मान लेना बहानेबाज़ी के बराबर है। असल में, बात कुछ और है और वह यह कि हिंदी दैनिक के संपादक-प्रकाशक लापरवाह हैं।

'सहवर्ती साहित्य' आवश्यक और उपयोगी है और उसके पीछे जो दृष्टि है वह श्लाघनीय है। किंतु, जो सामग्री दी जाती है उसमें काफ़ी सुधार की गुंजाइश है।

—बदरीविशाल,
'कल्पना', हैदराबाद।

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक कोश

मानक हिन्दी कोश

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अनुपम प्रकाशन

५ खण्डों में

प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

प्रथम खण्ड – २१९४८
द्वितीय खण्ड – २११२७
तृतीय खण्ड – २३६५३

पृष्ठ संख्या

प्रथम खण्ड – ६१८
द्वितीय खण्ड – ५९९
तृतीय खण्ड – ६७०

●

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग